उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

B.Ed. SE- 01
मानव वृद्धि एवं विकास

खण्ड

1

मानव विकास के उपागम

इकाई - 1 — 5
वृद्धि व विकास की अवधारणाएँ व सिद्धान्त

इकाई - 2 — 21
मानव विकास की अवस्थाएँ

इकाई - 3 — 40
विकास के आयाम

संरक्षक एवं मार्गदर्शक

प्रो0 एम0 पी0 दुबे	कुलपति, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

विशेषज्ञ समिति

प्रो0 एस0पी0 गुप्ता	पूर्व निदेशक, शिक्षा विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
प्रो0 के0एस0मिश्रा	आचार्य, शिक्षा शास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
प्रो0 अखिलेश चौबे	पूर्व आचार्य, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ
प्रो0 विद्या अग्रवाल	आचार्य, शिक्षा शास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
प्रो0 प्रतिभा उपाध्याय	आचार्य, शिक्षा शास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

लेखक

डा0 उमा टण्डन	एसोसियएट प्रोफेसर, डी0बी0एस0 कालेज, कानपुर (इकाई-1 से 9)
डा0 अर्पिता सिंह	असि. प्रोफेसर, एच.एन.मिश्रा कालेज आफ एजूकेशन, कानपुर (इकाई- 10,11,12)
डा0 सुधांशु सिन्हा	असि. प्रोफेसर, टी.डी. कालेज, जौनपुर (इकाई- 13,14,15)

सम्पादक

प्रो0 सुजाता रघुवंश	आचार्य, शिक्षा शास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद

परिमापक

प्रो0प्रदीप कुमार पाण्डेय	प्रभारी निदेशक, शिक्षा विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

समन्वयक

डॉ0 रंजना श्रीवास्तव	प्रवक्ता, शिक्षा विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

प्रकाशक

डॉ0 जी0 एस0 शुक्ल	कुलसचिव, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

ISBN-UP-978-93-83328-03-1

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठ्यसामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

नोट : पाठ्य सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आकड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय उत्तरदायी नहीं है।

प्रकाशकः उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज कुलसचिव, कर्नल विनय कुमार, द्वारा पुनः मुद्रित एवं प्रकाशित, 2024

मुद्रकः सिग्नस ईन्फार्मेशन सल्यूशन प्रा0लि0, लोढ़ा सुप्रीमस साकी विहार रोड, अन्धेरी ईस्ट, मुम्बई

B.Ed.SE-01 : मानव वृद्धि एवं विकास

खण्ड–एक मानव विकास के उपागम

इकाई–1 वृद्धि व विकास की अवधारणाएँ व सिद्धान्त
इकाई–2 मानव विकास की अवस्थाएँ
इकाई–3 विकास के आयाम

खण्ड–दो विकास के सैद्धान्तिक उपागम

इकाई–4 संज्ञानात्मक व सामाजिक–संज्ञानात्मक सिद्धान्त
इकाई–5 मनोसामाजिक सिद्धान्त (एरिक्सन) तथा मनोविश्लेषण सिद्धान्त (फ्रॉयड)
इकाई–6 विकास के जैव–पारिस्थितिक (ब्रीफॉनब्रेनर)तथा समग्र सिद्धान्त (स्टाइनर)

खण्ड–तीन प्रारम्भिक वर्ष (जन्म से 8 वर्ष तक)

इकाई–7 जन्मपूर्व गर्भकालीन तथा नवजात शिशु विकास
इकाई–8 विकास में मील के पत्थर
इकाई–9 पूर्व बाल्यावस्था को प्रभावित करने वाले वातावरण के कारक

खण्ड–चार मध्य बाल्यावस्था से किशोरावस्था (9 वर्ष से 18 वर्ष)

इकाई–10 शारीरिक, सामाजिक, संवेगात्मक, संज्ञानात्मक,सृजनात्मक व नैतिक पक्षों से सम्बन्धित उदीयमान योग्यतायें
इकाई–11 तरुण अवस्था, लिंग एवं विकास से सम्बन्धित समस्यायें
इकाई–12 विकसित होते हुए बालक पर वातावरण (सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक) का प्रभाव

खण्ड–पॉच प्रौढ़ावस्था का संक्रमणकाल

इकाई–13 मनोवैज्ञानिक कुशलता, आत्म–पहचान का निर्माण एवं स्वप्रत्यय
इकाई–14 प्रौढ़ावस्था का संक्रमणकाल–भूमिका एवं उत्तरदायित्व
इकाई–15 जीवन कौशल और वृत्ति चयन

खण्ड–1 मानव विकास के उपागम

खण्ड परिचय

प्रस्तुत खण्ड मानव विकास के उपागम तीन इकाइयों से मिल कर बना है।

प्रथम इकाई वृद्धि व विकास की अवधारणायें व सिद्धान्त, वृद्धि का विकास से सम्बद्ध है। इसमें वृद्धि व विकास में अन्तर बताया गया है। विकास बहुमुखी प्रक्रिया है। और वृद्धि उसका एक अंग है। विकास शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, चारित्रिक आदि होता है जबकि वृद्धि शारीरिक होती है। वंशानुक्रम व वातावरण वृद्धि व विकास को प्रभावित करते हैं। वंशानुक्रम के अंर्तगत बुद्धि, लिंग, ग्रन्थियाँ व स्राव व जाति महत्वपूर्ण है। वातावरण का सम्बन्ध पोषण, शुद्ध वायु व प्रकाश, रोग व चोट, संस्कृति तथा जन्मक्रम आदि से होता है।

इस इकाई में मानव–विकास के प्रमुख सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है। इनमें प्रमुख है – सतत् विकास, समान प्रतिमान, विकासात्मक क्रम की निश्चित दिशा सामान्य से विशिष्ट प्रतिक्रिया, एकीकरण, परस्पर सम्बन्ध, चक्राकार प्रगति, वैयक्तिक भिन्नता आदि।

द्वितीय इकाई विकास की अवस्थायें में विभिन्न आयु स्तरों पर विकास की प्रक्रिया की विभिन्न गतियों पर प्रकाश डाला गया है। इन्हें विकास की अवस्थायें कहा जाता है। इसे 5 भागों में बांटा गया है – गर्भावस्था, शैशवावस्था, बाल्यावस्था, किशोरावस्था, युवावस्था। गर्भावस्था जन्म से पूर्व की अवस्था है। यह तीव्र गति से होने वाले परिवर्तनों की अवस्था है। जिसमें एक कोशिका पुंज से एक व्यक्ति का निर्माण होता है। शैशवावस्था जन्म से 6 वर्ष तक होती है। जन्म से 3 वर्ष तक विकास तीव्र गति से होता है। इस समय भाषा का विकास तीव्र गति से होता है। बाल्यावस्था 6 से 12 वर्ष तक की आयु होती है। यह धीमी व एक समान शारीरिक वृद्धि की अवस्था होती है। किशोरावस्था 12 से 18 वर्ष तक होती है। इस समय शारीरिक, मानसिक, भाषाई, संवेगात्मक प्राप्त करती है। इस समय ऊर्जा का उचित मार्गान्तीकरण आवश्यक होता है। युवावस्था का प्रसार 18 से 25 वर्ष तक होता है। इस समय तक युवा आकार व क्षमता की दृष्टि से पूर्ण विकसित हो जाता है। इस समय जीवन प्रतिमानों, मूल्यों, यौन भूमिका, सामाजिक स्थिति तथा वरीयता में परिवर्तन होता है।

तृतीय इकाई विकास के आयाम, मानव– विकास के विभिन्न पक्षों में व्यक्ति के विकास का वर्णन करती है। मानव–विकास को कुछ पक्षों में बांटा जा सकता है – 1. शारीरिक व गतिपरक योग्यताओं का विकास 2. मानसिक विकास – संवेदना व प्रत्यक्षाबोध संज्ञान, सर्जनशीलता, भाषा व बुद्धि 3. सामाजिक विकास 4. संवेगात्मक विकास तथा 5. नैतिक विकास। शारीरिक विकास विभिन्न चक्रों के माध्यम से होता है। शारीरिक विकास के प्रमुख निध ाारक हैं – शारीरिक दशा, शारीरिक दोष, कुपोषण, दुर्घटनायें, वैयक्तिक भिन्नतायें, हार्मोन का प्रभाव, मानसिक योग्यता का प्रभाव आदि। मानसिक विकास सतत् प्रक्रिया है। इस पर वंशानुक्रम व वातावरण दोनों का प्रभाव पड़ता है। सामाजिक विकास की प्रक्रिया आजन्म चलती रहती है। व्यक्तित्व विकास में इसकी महत्वपूर्ण भूमिका होता है। संवेगात्मक विकास आधुनिक युग में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। नैतिक विकास समाज के विकास के लिये अत्यन्त आवश्यक है। दण्ड, प्रंशसा, मूल्यों की स्वीकार्यता व अनुशासन नैतिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

इकाई 1 वृद्धि व विकास की अवधारणायें व सिद्धान्त

संरचना

1.1 प्रस्तावना

1.2 उद्देश्य

1.3 मानव वृद्धि का अर्थ व परिभाषा

1.4 मानव विकास का अर्थ व परिभाषा

1.5 मानव वृद्धि व विकास में अन्तर

1.6 मानव वृद्धि व विकास को प्रभावित करने वाले कारक

1.7 मानव विकास की अवधारणा

1.8 मानव वृद्धि व विकास के सिद्धान्त

1.9 मानव विकास के सिद्धान्तों का शैक्षिक निहितार्थ

1.10. अभ्यास के प्रश्न

1.11 सांराश

1.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

1.13 संदर्भ ग्रन्थ

1.1 प्रस्तावना

वृद्धि व विकास जीवन के लक्षण हैं। निर्जीव वस्तुओं में कोई परिवर्तन नहीं होता है। वे जैसी हैं, वैसी ही रहती हैं। जहाँ जीवन है वहाँ परिवर्तन अवश्यम्भावी है। प्रकति में फूल से बीज, बीज से पौधा, पौधे का विकास व वृद्धि और पुनः फल व फूल के माध्यम से नवीन बीज का जन्म –यह जीवन का प्रमाण है। इसी प्रकार पशु–पक्षी भी जन्मोपरान्त वृद्धि व विकास के क्रम में चलते हैं और नवीन संतति को जन्म देते हैं। इस तरह जीवन का क्रम चलता रहता है। प्रकृति की अनन्य कृति मनुष्य भी जन्म लेकर वृद्धि व विकास के क्रम के माध्यम से ही जीवन की अनन्यता को परिभाषित करता है। वृद्धि व विकास अक्सर एक–दूसरे के पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त होते हैं। पर इन दोनों में अन्तर है। यद्यपि वृद्धि व विकास प्राकृतिक प्रक्रिया है पर ऐसे अनेक कारक हैं, जो इन्हें प्रभावित करते हैं। इन कारकों की उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति वृद्धि व विकास की प्रक्रिया की गति को प्रभावित करती है। पर इसके बावजूद इस विकास की प्रक्रिया के कुछ तथ्य ऐसे हैं, जो सब जगह सामान्य रूप से पाये जाते हैं। इन्हें विकास व वृद्धि के सिद्धान्त अथवा अधिनियम भी कहा जाता है। इस इकाई में हम उपर्युक्त सभी विशेषताओं का अध्ययन करेंगे।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप–

- मानव वृद्धि व विकास का अर्थ बता सकेंगे।
- मानव वृद्धि व विकास की परिभाषा दे सकेंगे।
- मानव वृद्धि व विकास में अन्तर बता सकेंगे।
- मानव वृद्धि व विकास को प्रभावित करने वाले कारकों को पहचान सकेंगे।
- मानव वृद्धि व विकास के प्रमुख सिद्धान्तों/अधिनियमों का उल्लेख कर सकेंगे।
- मानव वृद्धि व विकास के सिद्धान्तों के शिक्षा में महत्व को रेखांकित कर सकेंगे।

1.3 मानव वृद्धि का अर्थ व परिभाषा

वृद्धि का शाब्दिक अर्थ है बढ़ना। मानव के संदर्भ में वृद्धि का अर्थ मनुष्य के शारीरिक अंगों के आकार, भार तथा कार्य शक्तियों में वृद्धि से होता है। शारीरिक अंगों के अन्तर्गत वाह्य व आंतरिक–दोनों अंग आते हैं। वाह्य अंगों में सिर, हाथ, पैर, पेट, कंधे, छाती आदि आते हैं। आंतरिक अंगों में विभिन्न तंत्र (कंकाल, रक्ता, पाचन, मांसपेशियाँ, श्वसन आदि) और मस्तिष्क आते हैं। मनुष्य में आने वाली यह वृद्धि एक निश्चित आयु (18–20 वर्ष) तक होती है, जिसे हम परिपक्वता कहते हैं। मानव में होने वाली इस वृद्धि की विशेषतायें हैं कि इसका मापन संभव है। यह वृद्धि मनुष्य की कार्यक्षमता को बढ़ाती है तथा इस वृद्धि की एक सीमा होती है, जिसे परिपक्वता (Maturity) कहते हैं।

परिभाषा :–

"अभिवृद्धि से तात्पर्य कोशिकाओं में होने वाली वृद्धि से होता है, जैसे लम्बाई और भार में वृद्धि।"

–फ्रैंक

"मानव अभिवृद्धि से तात्पर्य उसके शरीर के वाह्य एवं आंतरिक अंगों के आकार, भार व कार्यक्षमता में होने वाली उस वृद्धि से होता है, जो उसके गर्भ के समय से परिपक्वता प्राप्त करने तक चलती रहती है।

–लाल एवं जोशी

1.4 मानव–विकास का अर्थ एवं परिभाषा

मानव विकास मानव वृद्धि से व्यापक है। मानव वृद्धि कोशिकाओं में होने वाले विकास तक सीमित होती है, जबकि विकास मानव में होने वाले सम्पूर्ण परिवर्तनों का संचित स्वरूप होता है। चूँकि परिवर्तन जीवन की निरन्तर प्रक्रिया है अतः विकास निरन्तर होता है। यह वृद्धि की भाँति न तो परिपक्वता प्राप्त करता है और न ही समाप्त होता

है।

व्यक्ति के शारीरिक आकार व शक्ति में शैशवावस्था से युवावस्था तक परिवर्तन आता है। यह उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता है। परिपक्वता (maturity) प्राप्त होने पर यह रूक जाता है और वृद्धावस्था में इसमें ह्रास आना प्रारम्भ हो जाता है। विकास एक निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है। इसमें वृद्धि का भाव समाहित है, पर यह वृद्धि से ज्यादा व्यापक व एकीकृत होता है। विकास की प्रक्रिया व्यक्ति में मात्रात्मक तथा गुणात्मक वृद्धि लाती है, व्यंक्ति में नई योग्यतायें व गुण प्रकट होते है व उसके व्यवहार में ऊर्ध्वगामी परिवर्तन होते हैं। विकास शरीर की अनेक संरचनाओं व कार्यों को संगठित करने की जटिल प्रक्रिया है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें विभिन्न शारीरिक संरचना सम्बन्धी परिवर्तन तथा इनसे उत्पन्न मनोक्रियायें सहसम्बद्ध व एकीकृत होकर मनुष्य को कुशलता व सहजता से कार्य करने के योग्य बनाती है। विकास मनुष्य में नवीन क्षमताओं का सृजन करता है।

परिभाषा:–

- "अनेक वृद्धि प्रक्रियाओं को समाहित करने वाली श्रृंखलाबद्ध तथा एकीकृत परिवर्तन प्रक्रिया को विकास कहा जा सकता है।"

–डा0 एस0पी0 गुप्ता व अलका गुप्ता

- विकास अभिवृद्धि तक ही सीमित नहीं है, अपितु यह परिपक्वता के लक्ष्य की ओर उन्मुख प्रगतिशील क्रम के परिवर्तनों को समाहित करता है। विकास के परिणामस्वरूप व्यक्ति में नवीन विशेषतायें और नवीन योग्यतायें प्रकट होती हैं।"

–हरलॉक

- "परिवर्तन श्रृंखला की वह अवस्था, जिसमें बच्चा भ्रूणावस्था से लेकर प्रौढ़ावस्था तक गुजरता है, विकास कहलाता है।"

–मुनरो

विकास वह दशा है जो प्रगतिशील परिवर्तन के रूप में प्राणी में सतत् रूप से व्यक्त होती है। यह प्रगतिशील परिवर्तन किसी भी प्राणी में भ्रूणावस्था से लेकर प्रौढ़ावस्था तक होता है। यह विकास तंत्र को सामान्य रूप से नियंत्रित करता है। यह प्रगति का मानदण्ड है और इसका आरम्भ शून्य से होता है।

1.5 मानव वृद्धि व विकास में अंतर

किसी भी व्यक्ति के व्यक्तित्व में दो प्रकार के परिवर्तन देखे जाते हैं–मात्रात्मक व गुणात्मक। जब हम मात्रात्मक परिवर्तन यथा आकार, लम्बाई, ऊँचाई, भार आदि के विषय में इंगित करते हैं, तो वह 'मानव वृद्धि' के अन्तर्गत आता है। परन्तु जब हम किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व के मात्रात्मक व गुणात्मक– दोनों परिवर्तनों के विषय में बात करते हैं, तो वह 'विकास के अन्तर्गत आता है। इस प्रकार विकास का दायरा वृद्धि से विस्तृत है। विकास का प्रयोग हम व्यक्तित्व के सभी आयामों –शारीरिक, मानसिक,

सामाजिक, नैतिक आदि– के संदर्भ में कर सकते है। वृद्धि का प्रयोग हम सिर्फ शारीरिक आयाम के क्षेत्र में ही करते हैं। इन आयामों के संदर्भ में वृद्धि से तात्पर्य मात्रात्मक परिवर्तन तथा 'विकास' से तात्पर्य मात्रात्मक के साथ गुणात्मक परिवर्तन से भी है। गुणात्मक परिवर्तन से यहाँ हमारा तात्पर्य शरीर के किसी विशिष्ट अंग की कार्यक्षमता में प्रगति से है। यह प्रगति शारीरिक क्षमता में वृद्धि के कारण भी हो सकती है। जैसे आठ साल का एक बालक स्कूली बैग का बोझ उठाने में थक जाता है, पर अठारह साल का नवयुवक भारी बोझ उठा सकता है। शारीरिक वृद्धि के कारण नवयुवक की कार्यक्षमता में विकास होता है। पर, यदि कोई युवक शारीरिक रूप से कम विकसित है, तो उसकी कार्यक्षमता पूर्ण विकसित युवक से कम होगी। यहाँ हम 'कम विकसित युवक' व 'पूर्ण विकसित युवक' का प्रयोग करते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि परिपक्वता प्राप्त करने के बाद भी दो व्यक्तियों मे से एक का विकास कम व एक का ज्यादा है। अतः यह कहा जा सकता है कि विकास का सम्बन्ध व्यक्तित्व के विशिष्ट आयाम की क्षमता से होता है। 'वृद्धि' एक सीमित व संकुचित अर्थ में प्रयुक्त होता है जबकि 'विकास' एक विस्तृत अर्थ में प्रयुक्त होता है।

वृद्धि का मापन संभव है, पर विकास का नहीं। विकास की प्रक्रिया जटिल है जबकि वृद्धि की सरल। वृद्धि परिपक्वता प्राप्त होने पर समाप्त हो जाती है और विकास आजीवन चलता रहता है। दोनों के मध्य अन्तर को निम्न तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

तालिका सं0 1.1

मानव वृद्धि व विकास में अन्तर

	मानव वृद्धि		मानव विकास
1.	मानव वृद्धि से तात्पर्य मनुष्य के शारीरिक आकार, भार, वाह्य अंग, आंतरिक तंत्र में होने वाली वृद्धि से होता है।	1.	मानव विकास से तात्पर्य उसके आकार, भार, वाह्य व आंतरिक अंगों में वृद्धि के साथ–साथ उसके ज्ञान, कौशल, क्षमताओ व व्यवहार में होने वाले ऊर्ध्वगामी परिवर्तनों से होता है।
2.	मानव वृद्धि शारीरिक अंगों और उनकी कार्यक्षमता में होने वाली वृद्धि तक सीमित रहती है।	2.	विकास का क्षेत्र व्यापक होता है। इसमें वृद्धि का भाव समाहित होता है। साथ ही साथ शारीरिक वृद्धि के साथ शारीरिक व मानसिक क्रियाओं में परिवर्तन, भाषा–ज्ञान में वृद्धि, संवेगों का निर्माण, सामाजिक व चारित्रिक विकास आदि सम्मिलित रहते हैं।

3.	मानव वृद्धि की सीमा होती है, जिसे परिपक्वता कहते है।	3.	मानव विकास सीमित नहीं होता। यह जीवन पर्यन्त चलता है।
4.	मानव वृद्धि केवल मात्रात्मक होती है जिसका मापन यंत्रों से यंत्रों संभव है।	4.	मानव विकास मात्रात्मक व गुणात्मक दोनों होता है। मात्रात्मक का मापन से व गुणात्मक का अन्य युक्तियों व विधियों से किया जा सकता है।
5.	वृद्धि एकाकी प्रक्रिया है।	5.	विकास बहुमुखी प्रक्रिया है। इसमें वृद्धि व क्षय–दोनों प्रक्रियायें निरन्तर चलती रहती हैं। प्रारम्भिक वर्षों में वृद्धि प्रक्रिया की गति तीव्र होती है जबकि जीवन के अंतिम वर्षों में क्षय–प्रक्रिया की गति तीव्र होती है।

बोध प्रश्न–

टिप्पणी–(क)– नीचे दिये गये रिक्त स्थान में अपने उत्तर लिखिये।
(ख)– इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर का मिलान कीजिये।

1. मानव वृद्धि से आप क्या समझते हैं?

....
....
....

2. मानव विकास की एक परिभाषा दीज़िये।

....
....
....

3. मानव वृद्धि व विकास में दो अन्तर बताइये।

....
....
....

1.6 मानव वृद्धि व विकास को प्रभावित करने वाले कारक

यह एक सर्वविदित तथ्य है कि प्रत्येक व्यक्ति का विकास व वृद्धि एक गति से

नहीं होते हैं। कोई लम्बा होता है, कोई छोटा, किसी की वृद्धि ज्यादा होती है, किसी की कम। शरीर का आकार, भार आदि भी सबके अलग होते हैं। एक ही माता–पिता की संतानों में भी वृद्धि व विकास समान रूप से नहीं होता। इसका कारण है कि अनेक कारक वृद्धि व विकास को प्रभावित करते हैं। ये प्रभाव नकारात्मक व सकारात्मक– दोनों तरह के होते हैं। सकारात्मक कारकों की उपस्थिति वृद्धि व विकास की प्रक्रिया को बढ़ाती है और नकारात्मक कारकों की उपस्थिति वृद्धि व विकास की प्रक्रिया को बाधित करती है। ये कारक एक–दूसरे से सम्बन्धित होते हैं। अतः इनका सम्मिलित प्रभाव हमें देखने को मिलता है। व्यक्ति के विकास व वृद्धि को प्रभावित करने वाले कारक निम्न हैं–

- **वंशानुक्रम**
- **वातावरण**

1.6.1 वंशानुक्रम–

प्रत्येक व्यक्ति अपने पूर्वजों से अनेक शारीरिक, मानसिक तथा व्यवहार सम्बन्धी गुणों को विरासत में प्राप्त करता है। इन्हीं गुणों के मिश्रित समूह को वंशानुक्रम कहते है। इनमे से कुछ गुण वृद्धि व विकास की गति को प्रभावित करते है। प्रमुख रूप से निम्न विशेषतायें वृद्धि व विकास को प्रभावित करती हैं–

(1) **बुद्धि**– बुद्धि शिशु के विकास पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालती है। प्रखर बुद्धि वाले शिशुओं का विकास तीव्र गति से होता है। वे नई क्रियाओं को जल्दी सीख लेते हैं। यथा, चलना, बोलना आदि क्रियायें। प्रखर बुद्धिवाले शिशु जल्दी सीखते है, सामान्य बुद्धि वाले शिशु कुछ देर में तथा मन्द बुद्धि वाले शिशु ये कार्य काफी देर से करते है। इस प्रकार शारीरिक विकास भले ही तीनों का एक सा सामान्य रूप से हो, कार्यक्षमता का स्तर तीनों में अलग होता है।

2) **लिंग**–शिशु के लिंग का प्रभाव भी उसके विकास की गति पर पड़ता है। जन्म के समय लड़के–लड़कियों से आकार में बड़े होते हैं। पर लड़कियों में वृद्धि तेज गति से होती है। वे लड़कों से कम उम्र में अपना शारीरिक आकार ग्रहण कर परिपक्वता प्राप्त करती है। लड़कों का शारीरिक विकास देर से होता है।

3) **ग्रन्थियों का स्त्राव**– मानव–शरीर में अनेक ग्रन्थियाँ (Glands) ऐसी हैं, जिनसे निकले स्त्राव (Secretion) व्यक्ति के विकास को प्रभावित करते हैं। थायरॉयड ग्रन्थि, पीनियल ग्रन्थि, थायमस ग्रन्थि आदि में दोष बालक के विकास को कुंठित करता है। ये ग्रन्थियाँ वंशानुक्रम से व्यक्ति प्राप्त करता है।

4) **प्रजाति**– व्यक्ति जिस प्रजाति (Race) में जन्म लेता है, उसके गुण प्राप्त करता है। जुंग ने प्रजातीय प्रभावों को बालक के विकास में महत्वपूर्ण माना है। नीग्रों बच्चे श्वेत बच्चों की अपेक्षा आकार व डील–डौल में बड़े होते हैं तथा परिपक्वता जल्दी प्राप्त करते है। चीन व जापान में व्यक्तियों की ऊँचाई (height) यूरोपीय लोगों की अपेक्षा कम होती है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वंशानुक्रम से प्राप्त गुणों के फलस्वरूप व्यक्ति की वृद्धि व विकास कम या ज्यादा हो सकते हैं।

1.6.2 वातावरण–

वातावरण उन सभी वाह्य शक्तियों, प्रभावों व दशाओं का समूह है, जो प्राणी के जीवन, स्वभाव, व्यवहार, अभिवृद्धि, विकास तथा परिपक्वता पर प्रभाव डालता है। यह भौतिक, सामाजिक, आर्थिक सभी प्रकार का होता है। वातावरण सम्बन्धी जो कारक शिशु की वृद्धि व विकास को प्रभावित करते हैं, उनमें से प्रमुख निम्न हैं–

1) **पोषण–** शिशु के विकास पर पोषण का पूरा प्रभाव पड़ता है। शिशु के लिये सिर्फ आहार ही पर्याप्त नहीं है, आहार का संतुलित होना भी उतना ही आवश्यक है। प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेड, वसा, विटामिन, लवण आदि ऐसे तत्व हैं जो शारीरिक व मानसिक विकास संतुलित रखने में सहयता देते हैं। आहार में किसी एक की भी कमी बालक के संतुलित विकास में बाधा डालते है।।

2) **शुद्ध वायु व प्रकाश**–प्रकृति की अनुपम देन वायु व प्रकाश जीवन के लिये आवश्यक है। शुद्ध वायु व धूप शिशु के शारीरिक व मानसिक विकास में योगदान देते है। जिस तरह के वातावरण में शिशु का पालन–पोषण होता है, शिशु की वृद्धि भी वैसी ही होती है। गाँवों के खुले वातावरण में रहने वाले शिशु पुष्ट व बलशाली होते है। शहर में दूषित वायु व बन्द घरों में रहने वाले शिशु कमजोर व जल्दी बीमार होते हैं।

3) **रोग व चोट**–गर्भावस्था से ही शिशु पर वातावरण का प्रभाव पड़ने लगता है। धूम्रपान करने वाले माता–पिता के शिशुओं को साँस की बीमारी अक्सर पायी जाती है। यदि शिशु के सिर में चोट लगे तो मानसिक विकास अवरूद्ध होने की आशंका हो जाती है। अतः जहाँ शिशु की देखभाल ठीक से हो, वहाँ शिशु पुष्ट व विकसित होते हैं।

4) **संस्कृति–** डेनिस ने अपने शोध द्वारा यह परिणाम निकाला–"शैशवकाल की विशेषतायें सार्वभौम है एवं संस्कृति उनमें भिन्नता उत्पन्न करती है।" संस्कृति व्यक्ति की आदतों पर प्रभाव डालती है। एकाकी परिवार के शिशु तथा संयुक्त परिवार के शिशुओं के वातावरण में अन्तर उनकी आदतों पर भी प्रभाव डालता है।

5) **शिशु का परिवार के बच्चों में क्रम**– शिशु का भाई–बहनों के मध्य कौन सा क्रम है– यह भी उसके विकास को प्रभावित करता है। छोटे भाई–बहन बड़े बच्चों को देखकर जल्दी सीख लेते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वातावरण व वंशानुक्रम का सम्मिलित प्रभाव शिशुओं की वृद्धि व विकास पर पड़ता है।

बोध प्रश्न–

टिप्पणी–(क)– नीचे दिये गये रिक्त स्थान में अपने उत्तर लिखिये।
(ख)– इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर का मिलान कीजिये।

4. मानव वृद्धि व विकास को प्रभावित करने वाले कौन–कौन से कारक हैं? ...
....
....
....

1.7 मानव विकास की अवधारणा

मानव विकास पर मनोवैज्ञानिकों ने अनेक शोध कार्य किये हैं। उन शोधों के निष्कर्ष से मानव विकास व व्यवहार के सन्दर्भ में कुछ प्रमुख अवधारणायें स्वीकार की गई है। इरा जे0 गोर्डन (Ira J. Gordon) ने 6 महत्वपूर्ण अवधारणाओं को चिन्हित किया है–

(1) **विकास एक प्रक्रिया है**– विकास एक संरचनात्मक मनो–शारीरिक परिवर्तनों का क्रम है, जो वृद्धि, परिपक्वता व अधिगम के संयोजन से बनता है। आकार बढ़ने के साथ –साथ मनुष्य की जटिलतायें भी बढ़ती है। आकार एक सीमा के उपरान्त बढ़ना बंद हो जाता है, पर जटिलतायें व व्यवस्थापन जीवन भर चलते हैं क्योंकि यह एक प्रक्रिया है।

(2) **व्यक्ति एक कार्यकारी इकाई है**– विकास की प्रक्रिया में शरीर के विभिन्न अंग व कोशिकायें अलग–अलग गति से विकसित होते है पर सभी तंत्र सहसम्बन्धित होते है व एकीकृत समूह की तरह कार्य करते है। मानव विकास के परिप्रेक्ष्य में विकसित होता व्यक्ति सिर्फ अंगों का समूह नहीं होता है, वह उससे ज्यादा होता है। विकसित होता व्यक्ति हमेशा व्यवस्थापन की प्रक्रिया की संरचना को प्रभावित करते है। व्यक्ति की वंशानुक्रम से प्राप्त विशेषतायें तथा वातावरण के अनुभव परस्पर अन्तःक्रिया करने हेतु उसे एक द्वितीय (Unique) व अपने ढंग की अकेली इकाई के रूप में विकसित करते हैं। अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिये यह आवश्यक है कि व्यक्ति शरीर के माध्यम से अपने अनेक परिवर्तनों को वातावरण के साथ सामंजस्य बैठा कर व्यवस्थित करता रहे। यह कार्य बराबर होता है, अतः यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति एक कार्यकारी इकाई है।

3) **व्यक्ति एक मुक्त ऊर्जातंत्र है**– इसका अर्थ है कि व्यक्ति लगातार वातावरण को प्रभावित करता है और उससे प्रभावित होता रहता है। अतः व्यक्ति को अच्छी तरह जानने के लिये हमें उसके वातावरण अर्थात् संस्कृति को जानना आवश्यक है। एक मुक्त ऊर्जातंत्र में जीव सिर्फ प्रतिक्रिया करने तक सीमित नहीं रहता, अपितु लगातार स्वयं भी

क्रिया करता रहता है। वह अपने मौलिक रूप से ज्यादा विकसित व ज्यादा जटिल हो जाता है। इसका कारण है कि जैसे–जैसे वातावरण में जटिलता बढ़ती है उसके साथ समायोजन व व्यवस्थापन करने के लिये जीवन को जटिल प्रक्रिया अपनानी होती है। चूँकि एक मुक्त तंत्र में विकास की दिशा व गति पूरे क्षेत्र की शक्तियों की प्रकृति द्वारा संचालित होती है और एक व्यक्ति के विकास की दिशा उसके वातावरण की शक्तियों व वंशानुक्रम के गुणों की अन्तःक्रिया द्वारा प्रभावित होती है, अतः हम व्यक्ति को एक मुक्त ऊर्जातंत्र कह सकते हैं।

4) **विकास व व्यवस्थापन समानार्थी है–** विकास एक ऐसी प्रक्रिया है जिसकी सहायता से व्यक्ति जन्म से ही अधिकतम व्यवस्थापन व एकीकरण की ओर बढ़ता है। विकास का अर्थ है विभिन्न घटनाओं, व्यवहारों आदि को अर्थ देना। इस प्रक्रिया में अर्थ जानने के लिये बालक सर्वप्रथम मानसिक स्तर पर अंतर करना व एकीकृत करना सीखता है। एक बालक की तरह वह अपने वातावरण व अनुभवों को टुकड़ों में बांटता है। जो अनुभव उसे लगातार होते हैं, उन्हें वह अर्थ देकर अपने मानसिक संसार में सहेज लेता है। अर्थ देने में उसकी भावनाओं की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। एक ही अनुभव नकारात्मक अथवा सकारात्मक भावनाओं से जुड़ कर अलग–अलग अर्थ देता है। इस तरह बालक अपने मानसिक संसार को व्यवस्थित कर विकसित होता है। अतः हम कह सकते है कि विकास व व्यवस्थापन समानार्थी है।

5) **व्यक्ति एक अद्वितीय इकाई है–** व्यक्ति आनुवंशिक उद्‌गम, सांस्कृतिक अनुभवों व बोध प्रक्रियाओं की दृष्टि से अनूठा होता है। प्रत्यक व्यक्ति जैविक व रासायनिक सम्मिश्रण की दृष्टि से अपने ढंग का अकेला प्राणी होता है। उसका सामाजिक व सांस्कृतिक वातावरण उसके सामने परिवार, पास–पड़ोस, विद्यालय, समुदाय आदि के माध्यम से आदर्श प्रस्तुत करता है। इनके साथ अन्तःक्रिया करता हुआ व्यक्ति अनेक अनुभवों को प्राप्त करता, उन अनुभवों को अर्थ देता और तदनुसार अपना मानसिक व व्यावहारिक व्यवस्थापन करता है। बोध की यह प्रक्रिया नितान्त निजी होती है। अतः यह कहा जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति अनूठा होता है।

6) **व्यक्ति अपना सुव्यवस्थित तंत्र विकसित करता है–** व्यक्ति का अपना तंत्र उसके व्यवस्थित अनुभवों से बनता है। यह तंत्र परिवर्तनों के बावजूद एक स्थिरता की स्थिति बनाये रखने का प्रयास करता है। इसकी दिशा जटिलता की वृद्धि की ओर होती है। इस तंत्र में एक आंतरिक प्रवाहशीलता होती है और यह लगातार वातावरण के साथ अन्तःक्रिया करता रहता है। इसकी अपनी एक विशिष्ट पहचान होती है। इसे 'स्व' की अवधारणा कह सकते हैं। यह आँखों से देखी नहीं जा सकती, पर यह व्यक्ति के उद्‌देश्यपूर्ण व्यवस्थित व्यवहार से पहचानी जा सकती है। प्रत्येक व्यक्ति में इस 'स्व' की अवधारणा का विकास बाल्यावस्था, किशोरावस्था तथा युवावस्था में बराबर होता रहता है। वातावरण के अनेक कारक इस 'स्व' की अवधारणा के विकास में सहायक होते है। किसी भी व्यक्ति की वृद्धि व विकास में 'स्व' की अवधारणा सबसे महत्वपूर्ण होती है।

1.8 मानव विकास के सिद्धान्त

मानव वृद्धि व विकास के क्षेत्र में अनेक शोध कार्य हुये है। उन अनुसंधानों के परिणाम स्वरूप कुछ नियमों को सिद्धान्त रूप में स्वीकार किया गया है, जिनका अनुपालन मानव वृद्धि व विकास की प्रक्रिया सभी स्थानों पर करती है। ये सिद्धान्त निम्नवत् हैं–

1.8.1 सतत् विकास का सिद्धान्त–

मनोवैज्ञानिक शोधों में यह स्पष्ट पाया गया कि विकास एक निरन्तर प्रक्रिया है, जो गर्भ से प्रारम्भ होकर मृत्यु तक चलती रहती है। स्किनर के अनुसार यह सिद्धान्त इस बात पर बल देता है कि व्यक्ति में कोई परिवर्तन एकाएक नहीं होता। वंशानुक्रम से प्राप्त गुणों के अनुसार शारीरिक वृद्धि होती है जो परिपक्वता प्राप्ति के पश्चात् समाप्त हो जाती है। मनोशारीरिक परिवर्तन जीवन पर्यन्त होते हैं। नये अनुभवों के फलस्वरूप नई प्रतिक्रियायें होती हैं और फलस्वरूप नवीन परिवर्तन। इनमें से ऊर्ध्वगामी परिवर्तन विकास कहलाते है।

1.8.2 समय प्रतिमान का सिद्धान्त

प्रत्येक प्रजाति के अपने विकास प्रतिमान होते हैं। मानव प्रजाति के विकास प्रतिमान सभी जगह एक से होते है, चाहें शिशु भारत में जन्म ले या अमेरिका में। दोनों जगह शिशु पहले लेटा रहता है, फिर पलटता है। उसके बाद पेट के बल खिसकता है, घुटनों के बल चलता है और फिर पकड़ कर खड़ा होता है। पर, पषु प्रजाति में गाय का बछड़ा जन्म लेते ही खड़ा हो जाता है, हाथी का बच्चा भी पैदा होते ही खड़ा हो जाता है। अन्य पशु यदि तुरन्त नहीं तो 8–10 दिन में ही खड़े हो जाते है।

1.8.3 विकासात्मक क्रम की निश्चित दिशा का सिद्धान्त

प्रत्येक प्रजाति के अपने निश्चित विकासात्मक प्रतिमान होते हैं, जिनके आधार पर विकास का पूर्व–कथन किया जा सकता है। विकास का क्रम निश्चित दिशा की ओर होता है। मनुष्य के संदर्भ में शरीर का विकास सदैव सिर से पैरों की ओर होता है। भ्रूण में भी सिर का विकास पहले तथा अन्य अंगों का विकास क्रम से बाद में होता है। जन्म के पश्चात् भी बालक पहले सिर ठहराना सीखता है। धीरे–धीरे हाथ व अन्त में पैरों पर नियन्त्रण होता है।

सामीप्यता की प्रवषत्ति के अनुसार वृद्धि व विकास निकट से दूर की ओर के क्रम का अनुसरण करते हैं। बालक पहले हाथ व पैर की मांसपेशियों पर नियन्त्रण करता है फिर अंगुलियों के संचालन को नियन्त्रित करता है।

विकास का क्रम भी निश्चित होता है। बालक पहले सुनता है, फिर बोल पाता है। उसे पहले बोलना व बाद में सुनना नहीं सिखाया जा सकता है। इस प्रकार विकास का क्रम व दिशा–दोनों निश्चित होते है।

1.8.4 सामान्य से विशिष्ट प्रतिक्रिया का सिद्धान्त–

मनोवैज्ञानिक हरलॉक का विचार था– ''विकास की सब अवस्थाओं में बालक की प्रतिक्रियायें विशिष्ट बनने से पूर्व सामान्य प्रकार की होती हैं।'' उदाहरण स्वरूप बालक पहले सब चीजों को मुँह में रखता है, चाहें वह पेन्सिल हो या खिलौना या रोटी का टुकड़ा। यह सामान्य प्रतिक्रिया है, पर जैसे–जैसे उसका विकास होता है, वह पेन्सिल से लिखता है, खिलौने से खेलता है और खाने की वस्तुओं को मुँह में रखता है। इसे विशिष्ट व्यवहार कहते है।

1.8.5 एकीकरण का सिद्धान्त–

इस सिद्धान्त के अनुसार विभिन्न अंगों के विकास में परस्पर समन्वय रहता है। बालक सबसे पहले सम्पूर्ण अंगों को चलाता है। फिर उसके भागों का अलग–अलग संचालन सीखता है। उसके बाद सभी अंगों का समन्वय सीखता है। तत्पश्चात् ही उसका पूर्ण विकास हो पाता है। यथा, शिशु यदि किसी वस्तु को उठाना चाहता है, तो पहले उसे देखता है फिर उस पर अपना हाथ रखता है। उंगलियों से उठाना कुछ बाद में सीखता है। एक बालक देख कर उंगलियों से उठाना सीख जाता है। यहाँ कई अंगों का एकीकरण होता है।

1.8.6 परस्पर सम्बन्ध का सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के अनुसार विकास के विभिन्न भागों में भी परस्पर सम्बन्ध होता है। शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, भाषायी, संवेगात्मक और चारित्रिक विकास परस्पर सम्बन्धित होते हैं। इनमें विकास एक साथ होता है, पर इसके लिये उचित पर्यावरण व शिक्षा की आवश्यकता होती है। शारीरिक विकास के साथ ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों की कार्यक्षमता बढ़ती है, जिससे बालक का सर्वांगीण विकास होता है।

1.8.7 विभिन्न अवस्थाओं में विकास की विभिन्न गति का सिद्धान्त

मनोवैज्ञानिकों ने शोधो पर आधारित निष्कर्ष दिया है कि जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में विकास की गति अलग–अलग होती है।

जन्म से 3 वर्ष तक	–	तीव्र गति
3 से 6 वर्ष तक	–	मंद गति
6 से 9 वर्ष तक	–	तीव्र गति
9 से 12 वर्ष तक	–	मंद गति
12 से 18 वर्ष तक	–	सामान्य गति
18 वर्ष के उपरान्त	–	अत्यन्त मंद गति

इस प्रकार विभिन्न अवस्थाओं में विकास की गति भिन्न–भिन्न होती है।

1.8.8 वंशानुक्रम व पर्यावरण की अन्तःक्रिया का सिद्धान्त

प्रत्येक व्यक्ति के विकास में उसके वंशानुक्रम व पर्यावरण का बड़ा हाथ होता है। दोनों की अन्तःक्रिया विकास का स्तर निर्धारित करती है। वंशानुक्रम द्वारा प्राप्त

विशिष्ट गुणों की अपनी सीमा होती है। उससे ज्यादा उनका विकास सम्भव नहीं है। जैसे लम्बाई, बुद्धि आदि के विकास की सीमा होती है। पर्यावरण में व्यक्ति का प्राकृतिक व सामाजिक परिवेश आता है। इसमें बदलाव सम्भव है। अच्छे पर्यावरण से बालक का विकास प्रभावित होता है। यदि बालक को पौष्टिक भोजन मिले, तो वह वंशानुक्रम से प्राप्त लम्बाई की उच्चतम सीमा को प्राप्त कर सकता हैं अतः विकास वंशानुक्रम व पर्यावरण की अन्तःक्रिया पर आधारित होता है।

1.8.9 चक्राकार प्रगति का सिद्धान्त–

इस सिद्धान्त के अनुसार विकास न तो सीधी रेखा की तरह होता है और न ही एक स्थिर गति से होता है। विकास की एक निश्चित अवस्था प्राप्त करने के बाद विकास की गति रूक कर प्राप्त क्षमताओं को सुदृढ़ करती है। फिर आगे बढ़ती है। इस तरह विकास की गति चक्राकार होती है। इसे रेखाचित्र से इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है–

चित्र सं0 1.1

विकास की चक्राकार गति

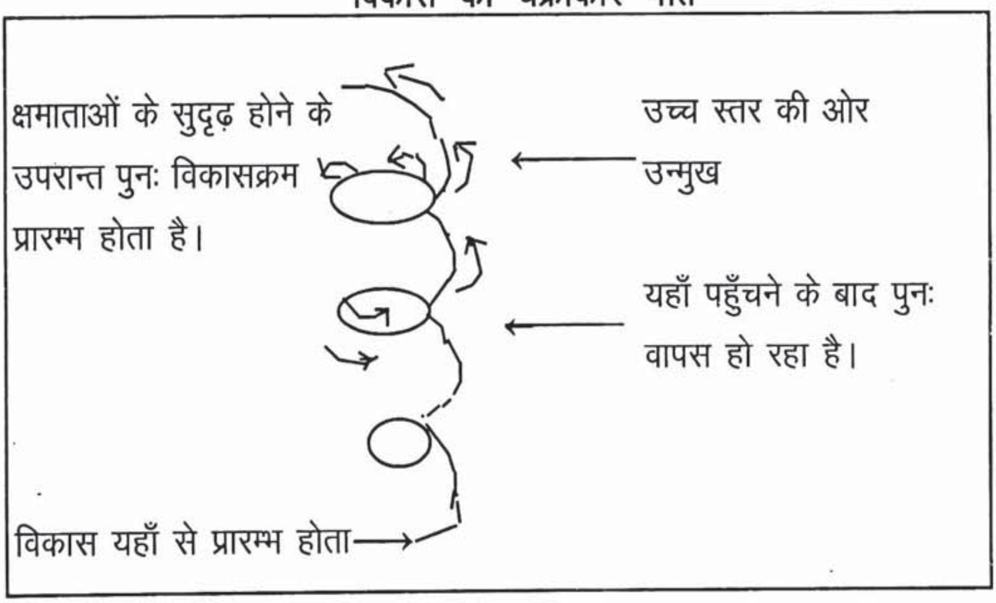

1.8.10 वैयक्तिक भिन्नता का सिद्धान्त–

प्रत्येक शिशु जन्म से अद्वितीय (Unique) होता है। यहाँ तक कि जुड़वाँ बच्चों में भी कुछ भिन्नता अवश्य होती है। इसके अलावा सभी बच्चों को समान पर्यावरण देना भी संभव नहीं हैं। भाई –बहनों में भी पहले बच्चे के पर्यावरण व बाद वाले बच्चों को पर्यावरण में भी परिवार के सदस्यों की संख्या में अन्तर होने से प्रभाव पड़ता है। बाद वाले बच्चे बड़े भाई–बहिन को देखकर जल्दी सीख लेते हैं। उनके विकास की गति तीव्र हो जाती है।

1.8.11 परिमार्जितता का सिद्धान्त–

यह सिद्धान्त बताता है कि विकास की गति व दिशा में परिमार्जन (Modification)

संभव है। इसका अर्थ है कि प्रयासों द्वारा विकास की गति को वांछित दिशा की ओर तीव्र गति से उन्मुख किया जा सकता है। इस सिद्धान्त का शैक्षिक महत्व है।

बोध प्रश्न–

टिप्पणी–(क)-- नीचे दिये गये रिक्त स्थान में अपने उत्तर लिखिये।

(ख)– इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर का मिलान कीजिये।

5. वृद्धि व विकास के दो सामान्य सिद्धान्तों का नाम लिखिये। ....

....

....

....

1.9 मानव विकास के सिद्धान्तों का शैक्षिक निहितार्थ

कहा जाता है कि शिक्षक एक कलाकार है और छात्र कच्ची मिट्‌टी। जैसी मूर्ति कलाकार बनाना चाहे, बना सकता है। पर कलाकार को मूर्ति गढ़ने से पहले मिट्‌टी के तत्वों का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। तभी एक सुन्दर मूर्ति का निर्माण होता है। इसी प्रकार शिक्षक को छात्र को उसकी क्षमताओं की सीमा तक विकसित करने के लिये विकास के सिद्धान्तों का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। इन सिद्धान्तों का ज्ञान उसे छात्र की क्षमताओं व आवश्यकताओं के अनुरूप वातावरण प्रस्तुत करने का अवसर देता है, जिससे छात्र अपने उच्चतम विकास को प्राप्त कर सकें।

1. विकास की निरन्तरता का सिद्धान्त प्रेरणा देता है कि 'रूको मत' प्रयास जारी रखो।

2. व्यक्तिगत भिन्नता का सिद्धान्त यह ज्ञान देता है कि अलग–अलग छात्रों के साथ अलग–अलग व्यवहार करना अनुचित नहीं है। सबको एक सी दवा नहीं दी जा सकती। मर्ज के अनुसार दवा देने से रोगी ठीक होता है। डॉक्टर का उद्‌देश्य होता है मरीज की बीमारी दूर करना। इसी तरह शिक्षक का उद्‌देश्य है छात्र को विकास के उच्चतम स्तर तक ले जाना। अलग–अलग क्षमताओं वाले छात्रों के साथ उनकी आवश्यकतानुसार विकास का अवसर देने के लिये शिक्षक उनसे अलग–अलग व्यवहार कर सकता है। इसमें कुछ भी अनुचित नहीं है।

3. विकास की गति सब समय एक सी नहीं रहती–इस तथ्य का ज्ञान शिक्षक को वातावरण तदनुसार सुनियोजित कर प्रस्तुत करने का अवसर देता है।

4. सामान्य से विशिष्ट की ओर तथा एकीकरण के सिद्धान्तों का ज्ञान शिक्षक को अधिगम प्रक्रिया को तदनुसार प्रस्तुत करने में सहायक होता है। इससे उचित अधिगम अनुभव अधिकतम विकास के अवसर देते हैं।

5. परस्पर सम्बन्ध का सिद्धान्त यह स्पष्ट करता है कि बालक के व्यक्तित्व के सभी आयामों का एक सा विकास ही बालक का सर्वांगीण विकास कहलाता है। अतः शिक्षक को बालक के व्यक्तित्व के सभी आयामों को एक सा विकसित करने का प्रयास करना चाहिये।
6. चक्रीय विकास के सिद्धान्त का ज्ञान हमें विकास के लिये उचित प्रबन्ध करने में सहायता देता है। जब विकास की गति ठहर कर प्राप्त क्षमताओं का सुदृढ़ करती है तब बालक को अभ्यास के अवसर दिये जायें, नवीन ज्ञान ग्रहण करने पर जोर न डाला जाये।
7. विकासक्रम की निश्चित दिशा का सिद्धान्त शिक्षक के उचित अधिगम अनुभवों को प्रस्तुत करने में सहायक होता है, जिससे बालक विकासक्रम के अनुसार विकसित हो सके।
8. वातावरण व वंशानुक्रम की अनुक्रिया का सिद्धान्त वंशानुक्रम द्वारा प्रदत्त गुणों की अधिकतम सीमा तक छात्र को पहुँचाने में वातावरण के महत्व को रेखांकित करता है। इसका ज्ञान शिक्षक को विद्यालय में ऐसा वातावरण देने के लिये प्रेरित करता है, जिसमें छात्र अधिकतम प्राप्ति कर सकें।
9. विभिन्न अवस्थाओं में विकास की विभिन्न गति का ज्ञान शिक्षक को विशिष्ट आयु में छात्र की ग्रहणशीलता व विकास की स्थिति से अवगत कराना हे। इससे विकास की मन्द गति की अवस्था में शिक्षक छात्र पर अनावश्यक दबाव नहीं डालता है तथा तीव्र गति अवस्था मे ऐसा वातावरण देता है, जिससे छात्र अधि ाकतम ज्ञानार्जन कर सके।
10. वैयक्तिक भिन्नता के सिद्धान्त का ज्ञान शिक्षक को छात्रों के मध्य अनुचित तुलना करने से रोकता है। छात्र की क्षमताओं का आकलन अन्य की तुलना के बजाय स्वयं उसी से करने पर बल देता है।
11. परिमार्जितता का सिद्धान्त शिक्षक को एक आधार देता है जिससे वह अधि ाकारपूर्वक प्रयास कर बालक के विकास की गति को तेज करे तथा वांछित दिशा की ओर उन्मुख करे।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि शिक्षक के लिये मानव विकास के सिद्धान्तों का ज्ञान आवश्यक है।

1.10 अभ्यास के प्रश्न

1. मानव वृद्धि की एक परिभाषा देते हुये मानव वृद्धि की विशेषतायें बताइये।
2. मानव विकास से आप क्या समझते हैं? क्या मानव विकास व वृद्धि आपस में सम्बन्धित है?
3. मानव विकास व वृद्धि में क्या अन्तर है? स्पष्ट कीजिए।
4. कौन–कौन से कारक मानव वृद्धि व विकास को प्रभावित करते हैं?

5. मानव विकास के प्रमुख सिद्धान्तों पर प्रकाश डालिये।
6. किसी शिक्षक के लिये मानव विकास के सिद्धान्तों की क्या उपयोगिता है?
7. मानव विकास की कौन–कौन सी प्रमुख अवधारणायें हैं?

1.11 सारांश

मानव वृद्धि व विकास का ज्ञान एक शिक्षक के लिये अत्यन्त आवश्यक है। वृद्धि से तात्पर्य मानव के शरीर के वाह्य व आंतरिक अंगों के आकार, भारत व कार्यशक्तियों में वृद्धि से होता है, जो एक निश्चित अवधि पर परिपक्वता प्राप्त करती हैं। विकास एक सतत् प्रक्रिया है, जो मात्रात्मक व गुणात्मक दोनों होती है।

मानव वृद्धि व विकास में अन्तर है। मानव विकास का क्षेत्र व्यापक है और वृद्धि उसका एक अंग है। वृद्धि एकाकी प्रक्रिया है, विकास बहुमुखी प्रक्रिया है। वृद्धि मात्रात्मक होती है, जबकि विकास मात्रात्मक व गुणात्मक दोनों होता है। विकास व्यक्तित्व के सभी आयामों –शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, चारित्रिक आदि से सम्बन्धित होता है। वृद्धि शारीरिक अंग तक सीमित रहती है।

मानव वृद्धि व विकास को प्रभावित करने वाले प्रमुख दो कारक हैं– वंशानुक्रम व वातावरण। वंशानुक्रम के अन्तर्गत बुद्धि, लिंग ग्रन्थियों का स्त्राव व जाति महत्वपूर्ण है। वातावरण पोषण, शुद्ध वायु व प्रकाश, रोग व चोट, संस्कृति तथा शिशु का भाई बहनों में क्रम से सम्बन्धित होता है। मानव विकास की प्रमुख अवधारणायें निम्न है–

1. विकास एक प्रक्रिया है।
2. व्यक्ति एक कार्यकारी इकाई है।
3. व्यक्ति एक मुक्त ऊर्जातंत्र है।
4. विकास व व्यवस्थापन समानार्थी है।
5. व्यक्ति एक अद्वितीय इकाई है।
6. व्यक्ति अपना सुव्यवस्थित तंत्र विकसित करता है।

मानव विकास के प्रमुख सिद्धान्त हैं–

- सतत् विकास का सिद्धान्त
- समान प्रतिमान का सिद्धान्त
- विकासात्मक क्रम की निश्चित दिशा का सिद्धान्त
- सामान्य से विशिष्ट प्रतिक्रिया का सिद्धान्त
- एकीकरण का सिद्धान्त
- परस्पर सम्बन्ध का सिद्धान्त
- विभिन्न अवस्थाओं में विकास की विभिन्न गति का सिद्धान्त
- वंशानुक्रम व पर्यावरण की अन्तःक्रिया का सिद्धान्त
- चक्राकार प्रगति का सिद्धान्त

- वैयक्तिक भिन्नता का सिद्धान्त
- परिमार्जितता का सिद्धान्त

ये सभी सिद्धान्त शिक्षा क्षेत्र के लिये अत्यन्त उपयोगी है। इन सिद्धान्तों का ज्ञान शिक्षक को बालक की क्षमताओं को उच्चतम स्तर तक पहुँचाने के लिये उचित वातावरण का सृजन करने में सहायक होता है।

1.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. कोशिकाओं में होने वाली वृद्धि
2. एस0पी0गुप्ता व अलका गुप्ता के अनुसार – "अनेक वृद्धि प्रक्रियाओं को समाहित करने वाली श्रृंखलाबद्ध तथा एकीकृत परिवर्तन प्रक्रिया को विकास कहा जाता है।"
3. (a) मानव वृद्धि की सीमा, पर मानव विकास एक निरन्तर प्रक्रिया

   (b) वृद्धि एकाकी प्रक्रिया, विकास बहुमुखी प्रक्रिया
4. वंशानुक्रम व वातावरण के अंतर्गत आने वाले प्रमुख घटक
5. सतत् विकास व समान प्रतिमान के सिद्धान्त

1.13 संदर्भ–ग्रन्थ

1. गुप्ता, एस0पी0 तथा गुप्ता, अलका (2013) *'उच्चतर शिक्षा मनोविज्ञान,* शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद।
2. लाल, रमन बिहारी तथा जोशी, सुरेश चन्द्र (2006), *शिक्षा मनोविज्ञान एवं प्रारम्भिक सांख्यिकी,* आर0 लाल बुक डिपो, मेरठ।
3. शर्मा, आर0ए0 तथा चतुर्वेदी शिखा (2013), *शिक्षा मनोविज्ञान के मूल तत्व,* आर0लाल बुक डिपो, मेरठ।
4. Bruce, W.F. & Freeman S.F. (1942), *'Development & Learning'* Houghton Miftin Company Boston.
5. Mangal, S.K. (2007), *'Advanced Educational Psychology'* Prentice Hall of India Pvt. Ltd., New Delhi.
6. Thakur, A.S. & Berwal Sandeep (2013), *Development of Learner & Teaching Learning Process*: Agarwal Publications, Agra.

इकाई–2 विकास की अवस्थायें

संरचना

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्देश्य

2.3 विकास की अवस्थाओं के प्रचलित वर्गीकरण

2.4 गर्भावस्था में विकास

2.5 शैशवावस्था में विकास

2.6 बाल्यावस्था में विकास

2.7 किशोरावस्था में विकास

2.8 युवावस्था में विकास

2.9 अभ्यास के प्रश्न

2.10. सारांश

2.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

2.12 संदर्भ ग्रन्थ

2.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में हमने वृद्धि व विकास की अवधारणाओं व सिद्धान्तों पर चर्चा की है। चर्चा से इस तथ्य का भी ज्ञान हुआ कि विकास एकदम से नहीं होता है, धीरे–धीरे होता है। विकास की अवस्थायें होती हैं। प्रत्येक अवस्था में विकास की गति व स्वरूप अलग–अलग होते है। यह अनेक सोपानों में होता है। प्रत्येक सोपान अथवा अवस्था की कुछ विशेषतायें होती हैं जिनके माध्यम से व्यक्ति का मानसिक, शारीरिक, भाषाई, संवेगात्मक आदि विकास स्पष्ट रूप से पहचाना जा सकता है। जैसे गर्भावस्था में भ्रूण से विकसित होकर शिशु के रूप में जन्म, शैशवावस्था में शारीरिक विकास व गतिविधियाँ, बाल्यावस्था में शारीरिक, मानसिक, भाषाई विकास, किशोरावस्था में शारीरिक, संवेगात्मक आदि विकास तथा युवावस्था में सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास विभिन्न अवस्थाओं में होने वाले विकास का उदाहरण है। प्रस्तुत इकाई में विकास की विभिन्न अवस्थाओं पर चर्चा की जायेगी। इन्हें विभिन्न विद्वानों ने अपने–अपने विचार से वर्गीकृत किया है।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप–

- मानव विकास की अवस्थाओं पर विभिन्न विद्वानों के वर्गीकरण को जान सकेंगे।

- गर्भावस्था में एक कोशिका पुंज के मानव स्वरूप प्राप्त करने की यात्रा का विश्लेषण कर सकेंगे।
- शैशवावस्था में शारीरिक, मानसिक, भाषायी, संवेगात्मक व सामाजिक विकास का प्रत्यास्मरण कर सकेंगे।
- शैशवावस्था की मुख्य विशेषताओं को पहचान सकेंगे।
- बाल्यावस्था में शारीरिक, मानसिक, भाषायी, सामाजिक व संवेगात्मक विकास चिन्हों को लिख सकेंगे।
- बाल्यावस्था की मुख्य विशेषताओं का बोध कर सकेंगे।
- किशोरावस्था में शारीरिक, मानसिक, भाषायी, सामाजिक व संवेगात्मक विकास के मानदण्डों का ज्ञान कर सकेंगे।
- किशोरावस्था की मुख्य विशेषताओं को प्रस्तुत कर सकेंगे।
- युवावस्था के प्रमुख परिवर्तनों– जीवन प्रतिमान, सामाजिक स्थिति, व्यावसायिक समायोजन, विवाह व परिवारिक समायोजन– को पहचान सकेंगे।
- युवावस्था की मुख्य विशेषताओं का उल्लेख कर सकेंगे।

2.3 विकास की अवस्थाओं के प्रचलित वर्गीकरण

मानव विकास एक सतत् प्रक्रिया है। शारीरिक क्रियाओं (जिनमें परिपक्वता के पश्चात् वृद्धि रूक जाती है) के अलावा अन्य सभी क्रिया क्षेत्रों में विकास निरन्तर होता रहता है। पर विकास की गति विभिन्न आयु स्तरों पर भिन्न–भिन्न होती है। इन आयु स्तरों को विकास की विभिन्न अवस्थायें कहते हैं। भिन्न–भिन्न अलग रूप से वर्गीकृत किया है।

भारत में प्राचीन काल से मनुष्य जीवन को 7 कालों में विभाजित किया गया है, जो निम्न है–

1. गर्भावस्था – गर्भाधान से जन्म तक
2. शैशवावस्था – जन्म से 5 वर्ष तक
3. बाल्यावस्था – 5 वर्ष से 12 वर्ष तक
4. किशोरावस्था – 12 वर्ष से 18 वर्ष तक
5. युवावस्था – 18 वर्ष से 25 वर्ष तक
6. प्रौढ़ावस्था – 25 वर्ष से 55 वर्ष तक
7. वृद्धावस्था – 55 वर्ष से मृत्यु तक

रॉस (Ross) के अनुसार विकास की प्रक्रिया निम्नलिखित चार अवस्थाओं से होकर गुजरती है–

1. शैशवावस्था – 1 वर्ष से 3 वर्ष तक
2. आरम्भिक बाल्यावस्था – 3 वर्ष से 6 वर्ष तक

3. उत्तर बाल्यावस्था – 6 वर्ष से 12 वर्ष तक
4. किशोरावस्था – 12 वर्ष से 18 वर्ष

2.3.3 सैले (Selley) ने मानव विकास का अध्ययन सिर्फ तीन अवस्थाओं में स्वीकार किया है–

1. शैशवावस्था – 1 वर्ष से 5 वर्ष तक
2. बाल्यावस्था – 5 वर्ष से 12 वर्ष तक
3. किशोरावस्था – 12 वर्ष से 18 वर्ष तक

इसके अलावा भी भिन्न–भिन्न विद्वान विकास की अवस्थाओं के बारे में अपने भिन्न–भिन्न विचार रखते हैं। हम इसे पाँच अवस्थाओं में विभक्त कर अध्ययन करेंगे। ये अवस्थायें हैं–

1. गर्भावस्था – गर्भाधान से जन्म तक
2. शैशवावस्था – जन्म से 6 वर्ष तक
3. बाल्यावस्था – 6 वर्ष से 12 वर्ष तक
4. किशोरावस्था – 12 से 18 वर्ष तक
5. युवावस्था – 18 से 25 वर्ष तक

2.4 गर्भावस्था में विकास

सामान्य रूप से जन्मपूर्व की अवधि 9 महीने की होती है। जन्म से पूर्व विकास न केवल तीव्र गति से होता है, बल्कि व्यवस्थित व पूर्वानुमान के अनुसार भी होता है। इस अवधि में महत्वपूर्ण विकास होते है। इस अवधि को तीन अवस्थाओं में बांटा जा सकता है–

(1) बीजावस्था (Germinal Period)
(2) भ्रूणावस्था (Embryonic Period)
(3) गर्भस्थ शिशु की अवस्था (Foetal Period or The Period of Foetus)

बीजावस्था गर्भाधान से प्रारम्भ होकर दो सप्ताह के अन्त तक रहती है। इस स्थिति में निशिक्त डिम्ब (Fertilised ovum) का आकार लगभग एक सा रहता है क्योंकि उसे बाहर से बहुत कम पोषण मिलता है। सिर्फ डिम्ब के केन्द्रक से प्राप्त पोषण से वह जीवित रहता है। यह एक महत्वपूर्ण अवस्था है क्योंकि इसमें डिम्ब की मृत्यु की संभावनायें ज्यादा होती है।

भ्रूणावस्था तेजी से होने वाले परिवर्तनों की अवस्था है। छः सप्ताह की छोटी अवधि में भ्रूण एक कोशिका पुंज से विकसित होकर एक छोटे से व्यक्ति का आकार ले लेता है। यह अवस्था गर्भाधान के दूसरे सप्ताह के अन्त से दूसरे मास के अंत तक रहती है। इस समय तक शरीर के सभी वाह्य व आंतरिक आवश्यक अवयव बन जाते हैं। विकास विकासात्मक दिशा के नियमानुसार सिर से पाँव तक होना है। सिर के

भाग में मुख्य विकास सबसे पहले होता है। इसके बाद निचले अंगों का विकास होता है। भ्रूणावस्था के बाद नये अंगों का निर्माण नहीं होता है। सिर्फ पूर्व निर्मित अंगों के आकार व क्रियाओं में परिवर्तन होता है।

कोशिकाओं की बाहरी परत, जो निरोपण के पश्चात् अन्दरूनी परत से अलग हो जाती हो, अब जन्म तक भ्रूण की रक्षा करने वाले सहायक उपकरणों में विकसित हो जाती है। ये हैं–अपरा, नाभिनाल व उल्बकोष। भ्रूणावस्था की समाप्ति (दूसरे माह के अंत तक) तक आकृति स्पष्टतः मनुष्य की बन जाती है। शरीर के सभी प्रमुख लक्षणों, अंगों व ग्रंथियों का विकास प्रारम्भ हो जाता है और भ्रूण लघु आकृति का मानव दिखाई देता है।

गर्भस्थ शिशु की अवस्था (Foetal period) दूसरे महीने के अंत से लेकर जन्म तक होती है। यह अवस्था वास्व मे विकास की अवस्था होती है। पहले की दो अवस्थायें निर्माण की अवस्थायें होती हैं। इस अवस्था में भ्रूण के अंगों के आकार में परिवर्तन होता है। इस अवस्था में विकास की गति पहले की अवस्था की तुलना में धीमी होती है। भ्रूणावस्था में भ्रूण का आकार डेढ़–दो इंच से बढ़कर गर्भस्थ शिशु की अवस्था के अंत तक करीब 20 इंच तथा भार 3 औंस (0.08kg) से 7.5 पौंड (3.5 kg) तक हो जाता है। इस अवस्था में गर्भस्थ शिशु के आंतरिक अंगों का विकास होता है। स्नायु –मंडल, रक्त–संचार मण्डल, श्वसन प्रणाली, पाचन ग्रंथियों, मांसपेशियों आदि का विकास होता है। इस समय ज्ञानेन्द्रियों का विकास भी प्रारम्भ हो ज्जाता है। जब गर्भस्थ शिशु छः माह पूर्ण कर लेता है, तो उसमें जीवन–क्षमता (Vitality) आ जाती है। उसका स्नायुमंडल इतनी विकसित हो जाता है कि यदि उसका जन्म भी हो जाये, तो उचित संरक्षण से वह जीवित रह सकता है।

गर्भस्थ शिशु के विकास पर अनेक तत्व प्रभाव डालते हैं, जिनके कारण शिशुओं के विकास में अन्तर होता है। इनमें से प्रमुख हैं–

(a) माँ का स्वास्थ्य

(b) माँ का भोजन

(c) माँ का मादक द्रव्य एवं तम्बाकू सेवन

(d) *शिशु जन्म के समय माता–पिता की आयु*

(e) माँ का संवेगात्मक व्यवहार

(f) गर्भस्थ शिशु का घरेलू व सामाजिक परिवेश

बोध प्रश्न–

टिप्पणी–(क)– नीचे दिये गये रिक्त स्थान में अपने उत्तर लिखिये।

(ख)– इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर का मिलान कीजिये।

1. मानव–विकास की प्रमुख अवस्थाओं के नाम बताइये।

....

....

....

2. गर्भावस्था में विकास किन प्रमुख अवस्थाओं के अन्तर्गत होता है,

....

....

....

2.5 शैशवावस्था में विकास

शैशवावस्था का काल जन्म से 6 वर्ष तक होता है। इस अवस्था में विकास से हमारा तात्पर्य इस वय के सामान्य बच्चों के औसत विकास से होता है। सामान्य से यहाँ हमारा तात्पर्य है वंशानुक्रम से प्राप्त गुण व शक्तियाँ भी सामान्य हों तथा वातावरण भी सामान्य है। इस अवस्था में शारीरिक, मानसिक, भाषायी, संवेगात्मक तथा सामाजिक विकास पर हम चर्चा करेंगे।

2.5.1 शारीरिक विकास–

जन्म से तीन वर्ष तक बच्चों का शारीरिक विकास तेजी से होता है। प्रथम वर्ष में शिशुओं की हड्डी, मांसपेशियों व अन्य अंगों का विकास बाद के वर्षों की अपेक्षा तेजी से होता है। वे बैठते, खड़े होते तथा थोड़ा– बहुत चलने भी लगते हैं। प्रथम वर्ष में लम्बाई में 50 प्रतिशत की वृद्धि होती है। दूसरे वर्ष में 20 प्रतिशत तथा तीसरे व चौथे वर्ष घट कर 8 प्रतिशत तथा पाँचवें व छठे वर्ष घट कर 5 प्रतिशत ही रह जाती है। प्रथम वर्ष वजन में वृद्धि 20: दूसरे वर्ष में 25–30: तीसरे व छठे वर्ष के बीच यह घटकर 12: रह जाती है। (क्रोगमैन–1957)। लम्बाई में प्रतिवर्ष बढोत्तरी 2.5 या 3 इंच तक होती है। छः वर्ष की आयु तक औसतन बालक की लम्बाई 44.5 इंच कम से कम हो जाती है। इस समय बालक–बालिका की लम्बाई में कोई अन्तर लिंग भेद के कारण नहीं होता। इस अवधि में लम्बाई में वैयक्तिक अंतर मिलते हैं।

3 वर्ष से 6 वर्ष की आयु के बच्चों की लम्बाई, वजन व आंतरिक अंगों का विकास मंद गति से होता है, पर उनके पूर्व विकसित शारीरिक अंग सुदृढ़ होते हैं और उनकी कर्मेन्द्रियाँ व ज्ञानेन्द्रियाँ भी सुदृढ़ होती हैं। अतः इस काल को परिपाक शैशवावस्था भी कहते हैं। इस आयु तक प्रायः शिशु को मूत्र–नियंत्रण हो जाता है। उसके सोने का समय तीन वर्ष तक स्थिर हो जाता है। वह 24 घंटे में 12 घंटे सोता है। बालक 6 वर्ष की उम्र तक अपने कपड़े पहन सकता है, नहाना व बाल संवारना भी प्रारम्भ कर लेता है। पाँचवे या छठे वर्ष बालक लिखना सीख जाता है। वह कूदना, लाँघना, सरपट दौड़ना, छलांग लगाना सीख लेता है। इस समय साइकिल चलाना, तैरना व स्केटिंग भी यदि सिखाया जाये, तो सीख लेता है।

2.5.2 मानसिक विकास

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार जन्म से 3 वर्ष तक शिशुओं का मानसिक विकास बहुत तीव्र गति से होता है। मस्तिष्क सरल से जटिल की ओर विकसित होने लगता है। पहले दो वर्षों में शिशु अपने वातावरण के व्यक्तियों, पशु–पक्षियों व वस्तुओं को पहचानने लगते व उनकी आवाज का अनुकरण करने लगते हैं। पर, वे एक जाति के प्राणियों में फर्क नही ंकर पाते। यथा, गाय व बैल को एक ही समझते हैं। तीसरे वर्ष में मानसिक शक्तियाँ तेजी से विकसित होती हैं। ध्यान, कल्पना, प्रत्यक्षीकरण की योग्यता और स्मरणशक्ति इस वर्ष क्रियाशील हो जाती है।

3 वर्ष से 5 वर्ष के मध्य उनकी स्मरणशक्ति व कल्पना शक्ति का विकास होता है। जिज्ञासा भी बढ़ जाती है। नई चीज को जानने का प्रयास करते हैं। प्रश्नों व नीवन ज्ञान को दोहराते हैं। 5 से 6 वर्ष के बीच उनकी तर्क शक्ति का विकास होता है और अब वे 'क्या' के साथ 'क्यों' प्रश्न भी करने लगते हैं।

2.5.3 भाषायी विकास–

भाषा के विकास का निश्चित क्रम होता है–सुनना, बोलना, पढ़ना व लिखना। शारीरिक व मानसिक विकास के साथ भाषायी कौशलों में भी विकास होता है। जन्म से 6 माह तक बच्चे रोने, हंसने व कुछ मूल प्रवृत्यात्मक ध्वनियाँ ही करते हैं। शब्द ज्ञान इस समय उन्हें नहीं होता है। प्रथम वर्ष तक वे 'बा' 'मा' 'पा' आदि अधूरे शब्दों का प्रयोग करने लगते हैं। दूसरे वर्ष में वे माँ, पापा, दूध, बाबा आदि शब्द बोलना शुरू कर देते हैं। दूसरे वर्ष के अंत तक वे लगभग 200 शब्द सीख जाते तथा 2–2 शब्दों के वाक्य बोलने लगते हैं। यथा– इधर आओ, दूध दो आदि। तीसरे वर्ष में वे 3–4 शब्दों के वाक्य बोलने लगते हैं। अब तक वे 500 से ज्यादा शब्द सीख जाते हैं।

3 वर्ष से 6 वर्ष तक शिशु धीरे–धीरे अपने आसपास की साधारण वस्तुओं के बारे में जान जाते हैं। चौथे वर्ष में शिशु संज्ञा शब्दों के बहुवचन, सर्वनाम, क्रिया आदि शब्द सीखने लगते हैं। पाँचवे वर्ष में वे पशुओं, पक्षियों, रंगों, वस्तुओं आदि के नाम जाते हैं। अब वे कुछ बड़े वाक्य बोलने लगते हैं। सुनी हुई कहानियों को दोहराने लगते हैं।

चार वर्ष के शिशु की ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ तथा मांसपेशियाँ इतनी सशक्त हो जाती हैं कि उन्हें पढ़ना–लिखना सिखाया जा सकता है। 6 वर्ष पूरा करते करते वे एक–दो शब्दों के वाक्य पढ़ व लिख सकते हैं।

2.5.4 संवेगात्मक विकास–

जन्म के समय शिशु सिर्फ उत्तेजना (Excitement) का अनुभव करते हैं। एक माह के होने तक वे सुख–दुख अनुभव करने लगते हैं। पहले वर्ष में उनमें प्रेम, क्रोध व भय के संवेग विकसित हो जाते हैं। एक वर्ष का शिशु चाहता है सब उसे ही प्यार करें। दूसरे बच्चे को अपने माता–पिता की गोद में देखकर वह ईर्ष्या भी करता है और क्रोध भी करने लगता है। 3 वर्ष की उम्र तक उसमें सभी प्रमुख संवेगों का विकास हो जाता है।

2.5.5 सामाजिक विकास

प्रथम वर्ष में बालक आत्मकेन्द्रित होता है। दो वर्ष का होते–होते वह माता–पिता को भी खुश देखना चाहता है। पर, बराबर आयु के बच्चों से ईर्ष्या करने लगता है, उन्हें अपने खिलौने छूने नहीं देता है। तीसरे वर्ष उनमें सामाजिकता का विकास होता है। वे दूसरे शिशुओं से प्रेम करने लगते हैं और उनके साथ खेलने भी लगते हैं। 6 वर्ष की आयु तक बच्चे समाज की भाषा व व्यवहार की विधियाँ सीख जाते हैं। बड़ों का सम्मान तथा छोटों को प्रेम करने लगते हैं। इस प्रकार उनका सामाजिक समायोजन प्रारम्भ हो जाता है। 5–6 वर्ष के बच्चों में तदनुभूति (Empathy) का विकास होने लगता है।

2.5.6 शैशवावस्था की मुख्य विशेषतायें–

उपर्युक्त परिचर्चा के आधार पर शैशवावस्था की मुख्य विशेषतायें निम्न हैं–

- शारीरिक विकास की तीव्र गति
- मानसिक विकास की तीव्र गति
- अनुकरण व दोहराने की प्रवृत्ति
- भाषा विकास की तीव्र गति
- जिज्ञासा का विकास
- कल्पनाशक्ति की तीव्रता
- खेल की प्रवृत्ति में बढ़ोत्तरी
- संवेगों में दृढ़ता का आरम्भ
- सामाजीकरण का प्रारम्भ
- आवश्यकताओं की पूर्ति की मांग में प्रबलता
- सीखने की द्रुत गति
- मूल प्रवृत्यात्मक व्यवहार
- आश्रितता
- आत्मप्रेम की भावना

इन विशेषताओं के आधार पर शिशुओं की शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए। प्रथम चार वर्षों में बच्चे को पाठ्यचर्या में नहीं बाँधना चाहिये। अंतिम दो वर्षा में भी सिर्फ भाषा के पढ़ने–लिखने, अंकों का ज्ञान–जोड़ना, घटाना आदि तथा कला व संगीत की शिक्षा दी जानी चाहिए।

बोध प्रश्न

टिप्पणी– (क)– नीचे दिये गये रिक्त स्थान में अपने उत्तर लिखिये।

(ख)– इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर का मिलान कीजिये।

3. शिशुओं में तर्कशक्ति का विकास किस आयु में होता है,

....

....

....

4. बच्चों को किस उम्र में पढ़ना लिखना सिखाया जाना चाहिए?

....

....

....

2.6 बाल्यावस्था में विकास

बाल्यावस्था से हमारा तात्पर्य 6 वर्ष से 12 वर्ष तक की अवस्था से होता है। प्रस्तुत अनुभाग में हम बाल्यावस्था में शारीरिक, मानसिक, भाषायी, सामाजिक व संवेगात्मक विकास पर चर्चा करेंगे। यह हमें हमेशा ध्यान में रखना है कि हम सामान्य बालक के विकास की चर्चा करते रहे हैं। इनमें भी वैयक्तिक भिन्नता बालकों के विकास को प्रभावित करती है। विकास के ये पैमाने सिर्फ औसत बालक के संदर्भ में दिये गये हैं।

2.6.1 शारीरिक विकास–

यह अवस्था धीमी व अपेक्षाकृत एक समान वृद्धि की अवस्था होती है। इस अवस्था में लम्बाई की वृद्धि औसत 2.5 से 3 इंच प्रतिवर्ष की दर से बढ़ती है। यह वृद्धि माता–पिता की लम्बाई व बालक की प्रजाति (race) पर आधारित होती है। इस अवस्था में वजन भी धीमी व समान गति से बढ़ता है। इस आयु में बालकों की अपेक्षा बालिकाओं की लम्बाई और भार में अधिक वृद्धि होती है। 6 से 9 वर्ष में बच्चे पूर्व में प्राप्त शारीरिक शक्तियों का संचय करते हैं। अतः इसे संचय बाल्यावस्था कहा जाता है। 9 से 12 वर्ष की उम्र में बच्चों के पूर्व संचित विकास में दृढ़ता आती है। स्थायी दाँत निकल आते हैं। हड्डियों व मांसपेशियों में दृढ़ता आने लगती है। इसे परिपाक बाल्यावस्था भी कहा जाता है।

2.6.2 मानसिक विकास–

6 वर्ष की आयु पूरी करते–करते बच्चों में संवेदना, प्रत्यक्षीकरण, कल्पना व स्मृति शक्तियों का विकास हो जाता है। 6 से 9 वर्ष के बीच में उनमें चिन्तन व तर्क शक्तियों का विकास भी हो जाता है। वे अपने वातावरण को जानने लगते हैं। उसके बारे में विचार प्रकट कर सकते हैं। पढ़ने–लिखने में रूचि लेने लगते हैं। वे तुलना, समानता, सम्बन्ध आदि का अर्थ समझने लगते हैं। छोटी–छोटी कहानियों को स्मरण कर सुना सकते हैं। बारहवें वर्ष तक वह छोटी–छोटी घटनाओं का कारण बताने में समर्थ हो जाती हैं। किसी चित्र को देखकर उसकी व्याख्या कर सकते हैं। उनमें

आत्मविश्वास का विकास हो जाता है।

9 से 12 वर्ष के बच्चों में विश्लेषण–संश्लेषण (Analysis-Synthesis) की क्षमता उत्पन्न हो जाती है, जिसकी सहायता से वे प्रत्यय निर्माण (Concept Formation) करने लगते हैं। उनमें समस्या–समाधान करने की क्षमता का भी विकास हो जाता है। वे अपने विचारों को स्वतंत्र रूप से व्यक्त करने लगते हैं।

2.6.3 भाषायी विकास–

इस आयु में बच्चे घर से बाहर निकल कर विद्यालयों में आते हैं। यहाँ वे अपने सहपाठियों, शिक्षकों व अन्य बाहरी व्यक्तियों के सम्पर्क में आते हैं। वे सामाजिक दायरे में अंतःक्रिया करना सीखते हैं। इस दौरान अनेक नये शब्द सीखते हैं। उनका शब्दों का भंडार तेजी से बढ़ता है। 12 वर्ष की आयु पूरी करते –करते औसत छात्र 5 से 8 हजार तक शब्द सीख जाता है। इसके साथ वे लम्बे वाक्यों का प्रयोग करने लगते हैं। उनकी बोलचाल की भाषा में तेजी से विकास होता है।

इस अवस्था में पढ़ने व लिखने की भाषा सम्बन्धी क्षमताओं में भी तेजी से विकास होता है। 6–7 की आयु तक बच्चे 5–6 शब्दों के वाक्यों का अर्थ समझ कर पढ़ने व लिखने लगते हैं। 9 वर्ष की आयु मे वे स्वाध्याय द्वारा सीखने–समझने लगते हैं तथा उनकी लेखन क्षमता व शैली भी विकसित होने लगती है। 8–9 वर्ष के बच्चे देखी, पढ़ी या सुनी बातों को लिखकर अभिव्यक्त करने लगते हैं। वे अपने विचारों को भी लिखकर बता पाते हैं। कक्षा 6 का बालक अपने भावों को शब्दों में व्यक्त कर लेता है। इस समय पुस्तकें पढ़ने व अन्तःक्रिया करने से शब्दों का भण्डार बढ़ता जाता है।

2.6.4 सामाजिक विकास–

बच्चों के सामाजिक विकास में यह अत्यन्त महत्वपूर्ण काल है। बाल्यावस्था में सामूहिकता की मूल प्रवृत्ति (Instinct of Gregariousnè) अत्यन्त क्रियाशील होती है। बच्चे अपने साथियों के साथ रहना पसन्द करते हैं। वे सभी सामाजिक समारोहों में जाना चाहते हैं। वे जिस समाज अथवा समूह में घुलते –मिलते हैं, उसी के मूल्यों व व्यवहार प्रतिमानों को अपनाने लगते हैं। इससे सामाजीकरण की प्रक्रिया तीव्र होती है और बच्चे का सामाजिक विकास भी तेजी से होता है।

बाल्यावस्था में बच्चे सकारात्मक के साथ नकारात्मक व्यवहार भी करना प्रारम्भ कर देते हैं। उनमें अन्य बच्चों के प्रति सदैव सहयोग व प्रेम की भावना नहीं रहती है। वे द्वेष व ईर्ष्या भी करते हैं और असहयोग भी। 9 से 12 वर्ष की आयु में बच्चे अपने समूह के साथियों से स्वीकृति (Acceptance) पाने के लिये कुछ भी कर सकते हैं। वे समूह के अनुसार व्यवहार करते हैं। इस आयु में प्रतिस्पर्धा (Competition) की भावना भी बहुत होती है। वे दूसरे से आगे निकल जाना चाहते हैं। कभी–कभी समूह में अपना वर्चस्व बनाने के लिये वह लड़ाई–झगड़ा भी करते हैं। पर, यह सब सामाजिक अन्तःक्रिया के तत्व हैं। बच्चे का सामूहिक विकास इस अवस्था में तेजी से होता है।

2.6.5 संवेगात्मक विकास–

बाल्यावस्था में संवेगों की अभिव्यक्ति उन्मुक्त रूप से होती है। यथा–खिलखिला कर हँसना, ऐंठना, फड़कना आदि। इस तरह की अभिव्यक्ति बालक के सामाजिक सुसमायोजन को इंगित करती है। इस अवस्था में बालक प्रेम की अभिव्यक्ति साथ रहकर, सहायता करके तथा दुःख–सुख में शामिल होकर करते हैं। अनेक वस्तुओं व घटनाओं से परिचित होने के कारण उसमें भय (Fear) कम होता है। पर, स्वतंत्रत होने की इच्छा (जो इस आयु में माता–पिता नहीं देते हैं) उसमें चिन्ता व क्रोध उत्पन्न करती है।

बाल्यावस्था में संवेगों पर नियन्त्रण करना भी बालक सीखने लगते है। पर, यदि नियंत्रण जोर–जबरदस्ती उन पर लादा जाये, तो संवेगों का दमन होता तथा मानसिक ग्रंथियाँ (Complexè) बन जाती हैं जो असन्तुलित व्यवहार के माध्यम से प्रदर्षित होती हैं।

2.6.6 बाल्यावस्था की मुख्य विशेषतायें–

बाल्यावस्था में विकास के क्षेत्रों पर परिचर्चा करने के पश्चात् बाल्यावस्था की मुख्य विशेषताओं का विवरण निम्नवत् दिया जा सकता है–

- शारीरिक विकास में स्थायित्व
- मानसिक क्षमताओं में वृद्धि
- संचय की प्रवृत्ति
- रचनात्मक शक्ति का विकास
- आत्म–निर्भरता
- जिज्ञासा की प्रबलता
- बहिर्मुखी व्यक्तित्व
- संवेगों पर नियन्त्रण
- खेलों की प्रधानता
- सामाजिकता की भावना का विकास
- नैतिकता की समझ का विकास
- सम–लिंगीय मित्रता
- नवीन ज्ञान के प्रति रूचि

बाल्यावस्था में शिक्षा का आयोजन उपर्युक्त विशेषताओं को ध्यान में रखकर करना चाहिए। उसके शारीरिक व मानसिक विकास के लिये उचित क्रिया–कलापों की व्यवस्था होनी चाहिए। सामूहिक गतिवधियाँ, खेल, समाज की सेवा से सम्बद्ध कार्यक्रमों का आयोजन करना चाहिये। दैनिक सभा, प्रार्थना, उद्देश्यपूर्ण कहानियाँ आदि को पाठ्यक्रम सहगामी गतिविधियों में स्थान दिया जाना चाहिये।

बोध प्रश्न

टिप्पणी–(क)– नीचे दिये गये रिक्त स्थान में अपने उत्तर लिखिये।

(ख)– इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर का मिलान कीजिये।

5. संश्लेषण – विश्लेषण की क्षमता बालकों में किस आयु में विकसित होती है।

....

....

....

...

6. बाल्यावस्था की 6 प्रमुख विशेषताओं को बताइये।

....

....

....

2.7 किशोरावस्था में विकास

अंग्रेजी में किशोरावस्था को एडोलसेन्स (adolescence) कहते हैं। इस शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के Adolescere शब्द से हुई है जिसका अर्थ है 'परिपक्वता की ओर बढ़ना'। 'परिपक्वता वृद्धि की सीमा मानी जाती है। जेर्सिल्ड (Jerisild) के अनुसार–

"किशोरावस्था वह अवस्था है, जिसके द्वारा एक विकासमान व्यक्ति बाल्यावस्था से प्रौढ़ावस्था तक पहुँचता है।"

किशोरावस्था का अर्थ बालक की 12 वर्ष से 18 वर्ष तक की अवस्था से होता है। किशोरावस्था बाल्यावस्था तथा युवावस्था का संधिकाल होती है। यह जीवन का एक महत्वपूर्ण काल होता है।

यहाँ हम किशोरावस्था में शारीरिक, मानसिक, भाषायी, संवेगात्मक व सामाजिक विकास पर चर्चा करेंगे।

2.7.1 शारीरिक विकास–

इस अवस्था में किशोरों के लम्बाई व भार–दोनों में वृद्धि होती है। साथ ही मांसपेशियों में भी वृद्धि होती है तथा वे सुदृढ़ हो जाती है। 12 से 14 वर्ष की आयु के बीच लड़कियों की लम्बाई व मांसपेशियाँ तेजी से बढ़ती हैं। 14–18 वर्ष की आयु के बीच लड़कों की लम्बाई व मांसपेशियाँ तेजी से बढ़ती हैं। इस आयु में लड़के व लड़कियों–दोनों की हड्डियाँ मजबूत हो जाती है और उनके वाह्य व आन्तरिक–दोनों

अंग पूर्णरूप से विकसित हो जाते हैं। भारत में लड़कियों में 13 वर्ष व लड़कों में 15 वर्ष में गोनाड (Gonad) ग्रंथियाँ क्रियाशील हो जाती हैं, जिसके फलस्वरूप उनमें प्रजनन अंग विकसित होने लगते हैं। उनकी काम की मूल प्रवृत्ति (Sex Instinct) जागृत हो जाती है। लड़कियों के वक्षस्थल में उभार व कूल्हे चौड़े होने लगते हैं। लड़को के कंधे चौड़े व पुष्ट होने लगते हैं। दाढ़ी मूँछ उगने लगती है। स्त्री–पुरूष शरीर का भेद बनाने वाले लैंगिक लक्षण विकसित हो जाते हैं। शारीरिक दृष्टि से लड़कियों में 15 वर्ष की उम्र में पूर्ण नारीत्व विकसित हो जाता है और 18 वर्ष की उम्र में लड़कों में पूर्ण पुरूषत्व विकसित हो जाता है। दोनों अपने शारीरिक अंगों के प्रति आकर्षित होने लगते हैं।

2.7.2 मानसिक विकास–

इस अवस्था में किशोर–किशोरियों की बुद्धि का पूर्ण विकास हो जाता है। उनकी स्मरणशक्ति बढ़ जाती है, अमूर्त चिन्तन की शक्ति आ जाती है। वे ध्यान केन्द्रित करने में सक्षम होते हैं। कल्पना, चिन्तन, तर्क, विश्लेषण–संश्लेषण –सभी संज्ञानात्मक योग्यतायें आ जाती हैं। वे समस्या से घबराते नहीं, उसका समाधान करने में सक्षम होते हें। 15 वर्ष की आयु तक उनकी रूचियों में परिवर्तन होता रहता है, पर 16 से 18 वर्ष की आयु के मध्य उनमें स्थायित्व आ जाता है। इस आयु में व्यक्ति अपने स्वास्थ्य, वेश–भूषा, रख–रखाव व जीवन–मूल्यों के चयन में विशेष रूचि लेता है। उनमें दिवास्वप्न देखने की प्रवृत्ति अधिकांशतः पाई जाती है। संगीत, साहित्य, कलात्मक व रचनात्मक कार्यों में वे रूचि रखने लगते हैं। इस आयु में जिज्ञासा की प्रबलता होती है, व बहुमुखी रूचियों का विकास होता है।

2.7.3 भाषायी विकास–

किशोरावस्था में शारीरिक व मानसिक परिपक्वता आती है। किशोरों का सामाजिक दायरा भी बढ़ जाता है। इन सब के कारण उनके शब्द–भण्डार में तेजी से वृद्धि होती है। वे शब्दों में भेद करना जान जाते हैं। समानार्थी, पर्यायवाची, विपरीतार्थी शब्दों को पहचान सकते हैं। भाषा के व्याकरण को समझने लगते हैं, व व्याकरण की दृष्टि से उचित वाक्यों की रचना करने लगते हैं। जिस किशोर/किशोरीयों को जितना उच्च भाषायी पर्यावरण मिलता है तथा भाषा शिक्षा की अच्छी व्यवस्था होती है, उसकी भाषा उतनी ही निखरी हुई व उच्च कोटि की होती है।

इस अवस्था में किशोर स्पष्ट रूप से उचित शब्दों का चयन कर अपने विचारों की अभिव्यक्ति करने लगते हैं। मौखिक अभिव्यक्ति के साथ–साथ अनेक किशोर अपनी कल्पनाओं व भावनाओं को कविता या कहानी का रूप भी देने लगते हैं। इससे लिखित अभिव्यक्ति में भी स्पष्टता आती है।

2.7.4 संवेगात्मक विकास–

परम्परागत अवधारणाओं के अनुसार किशोरावस्था 'तनाव व तूफान' (Stress- –strain) की अवस्था होती है, जिसमें शरीर व ग्रंथियों में अत्यधिक परिवर्तन होता है।

इन्हीं के कारण संवेगात्मक तनाव में वृद्धि होती है। यह वृद्धि किशोरावस्था के प्रारम्भ में अधिक होती है, पर बाद में कम हो जाती है। सामाजिक परिस्थितियाँ, समूह का दबाव तथा सामाजिक प्रत्याशा किशोरों के संवेगों को उत्तेजित करती हैं। यही कारण है कि इस अवस्था में वे अतयन्त संवेदनशील होते हैं। उनमें प्रेम, भय, चिन्ता, क्रोध, ईर्ष्या व आक्रोश के संवेग अत्यन्त तीव्र होते हैं। आत्मसम्मान की भावना अतयन्त प्रबल होती है। समूह में अपनी स्थिति के प्रति वे अत्यन्त सचेत होते हैं। किशोरों में शारीरिक सौष्ठव व किशोरियों में सौन्दर्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति रहती है। किशोर साहसिक कार्यों में तथा किशोरियाँ रचनात्मक कार्यों में रूचि लेती हैं। भविष्य के प्रति चिन्ता तीन विषयों में होती है– व्यवसाय, समाज में स्थान तथा जीवन साथी का चयन। इन चिन्ताओं के कारण उनमें मानसिक तनाव होता है।

2.7.5 सामाजिक विकास–

इस अवस्था में किशोर–किशोरियों में सामूहिकता की प्रवृत्ति बढ़ती है तथा वे विभिन्न समुदायों के सदस्य बनने लगते हैं। वे समाज के धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक सभी क्षेत्रों में भाग लेने लगते है। इसके फलस्वरूप उनमें सामाजिक समझ आती है, वे अच्छे–बुरे में फर्क करने लगते हैं और नवीन सामाजिक परिवर्तनों को स्वीकार करने लगते है। इस उम्र में मित्र बनाने की प्रवृत्ति किशोर–किशोरियों में तीव्र होती है। इस समय विपरीत लिंग के प्रति आकर्षण बढ़ता है और लड़के–लड़की आपस में मित्रता करते हैं। आत्मसम्मान, सेवा व त्याग की भावना उनमें विकसित होती है। सामाजिक चेतना जाग्रत हो जाती है। वे सामाजिक परिपक्वता की ओर बढ़ते हैं।

2.7.6 किशोरावस्था की मुख्य विशेषतायें–

किशोरावस्था मानव विकास की एक ऐसी दशा है, जिसमें वृद्धि परिपक्वता को प्राप्त करती है। मात्रात्मक वृद्धि की यह अंतिम अवस्था होती है। इसके पश्चात् गुणात्मक विकास जीवन पर्यन्त चलता है। क्षमताओं में विकास अनुभवों से होता है। किशोरावस्था की प्रमुख विशेषतायें निम्नवत् हैं–

- शारीरिक परिवर्तन व यौन विकास
- मानसिक शक्तियों व बुद्धि का विकास
- इच्छाओं, आकांक्षाओं व दिवास्वप्न की बहुलता
- रूचियों में ठहराव
- आत्मसम्मान व समूह में स्थिति के प्रति सचेत
- नकारात्मक प्रवृत्तियों का विकास (यथा, मसाला, धूम्रपान आदि)
- स्वतंत्रता व आत्मनिर्भरता की भावना
- संवेगात्मक अस्थिरता
- भविष्य की चिन्ता
- समूह का महत्व

- स्थायी मित्रता
- समायोजन की समस्या
- वीर पूजा
- समाज सेवा की भावना
- नैतिक–अनैतिक प्रवृत्तियों का विकास

किशोरावस्था शिक्षा की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस समय न सिर्फ शारीरिक शिक्षा की व्यवस्था की जाये, अपितु बौद्धिक क्रियाओं का आयोजन भी किया जाना चाहिये। पाठ्यक्रम में विविधता हो। संवेगों का प्रशिक्षण पाठ्य–सहगामी क्रियाओं के माध्यम से किया जा सकता है। सामाजिक, धार्मिक, नैतिक व यौन शिक्षा दी जानी चाहिये। किशोरों को व्यावसायिक चयन सम्बन्धी परामर्श दिया जाये। उन्हें उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य दिया जाये। विद्यालय में ऐसी व्यवस्था हो कि छात्रों की ऊर्जा का उचित मार्गात्तीकरण हो। यदि हम ऐसा कर पायेंगे तो एक सुयोग्य मानव व जिम्मेदार नागरिक का निर्माण कर सकेंगे।

बोध प्रश्न

टिप्पणी–(क)– नीचे दिये गये रिक्त स्थान में अपने उत्तर लिखिये।

(ख)– इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर का मिलान कीजिये।

7. किशोरावस्था किसे कहते हैं?

....

....

....

8. किशोरावस्था में कौन सी ग्रंथि विशेष रूप से क्रियाशील होती हैं ?

....

....

....

2.8 युवावस्था में विकास

युवावस्था का प्रसार 18 से 25 वर्ष तक माना जाता है। इसे दो भागों में बाँटा जा सकता है–

1. पूर्व युवावस्था – 18 से 22 वर्ष तक
2. उत्तर युवावस्था– 22 से 25 वर्ष तक

यह समय मानव विकास का एक महत्वपूर्ण अंग है। इस समय तक व्यक्ति आकार व क्षमता की दृष्टि से पूर्ण विकसित हो जाता है। यह समय उसे शारीरिक,

मानसिक व संवेगात्मक दृष्टि से परिपक्व बनने का है। अपनी प्राप्त क्षमताओं को सुदृढ़ करने का है। 18 की वर्ष में व्यक्ति वयस्क (Adult) की श्रेणी में आ जाता है। उसे वोट करने का अधिकार भी मिल जाता है। पर, वह अभी मानसिक, संवेगात्मक व बौद्धिक रूप से इतना परिपक्व नही होता कि सही निर्णय ले सके। उसे परामर्श व निर्देशन की आवश्यकता होती है।

इस आयु में छात्र व्यवसाय हेतु शिक्षा प्राप्त करने का प्रयास करता है। 18 वर्ष की आयु में विद्यालयी शिक्षा पूर्ण हो जाती है। इसके बाद आगे जीवन में उसे क्या करना है व कैसे करना है? – यह प्रश्न सबसे महत्वपूर्ण होते है। कुछ छात्र, जिन्हें परिवार, विद्यालय व आस–पड़ोस के लोगों से परामर्श मिलता रहता है, अपना व्यवसाय या शिक्षा का मार्ग पहले ही चुन लेते हैं और उस पर केन्द्रित भी हो जाते हैं। पर, कुछ युवा, जिन्हें परिवार, विद्यालय या वातावरण की परिस्थितियों से सहयोग नहीं मिलता, भ्रमित रहते हैं। उन्हें विज्ञान में रूचि नहीं, पर घर वालों के दबाव से विज्ञान विषय ले लिया। नतीजा उनका परीक्षा परिणाम उन्हें कहीं प्रवेश लेने लायक नहीं रखता। युवावस्था के प्रारम्भिक 3 वर्ष अत्यन्त महत्वपूर्ण होते हैं। 21 की आयु तक युवा की भविष्य की दिशा तय हो जाती है।

इस अवस्था में विकास परिवर्तन के माध्यम से होता हैं युवावस्था के प्रमुख परिवर्तनों पर चर्चा नीचे की जा रही है–

2.8.1 जीवन–प्रतिमानों में परिवर्तन–

युवावस्था के बाद के काल में (22 से 25 वर्ष तक) जीवन प्रतिमानों में किशोरावस्था की अपेक्षा अनेक परिवर्तन आ जाते हैं। युवावस्था के प्रारम्भ में किशोर अपने शरीर के प्रति सचेत रहते है, पर वे अपने शारीरिक गठन को आदर्श बनाने का प्रयास करते हैं। उत्तर युवावस्था में स्त्री व पुरूष अपने शारीरिक गठन से समझौता कर लेते हैं। पर, वे अपनी आकृति को सुधारने का प्रयास करते हैं। अच्छे कपड़ों के द्वारा, श्रृंगार पर ध्यान देकर अथवा शारीरिक गठन के लिये जिम (Gym) जाकर आदि उपायों से अपने को आकर्षक दिखाने का प्रयास करते है। अपने आप को परिपक्व (Matured) दिखाने की प्रवृत्ति भी उनमें आ जाती है। उत्तर युवावस्था में वे धन व वस्तुओं की प्राप्ति का प्रयास करते हैं, जिससे उनकी आर्थिक स्थिति प्रभावशाली बन सके। इस समय धार्मिक प्रवृत्ति न्यूनतम होती है।

2.8.2 मूल्यों में परिवर्तन–

इस अवस्था से पूर्व किशोर दिवास्वप्न में खोये, आदर्शवादी और वीर पूजा करने वाले होते है। इस अवस्था में आते–आते उसका सामाजिक दायरा बढ़ जाता है। उसे अपने पूर्व स्थापित मूल्यों में परिवर्तन करना होता है। उसे पारम्परिक मूल्यों को स्वीकारना होता है। सामाजिक वांछनीयता के प्रति ध्यान रखकर व्यवहार करना होता है। कभी–कभी शिक्षा अथवा व्यवसाय के लिये विदेश जाकर युवाओं को दूसरी संस्कृति में भी समायोजन करना होता है। अतः मूल्यों में परिवर्तन युवावस्था में

अवश्यम्भावी है।

2.8.3 यौन भूमिका में परिवर्तन –

उत्तर युवावस्था (22–25 वर्ष) तक आते –आते युवा या तो विवाह कर लेते है या करने को उत्सुक होते हैं। लड़कियों में से 40–45ः का विवाह हो जाता है या तय हो जाता है। अभी तक युवा सिर्फ अपने विषय में सोचता था, पर, प्रेम होने से या विवाह होने से या विवाह तय होने से उसकी भूमिका में परिवर्तन होता है। वह प्रेमी अथवा पति या प्रेमिका अथवा पत्नी की भूमिका में आ जाते हैं। इस समय रूचि व पारिवारिक पृष्ठभूमि की समानता हो, तो समायोजन सरल होता है अन्यथा विवाह वातावरण को बिगाड़ देता है। कुसमायोजित स्त्री या पुरूष तनावग्रस्त रहते हैं। पति–पत्नी मे यदि समायोजन हो जाये, तो कभी–कभी छोटी आयु में माता–पिता बनने पर, पति–पत्नी अपनी नयी भूमिका का निर्वहन गम्भीरता से नहीं करते हैं। यह भी तनाव का कारण बन जाता है। इसके अलावा लड़कियों को विशेषतया हमारे अपने देश भारत में, ससुराल के पूरे परिवार से समायोजन करना होता है। ससुराल की पारिवारिक, सामाजिक व आर्थिक स्थिति से भी पति–पत्नी का जीवन प्रभावित होता है। युवावस्था में इस नई भूमिका का अत्यन्त महत्व है।

2.8.4 सामाजिक स्थिति में परिवर्तन –

युवावस्था में व्यक्ति को शिक्षा अथवा व्यवसाय के लिये अपने जन्मस्थान से बाहर जाना पड़ सकता है। ऐसी स्थिति में उसके मित्रों का समूह बदल जाता है। युवावस्था में व्यक्ति अपने भविष्य की ओर केन्द्रित रहता है। अतः उसके मित्रों की संख्या किशोरावस्था से कम हो जाती है। पर, जो मित्र होते हैं, वे घनिष्ठ होते हैं। ज्यादातर इस समय के मित्र जीवन भर के मित्र बने रहते हैं।

युवाओं में सामाजिक समूह बदल जाते हैं। उनकी सामाजिक सहभागिता कम जो जाती है। वे आत्मकेन्द्रित हो जाते हैं। अच्छी शिक्षा, अच्छा व्यवसाय व अच्छा सामजिक स्तर–इनके प्रति वह आकर्षित रहता है। पैसा कमा कर अपने आर्थिक स्तर को ऊँचा कर सामाजिक प्रतिष्ठा पाना चाहता है। वह सामाजिक गतिशीलता का प्रयास करता है। इसके लिये ऊँचे सामाजिक व आर्थिक स्तर पर अपनी सामाजिक स्वीकार्यता का प्रयास करता है।

2.8.5 वरीयता में परिवर्तन–

इस अवस्था में युवाओं की वरीयता भी बदल जाती है। उच्च शिक्षा व प्रतिष्ठापूर्ण व्यवसाय का चयन सबसे प्रथम वरीयता हो जाती है। उनका उद्‌देश्य होता हैं। एक ऐसे व्यवसाय का चयन, वे जिसके योग्य हैं तथा अपेक्षित कौशल रखते हैं व्यवसाय सामाजिक प्रतिष्ठा दिलाने वाला हो तथा उन्हें आर्थिक रूप से सम्पन्न रखे। इस काल में व्यवसाय परिवर्तन भी अक्सर युवा करते रहते हैं। जब तक वे अपने व्यवसाय व उसमें अपनी स्थिति से संतुष्ट नहीं हो जाते हैं, वे जीवन की अन्य आवश्यकताओं यथा विवाह को वरीयता नहीं देते हैं।

2.8.6 युवावस्था की विशेषतायें–

युवावस्था व्यक्ति के जीवन में नये सहयोगियों के साथ नवीन सामाजिक अपेक्षाओं के अनुसार समायोजन करने की अवस्था है। इस अवस्था मे अनेक नयी अभिवृत्तियाँ, नवीन सामाजिक मूल्य तथा नवीन रूचियाँ जाग्रत होती है। ये समस्त विशेषतायें युवावस्था को विकासक्रम की अन्य अवस्थाओं से अलग करता है। युवावस्था की विशेषतायें निम्नलिखित हैं–

- युवावस्था प्रतिमान निर्धारण की अवस्था है।
- युवावस्था सामाजिक पृथक्करण की अवस्था है।
- युवावस्था संवेगात्मक अवधि की अवस्था है।
- युवावस्था पुनरूत्पादक अवधि की अवस्था है।
- युवावस्था समस्याओं के साथ समायोजन की अवधि है।
- युवावस्था मूल्यों में परिवर्तन की अवधि है।
- युवावस्था नवीन प्रयोगों की अवस्था है।

2.9 अभ्यास के प्रश्न

1. मानव विकास का वर्गीकरण विभिन्न विद्वानों ने किस प्रकार किया है?
2. मानव विकास में गर्भावस्था पर एक टिप्पणी लिखिये।
3. शैशवावस्था की मुख्य विशेषताओं पर प्रकाश डालिये।
4. बाल्यावस्था में बालक के मानसिक व सामाजिक विकास का वर्णन कीजिए। इस सम्बन्ध में शिक्षा व्यवस्था में क्या ध्यान रखना चाहिये।
5. युवावस्था के प्रमुख परिवर्तनों का वर्णन कीजिये।
7. 'युवावस्था संवेगात्मक तनाव की अवस्था है' व्याख्या कीजिए।

2.10 सारांश

मानव विकास एक सतत् प्रक्रिया है। पर विकास की गति हमेशा एक सी नहीं होती। विभिन्न आयु –स्तरों पर यह भिन्न–भिन्न होती है। इन आयु–स्तरों को विकास की विभिन्न अवस्थायें कहते हैं। भारतीय विचारकों के अनुसार इसे 7 भागों में, शिक्षाशास्त्री रॉस (Ross) के अनुसार 4 तथा सैले (Selley) के अनुसार तीन भागों में बाँटा गया है। हमने इसका अध्ययन 5 भागों में बाँट कर किया है।

गर्भावस्था जन्मपूर्व की अवधि है। इसे बीजावस्था, भ्रूणावस्था तथा गर्भस्थ शिशु की अवस्था में बाँट कर अध्ययन किया गया है। यह अत्यन्त तीव्र गति से होने वाले परिवर्तनों की अवस्था है, जिसमें एक कोशिका पुंज से एक व्यक्ति का निर्माण होता है। शैशवावस्था का काल जन्म से 6 वर्ष तक होता है। जन्म से 3 वर्ष तक उनका शारीरिक व मानसिक विकास तीव्र गति से होता है। इस अवस्था में उनमें

अनुकरण व दोहराने की प्रवृत्ति होती है। उनकी जिज्ञासा व कल्पनाशक्ति का विकास होता है। उनकी भाषा का विकास भी तीव्र गति से होता हैं उनके संवगों में दृढ़ता का आरम्भ होता है। सामाजीकरण की प्रवृत्ति बढ़ती है।

बाल्यावस्था 6 से 12 वर्ष की आयु होती है। यह धीमी व एक समान शारीरिक वृद्धि की अवस्था होती है। मानसिक व भाषायी विकास तीव्र गति से होता है। सामूहिकता की प्रवृत्ति तीव्र होती है, जिससे सामाजिक विकास होता है। संवेगों में उन्मुक्तता होती है। नवीन ज्ञान के प्रति उनमें रूचि होती है।

किशोरावस्था 12 से 18 वर्ष तक होती है। इसे बाल्यावस्था तथा युवावस्था का संधिकाल कहते है। इस समय शारीरिक, मानसिक, भाषाई, संवेगात्मक व सामाजिक विकास अपने चरम पर होता है। इस काल में वृद्धि (Growth) परिपक्वता (Maturity) प्राप्त करती है। यह शारीरिक परिवर्तन व यौन विकास का काल होता है। इस समय इच्छाओं, आकांक्षाओं व दिवास्वप्न की बहुलता होती है। इस समय ऊर्जा का उचित मार्गात्तीकरण आवश्यक होता है।

युवावस्था का प्रचार 18 से 25 वर्ष तक होता है। इस समय तक युवा आकार व क्षमता की दृष्टि से पूर्ण विकसित हो जाता है। यह समय मानसिक व संवेगात्मक दृष्टि से परिपक्व बनने का है। इस समय जीवन–प्रतिमानों, मूल्यों, यौन भूमिका, सामाजिक स्थिति तथा वरीयता में परिवर्तन होता है।

2.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. पाँच अवस्थायें– गर्भावस्था, शैशवावस्था, बाल्यावस्था, किशोरावस्था, युवावस्था।
2. (a) बीजावस्था (b) भ्रूणावस्था (c) गर्भास्थ शिशु की अवस्था
3. 5 से 6 वर्ष के बीच में
4. 4 वर्ष की आयु में
5. 9 से 12 वर्ष की आयु में
6. कोई भी 6 यथा–संचय की प्रवृत्ति, आत्मनिर्भरता, संवेगों पर नियन्त्रण, खेलों की प्रधानता, सामाजिकता की भावना का विकास, सम–लिंगीय मित्रता।
7. मानव विकास की एक ऐसी दशा जहॉ वृद्धि परिपक्वता प्राप्त करती है?
8 गोनाड (Gonad) ग्रन्थियॉ

2.12 संदर्भ ग्रन्थ

1. लाल एवं जोशी (2006), 'शिक्षा मनोविज्ञान एंव प्रारम्भिक सांख्यिकी', आर0लाल बुक डिपो, मेरठ।
2. सिंह आर0एन0 (2015), 'आधुनिक विकासत्मक मनोविज्ञान', अग्रवाल पब्लिकेशन,

आगरा।

3. सिंह आर0पी0, उपाध्याय जे0 व सिंह आर0 (2009), 'विकासात्मक मनोविज्ञान', मोतीलाल, बनारसीदास दिल्ली।

4. शर्मा आर0ए0 व चतुर्वेदी शिखा (2013), 'शिक्षा मनोविज्ञान के मूल तत्व', आर0लाल बुक डिपो, मेरठ।

5. Mangal, S.K. (2007) 'Advance Educational Psychology', Prentice Hall of India Pvt. Ltd. New Delhi.

इकाई–3 विकास के आयाम (Developmental Domains)

संरचना

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 मानव विकास के विभिन्न पक्ष
3.4 शारीरिक विकास
3.5 मानसिक विकास
3.6 सामाजिक विकास
3.7 संवेगात्मक विकास
3.8 नैतिक विकास
3.9 अभ्यास के प्रश्न
3.10 सारांश
3.11 बोध प्रश्नों के उत्तर
3.12 संदर्भ ग्रन्थ

3.1 प्रस्तावना

पिछली इकाइयों में हमने वृद्धि व विकास की अवधारणाओं तथा मानव विकास की विभिन्न अवस्थाओं पर चर्चा की थी। इस इकाई में हम विकास के विभिन्न पक्षों में व्यक्ति की यात्रा का वर्णन करेंगे। यह तो अब तक स्पष्ट हो गया है कि विकास एकाएक नही होता है। अवस्थाओं में बाँटने के उपरान्त भी यह निश्चयपूर्व नहीं कहा जा सकता है कि शैशवास्था में यही होगा और किशोरावस्था में यह इसमें व्यक्तिगत भिन्नता होती है। विकास की गति भी कम–ज्यादा हो सकती है।

पर जब हम विकास के पक्षों की बात करते हैं, तो उसे कुछ मुख्य पक्षों में बाँटा जा सकता है। ये आयाम निम्न हैं–

1. शारीरिक विकास व गतिपरक योग्यताओं का विकास
2. मानसिक विकास–इसके अन्तर्गत निम्न विकास आते हैं।
   - अ) भाषाई विकास
   - ब) सर्जनशीलता का विकास
   - स) संज्ञानात्मक विकास
   - द) बौद्धिक विकास
   - इ) संवेदना व प्रत्यक्ष बोध का विकास
3. सामाजिक विकास
4. संवेगात्मक विकास तथा

5. नैतिक विकास

उपर्युक्त आयामों अथवा पक्षों पर चर्चा के साथ हम इन विकास पक्षों के निर्धारक कारकों का ज्ञान भी प्राप्त करेंगे।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप–

- मानव विकास के विभिन्न पक्षों/आयामों का प्रत्यास्मरण कर सकेंगे।
- शारीरिक विकास चक्रों के नाम बता सकेंगे।
- शारीरिक विकास के निर्धारकों की सूची बना सकेंगे।
- मानसिक विकास के अन्तर्गत होने वाले परिवर्तनों में अन्तर बता सकेंगे।
- मानसिक विकास को प्रभावित करने वाले कारकों को पहचान सकेंगे।
- सामाजिक विकास के मापदण्डों को लिख सकेंगे।
- सामाजिक विकास के निर्धारकों की व्याख्या कर सकेंगे।
- विभिन्न अवस्थाओं में संवेगात्मक विकास का अभिज्ञान कर सकेंगे।
- नैतिक विकास में मूल्यों, अनुशासन, दण्ड व पुरस्कार के महत्व को पहचान सकेंगे।

3.3 मानव विकास के विभिन्न पक्ष आयाम

मानव विकास एक सतत् प्रक्रिया है। विकास विभिन्न अवस्थाओं में होता है। यथा शैशवास्था, बाल्यावस्था, किशोरावस्था आदि। प्रत्येक अवस्था में बालक के व्यवहार में कुछ परिवर्तन होता है। इन परिवर्तनों के आधार पर मानव विकास को निम्नलिखित पक्षों में विभक्त किया जा सकता है–

1. **शारीरिक विकास**–इसके अन्तर्गत शारीरिक आकार, अनुपात, हड्डियों, दाँतों व तन्त्रिका तंत्र का विकास, आन्तरिक अंगों का विकास प्रमुख है। इसके अलावा क्रियात्मक योग्यताओं (motor abilities) का विकास भी शारीरिक विकास का भाग हैं, क्योंकि इसके द्वारा शारीरिक गतियों पर नियंत्रण किया जाता है।

2. **मानसिक विकास**– इसके अन्तर्गत सभी मानसिक शक्तियाँ आती हैं। संवेदना, प्रत्यक्षबोध, प्रत्यय निर्माण, सर्जनशीलता, संज्ञानात्मक विकास व बोध, भाषाई विकास, बुद्धि विकास– सभी मानसिक विकास के अंग हैं। इन्हें कई विद्वानों ने अलग–अलग माना है, पर हम मानसिक विकास के अन्तर्गत ही इनका अध्ययन करेंगे।

3. **सामाजिक विकास**–सामाजिक विकास के अन्तर्गत सामाजिक अन्तःक्रिया, सहभागिता, समायोजन, अनुरूपता व परिपक्वता सभी आते हैं। विकास की सभी अवस्थाओं में हम सामाजिक विकास के आयाम पर चर्चा करेंगे।

4. **संवेगात्मक विकास**– संवेगों का सम्बन्ध व्यक्ति के भावात्मक पक्ष से होता है। संवेग मूल–प्रवृत्तियों से प्रेरित होते हैं। संवेगों का व्यवहार पर स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। संवेगात्मक विकास से हमारा तात्पर्य है कि बालक में संवेगों की समझ उत्पन्न कर उन्हें नियंत्रित करने का प्रशिक्षण किया जाये। वांछित संवेगों को प्रोत्साहन व सामाजिक स्वीकृति तथा अवांछित को नियंत्रित करने का प्रयास किया जाना चाहिए।

5. **नैतिक विकास**– नैतिक विकास प्रत्येक समाज के अपने आदर्श मानदण्डों के अनुरूप होता है। समाज व संस्कृति के निर्धारित मूल्य, उनके पालन के लिये अनुशासन, नैतिक विकास में दण्ड व पुरस्कार का प्रयोग–इनके माध्यम से प्रत्येक समाज व्यक्तियों का नैतिक विकास करने का प्रयास करता है।

3.4. शारीरिक विकास

शारीरिक विकास जीवन की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रक्रिया है। इसका बालक के व्यवहार व कौशल पर प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष– दोनों रूपों में प्रभाव पड़ता है। शारीरिक विकास का प्रत्यक्ष प्रभाव हम बालक के कार्य करने की योग्यता में देख सकते हैं। शारीरिक विकास के कारण बालक में अपने तथा अन्य के प्रति अभिवृत्तियाँ निर्मित होती हैं, जो उसके समायोजन को प्रभावित करती है। यथा– यदि बालक लम्बाई में छोटा है, तो बहुत से खेलों में भाग नहीं ले पाता, जैसे बास्केटबाल। इससे उसके मन में अपने प्रति हीन भावना जाग्रत हो सकती है, जो उसके समायोजन को प्रभावित करती है।

मेरीडिथ (1940) ने लिखा है–"गर्भावस्था के प्रारम्भ एंव वृद्धावस्था की समाप्ति के बीच घटने वाली शारीरिक व दैहिक परिवर्तनों की सम्पूर्ण श्रृंखला को शारीरिक वृद्धि या विकास कहा जाता है।"

शारीरिक विकास गर्भाधान से परिपक्वता स्तर तक का विकास है। इसे दैहिक परिवर्तनों की सम्पूर्ण श्रृंखला कहा जा सकता है। इसकी एक सीमा है– पूर्ण परिपक्वता। शारीरिक विकास क्रमबद्ध रूप में होता है। विभिन्न शारीरिक परिवर्तनों की गति अलग–अलग होती है। शारीरिक विकास का व्यवहार की गुणवत्ता व समायोजन से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। प्रतिकूल परिस्थितियों से शाररिक विकास की गति अवरूद्ध हो जाती है।

3.4.1 शारीरिक विकास चक्र–

शारीरिक विकास की प्रक्रिया निश्चित गति से न होकर विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न गतियों से होती है। वृद्धि प्रक्रिया में पायी जाने वाली इन विशेषताओं को वृद्धि चक्र कहते हैं। इनका एक निश्चित क्रम होता है तथा उनका पूर्वानुमान भी किया जा सकता है।

मनोवैज्ञानिक टैनर (Tanner, 1970) तथा मेरेडिथ (Meredith 1975) ने चार प्रकार के वष्द्धि चक्रों का उल्लेख किया है, जिनमें दो में मन्द गति से व दो में तीव्र गति से विकास होता है। इसे चित्र द्वारा इस प्रकार प्रदर्शित कर सकते हैं।

चित्र 3.1 शारीरिक विकास चक्र

विकास की गति	चक्र	अवधि
तीव्र	1	गर्भाधान से 2 वर्ष तक
मंद	2	दो वर्ष से यौवनारम्भ तक
तीव्र	3	यौवनारम्भ से 16 वर्ष तक
मंद	4	16 वर्ष से परिपक्वत प्राप्ति तक

उपुर्यक्त चित्र द्वारा यह स्पष्ट है कि चार प्रकार के वृद्धि चक्रों की अवधि गर्भाधान से लेकर परिपक्वता तक चलती है और इनमें गतियाँ भी कभी तीव्र व कभी मंद होती है। यद्यपि विकास की अवधियाँ व गति क्रमबद्ध व पूर्व कथनीय होती है, फिर भी कुपोषण, बीमारी, संवेगात्मक तनाव, एक साथ कई बच्चों का जन्म आदि के कारण वृद्धि चक्रों का अनुमानित समय घट–बढ़ सकता है।

वृद्धि की विभिन्न अवधियों का बालक के समायोजन व व्यवहार पर कई रूपों में प्रभाव पड़ता है। यथा–

- विकास की मंद गति के समय समायोजन अपेक्षाकृत सरल होता है।
- तीव्र विकास की दशा में शारीरिक ऊर्जा खर्च होती है, बच्चे थकते व चिड़चिड़े हो जाते है। उन्हें समायोजन के अधिक विकल्प ढूंढने होते हैं।
- कुपोषण विकास की गति मंद कर देता है।
- तीव्र विकास की गति में आंतरिक संतुलन भी बाधित होता है।

3.4.2 गर्भकालीन शारीरिक विकास–

गर्भावस्था में होने वाले शारीरिक विकास की अवधि गर्भाधान से लेकर 280 दिनों तक चलती है। गर्भाधान के समय अण्डाणु व शुक्राणु संयोग से एक नवीन कोशिका (Cell) का निर्माण होता है। यह कोशिका ही नवीन जीवन का प्रारम्भ है। इसमें विभाजन व वृद्धि से असंख्य कोशिकाओं का निर्माण होता है, जिनसे शरीर के विभिन्न अंग बनते हैं। यह प्रक्रिया तीन अवस्थाओं में होती है, जिनके विषय में हमने पिछली इकाई में चर्चा की है।

बीजावस्था अथवा अण्डाणु अवस्था प्रथम अवस्था है। गर्भाधान के फलस्वरूप जो डिम्ब बनता है, उसे अण्डाणु कहते है। गर्भाधान के समय '23 जोड़े गूणसूत्रों (Chromosomes) का जो संगम होता है उसमें 80,000 से 1,20,000 तक जीन्स पाये जाते हैं। ये ही शिशु की विभिन्न शारीरिक व मानसिक विशेषताओं के निर्धारक होते हैं। कोशिका विभाजन आरम्भ होने के पश्चात् भी अण्डाणु का आकार बढ़ता नहीं है क्योंकि इसे किसी स्त्रोत से पोषक तत्व मिलते नहीं है। 7–8 दिन तक डिम्बाणु गर्भाशय में तैरता रहता है। दसवें दिन के करीब वह गर्भाशय की दीवार से चिपक जाता है। इसके बाद पोषक तत्व माँ के गर्भाशय से मिलने लगते हैं।

द्वितीय अवस्था भ्रूणावस्था में विकास तीव्र गति से होता तथा दिखाई भी देता है। यह अवधि दूसरे सप्ताह के अंत अर्थात् 14–15 वें दिन से 2 माह तक चलती है। इस अवधि में विभिन्न शारीरिक अंगों के निर्माण की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। इस समय सिर का आकार बहुत बड़ा होता है। भ्रूण की संरचना तीन परतों से होती है– वाह्य, मध्य व अन्तःपरत। वाह्य से वाह्य अंग मध्य से आन्तरिक मांसपेशियाँ तथा अन्तःपरत से आंतरिक अंगों का निर्माण होता है। दूसरे महीने के अंत तक भ्रूण की पहचान सरलता से की जा सकती है। भ्रूण की लम्बाई 1.5 से 2 इंच व वजन लगभग 1 औंस हो जाता है। जननांगों का निर्माण शुरू हो जाता है और भ्रूण को देखकर उसके लिंग का पता किया जा सकता है।

तृतीय अवस्था गर्भस्थ शिशु की अवस्था है। यह अवधि तृतीय माह से प्रारम्भ होकर जन्म तक चलती है। इसमें शरीर के विभिन्न वाह्य अंगो, आन्तरिक अंगो तथा तन्त्रिका तंत्र, ग्रंथियों, मांसपेशियों, कंकाल आदि का आवश्यक विकास हो जाता है। शोधों के अनुसार पाँचवें माह में शिशु का वजन 10 औंस तथा लम्बाई 10 इंच तथा आठवें माह में 7 या 7.5 पौण्ड व लम्बाई 20 इंच हो जाती है। ज्ञानेन्द्रियों का विकास भी इस समय हो जाता है। आँख से देखने की क्षमता जन्म के बाद ही पूर्ण विकसित होती है। शिशु गर्भ में ही सुनने लगता है। पर, यह क्षमता जन्म के कुछ सप्ताह पहले ही विकसित होती है। आधुनिक युग में सामाजिक नेटवर्क (फेसबुक) पर कुछ दिन पहले एक वीडियों क्लिप आई है, जिसमें गर्भस्थ शिशु माँ के गाना गाकर ताली बजाने पर ताली बजाता दिखाया गया है। प्राचीन युग में भारत में अभिमन्यु ने भी माँ के गर्भ में ही चक्रव्यूह में प्रवेश करना सुन कर सीख लिया था। अतः गर्भस्थ शिशु में सुनने की क्षमता विकसित हो जाती है– इसके प्रमाण मौजूद है।

गर्भस्थ शिशु के सिर के क्षेत्र में गतिविधियाँ गर्भ के शुरू के दिनों में होती है, पर बाद में हाथों–पैरों के क्षेत्र में इनका प्रभाव बढ़ जाता है।

गर्भकाल में शारीरिक विकास निम्न कारकों से प्रभावित होता है–

- **पोषक तत्व**– संतुलित भोजन से संतुलित विकास होता हैं न ज्यादा न कम भोजन उचित है। ज्यादा से शिशु मोटा होता है और माँ को शारीरिक कष्ट होता है। कम व असंतुलित भोजन शिशु को दुर्बल करता है व विकास पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है।
- **गर्भकालीन बीमारियाँ**– इस समय माँ के स्वास्थ्य के साथ शिशु का स्वास्थ्य जुड़ा होता है। लम्बी बीमारी से गर्भपात भी हो सकता है। कभी–कभी इसी कारण से समय से पूर्व शिशु का जन्म भी हो जाता है। इस समय दवाओं का प्रयोग यदि अत्यन्त आवश्यक हो तभी और डाक्टर के निर्देशन में ही करना चाहिए।
- **मादक द्रव्यों का प्रभाव**– माँ के मादक द्रव्यों का प्रयोग करने से शिशु की शारीरिक व मानसिक योग्यताओं के विकास पर बुरा प्रभाव पड़ता है। अक्सर

ऐसी माताओं के बच्चे समय से पूर्व पैदा हो जाते है। गोल्डस्टीन (1971) का निष्कर्ष है कि अधिक धूम्रपान करने वाली महिलाओं के बच्चों की ऊँचाई प्रायः कम होती है।

- **गर्भकालीन मानसिक तनाव–** गर्भावस्था में माँ का मानसिक, तनाव शिशु की मानसिक सक्रियता व मानसिक विकास पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है। शोधों के अनुसार ज्यादा तनाव में रहने वाली माँओं के शिशु रोते ज्यादा हैं।
- **माता–पिता बनने की आयु का प्रभाव–** परिपक्वता प्राप्ति के बाद माता–पिता बनने वाले लोगों के बच्चे तीव्र वृद्धि के होते हैं। कम आयु में बच्चे होने से बच्चों की शारीरिक वृद्धि असंतोषजनक तथा मानसिक योग्यता कम होती है। (स्टीकल 1931 के अनुसार)

3.4.3 जन्मोपरान्त शाररिक विकास

3.4.3.1 नवजात शिशु विकास

जन्म के 30 मिनट से दो सप्ताह तक नवजात शिशु अवस्था होती है। नवजात शिशु की तीन विशेषतायें होती हैं– शारीरिक आकृति, असमर्थता व वैयक्तिता। जन्म के समय शिशु का वजन 7.5 पौण्ड औसतन अथवा कुछ कम 4–5 पौंड या ज्यादा 14–15 पौंड तक हो सकता है। लम्बाई 17'' से 21'' तक हो सकती है। बालक बालिकाओं से ज्यादा लम्बे होते हैं। नवजात की सिर की लम्बाई शरीर की लम्बाई की 1/4 तथा खोपड़ी व चेहरे का अनुपात 8:1 होता है। नवजात का चेहरा चौड़ा व छोटा, जबड़े अविकसित तथा नाक चौरस होती है। हाथ–पैर व धड़ छोटे होते हैं। पेट लम्बा, बाहर निकला व कंधे संकुचित होते है। उसकी मांसपेशियाँ छोटी, मुलायम व अनियंत्रित होती है। हाथों की मांसपेशियों की तुलना में पैर व गर्दन की मांसपेशियाँ कम विकसित होती है।

इस अवधि में शिशु योग्यताओं की दृष्टि से असहाय व असमर्थ होता है। शिशु को शारीरिक संतुलन व पेशीय क्रियाओं की समस्या होती है। क्रन्दन उसकी अकेली भाषा होती है। उसकी सभी ज्ञानेन्द्रियाँ विकसित नहीं होती हैं। शिशु की दृष्टि पूर्ण विकसित नहीं होती है। उनमें अधिगम योग्यता का अभाव होता है, अतः समायोजन की समस्या होती है। कुछ शिशु दूध पीना भी नहीं जानते हैं। प्रारम्भ में शिशु दोनों आँखों से दो तरफ देखता है।

नवजात शिशु की तीसरी विशेषता उसकी वैयक्तिता है। कोई भी दो शिशु समान नहीं होते, चाहें वे यमज (Twins) ही क्यों न हो। उनमें भी अन्तर होता है। प्रत्येक शिशु अपने ढंग का अनूठा व अकेला होता है।

शारीरिक विकास के अन्तर्गत निम्न पक्ष आते हैं–

3.4.3.2 शारीरिक आकार– शारीरिक आकार के अन्तर्गत लम्बाई व वजन आते हैं। नवजातु शिशु की लम्बाई (ऊँचाई) पर यद्यपि आनुवंशिकता, लिंग व प्रजाति का प्रभाव पड़ता है, फिर भी शिशु औसतन जन्म के समय 17'' से 19'' लम्बा होता है।

दो वर्षों तक ऊँचाई में अधिकतम वृद्धि होती है। शुरू के चार महीनों में वह 2.5 से 3.5 इंच लम्बा होता है और उसकी लम्बाई 23–24 इंच हो जाती है। आठ माह में 26–28 इंच व एक वर्ष में 28–30 इंच लम्बा हो जाता है। दूसरे वर्ष में लम्बाई में 4 इंच वृद्धि होती है और वह लगभग 32–34 इंच का हो जाता है। इसके बाद वृद्धि की गति मंद हो जाती है। प्रतिवर्ष 3 इंच की वृद्धि होती है। 6 वर्ष के अंत तक बच्चे की ऊँचाई जन्म के समय की ऊँचाई की दो गुना हो जाती है। (मेरेडिथ, 1975, टैनर 1970, लैम्प आदि, 1992, टैनर 1990)।

इसके बाद यौवनारम्भ (Puberty) तक ऊँचाई की वृद्धि की गति मंद किन्तु एक सी होती है। प्रायः 2 इंच की दर से वृद्धि होती है। प्रायः लड़कों में 12 से 17 वर्ष तक तथा लड़कियों में 10 से 14 वर्ष की आयु तक वृद्धि की गति अच्छी रहती, बाद में मंद हो जाती है। 18 से 20 वर्ष तक ऊँचाई में पूर्ण वृद्धि हो जाती है। लड़कियों की ऊँचाई सम्बन्धी वृद्धि लड़कों से पहले पूरी हो जाती है। लड़के लड़कियों से ज्यादा लम्बे होते हैं।

वजन के संदर्भ में कहा जाता है कि जन्म के समय लड़कियों का वजन लड़कों से प्रायः कम रहता है। जन्म के प्रथम सप्ताह में शिशु का वजन कम होता है। इसका कारण जन्म के पश्चात् मिलने वाले पोषक तत्वों में परिवर्तन होता है तथा उसे स्वयं प्रयास कर भोजन पाना होता है। प्रथम माह के अन्त तक वजन में वृद्धि आरम्भ हो जाती है। चौथे महीने तक उसका वजन जन्म के वजन से दूना हो जाता है। 9 माह की आयु में शिशु 16 से 18 पौण्ड का हो जाता है। तथा प्रथम वर्ष पूरा होने पर प्रायः 21 पौण्ड का हो जाता है। दूसरे वर्ष में उसे 25 पौण्ड तथा तीसरे में 29–30 पौण्ड का होना चाहिये। बालकों के वजन में तीसरे से बारहवें वर्ष तक 3–5 पौण्ड की वृद्धि प्रति वर्ष रहती है। लड़के कुछ वर्षों को छोड़कर लडकियों से ज्यादा भारी होते हैं।

3.4.3.3 शारीरिक अनुपात (Body Proportion)– आयु में वृद्धि के साथ शारीरिक अनुपात में परिवर्तन होता रहता है। प्रायः 16–17 वर्ष की आयु में शरीर के विभिन्न भागों में परिपक्व अनुपात आ जाता है और व्यक्ति वयस्कों की तरह दिखने लगता है।

- **सिर** –जन्म के पष्चात् सिर के आकार में समानुपाती वृद्धि शरीर के अन्य भागों की तुलना में कम होती है। ऐसा इसलिये होता है कि अधिकांश विकास जन्म से पहले हो चुका रहता है। 6′ के व्यक्ति के सिर की उचित लम्बाई प्रायः 8–9″ होती है। जन्म व परिपक्वता के बीच सिर की लम्बाई जन्म के समय की लम्बाई से दो गुनी हो जाती है। शरीर के साथ सिर के आकार का अनुपात जन्म के समय से घटता जाता है। जन्म से परिपक्वता तक सिर का आकार कम बढ़ता है, अन्य अंगों का ज्यादा बढ़ता है।

- **चेहरा (Face)** –चेहरे के ऊपर का हिस्सा जल्दी पूर्णता प्राप्त करता हैं चेहरे का ढाँचा (Facial skaleton) सात वर्ष की आयु तक विकसित हो जाता है। इससे चेहरे से बालक के बड़े होने का बोध होने लगता है। परिपक्वता तक स्थायी दाँत निकलते रहते हैं और ठोढ़ी, जबड़ा, होंठ तथा आंतरिक अंग विकसित होने लगते हैं। आयु के

साथ–साथ माथा चौड़ा होता, नेत्र गोलक पूर्णता प्राप्त करने लगते हैं। नाक सबसे बाद में विकसित होती है। मुखाकार गोल के बजाय अण्डाकार होने लगता है। लड़कों में 13–14 वर्ष मे यह परिपक्वता आ जाती है।

- **धड़ (Trunk)**– शारीरिक सन्तुलन के लिये धड़ का विकास आवश्यक है। छठवें वर्ष में धड़ का आकार जन्म में तुलना में दोगुना हो जाता है। बच्चे धीरे–धीरे पतले होते हैं। यौवनारम्भ के बाद शरीर पुनः फैलता है। धड़ के विकसित होते समय छाती, कंधे व गुर्दों व कूल्हों की हड्डियाँ भी विकसित होती है। किशोरावस्था के 14 से 17वें वर्ष के मध्य वृद्धि सर्वाधिक होती है और इस अवधि में लड़के और लड़कियों में लैंगिक अन्तर स्पष्ट दिखने लगता है।

- **हाथों व पैरों का विकास (Development of Arms & Legs)**– शरीर के अन्य अंगों की अपेक्षा हाथ व पैरों में वृद्धि धीरे–धीरे होती है। 14–15 वर्षों तक इनका विकास पूर्ण हो जाता है। व्यक्ति की लम्बाई व पैरों के आकार में अनुपात रहता है।

3.4.3.4 हड्डियाँ (Bones) –बालक की हड्डियाँ छोटी व कोमल होती है। धीरे–धीरे उनका आकार बढ़ता व नई हड्डियों का भी विकास होता है। जन्म की प्रारम्भिक अवस्था में 270 हड्डियाँ होती हैं, जो 14 वर्ष की आयु पर 350 हो जाती हैं। फिर कुछ हड्डियाँ समाप्त हो जाती हैं और प्रौढ़ावस्था तक इनकी संख्या 206 रह जाती है। शिशु की हड्डियाँ लचीली होती हैं। उनमें धीरे–धीरे कड़ापन आता है व वे मजबूत होती हैं। हड्डियों में सख्ती थायरॉयड ग्रन्थियों से निकलने वाले स्त्राव से आती है। पोषण व हड्डियों की मजबूती में पारस्परिक सम्बन्ध है। फॉस्फोरस, कैल्षियम व खनिज नमक हड्डियों के विकास के लिये आवश्यक है।

3.4.35 दाँत (Teeth)–बच्चों के पहले अस्थायी दाँत आते हैं जिनकी संख्या 20 होती है। तत्पश्चात् स्थायी दाँत आते हैं, जिनकी संख्या 32 होती है। शिशुओं में अस्थायी दाँत 6 से 8 महीने के बीच आते हैं। नौवें माह में तीन–चार और 2–2.5 वर्ष में सभी 20 दाँत आ जाते हैं। ये दाँत आकार में छोटे होते हैं। लड़कियों में लड़कों से पहले दाँत आते हैं। निचले जबड़े में दाँत पहले आते हैं, फिर ऊपरी जबड़े में आते हैं। अस्थायी दाँतों की अवधि पूरी होने पर स्थायी दाँतों के निकलने की प्रक्रिया आरम्भ होती है तथा तेरहवें वर्ष तक 27 या 28 स्थायी दाँत आ जाते हैं। अन्तिम चार दाँत (Wisdom Teeth) 17 से 25 वर्ष की बीच निकलते हैं।

3.4.3.6 माँसपेशियाँ तथा वसा (Muscles & Fat)– बालक के भार की वृद्धि मांसपेशियों के तन्तुओं से अधिक तीव्र होती है। शरीर का भार मांसपेशियों से भी बढ़ता है वसा से भी। बाल्यावस्था में माँसपेशियों में जल अधिक होता है। धीरे–धीरे इनमें जल कम हो जाता है व दृढ़ता आने लगती है। मांसपेशियों में वृद्धि वंशानुक्रम के साथ–साथ बालक की खाने की आदतों पर भी निर्भर होती है। वसायुक्त पदार्थों को खाने से भी वजन व चर्बी बढ़ती है।

3.4.3.7 तन्त्रिका–तंत्र का विकास (Development of Nervous system)–

गर्भावस्था व जन्म के बाद 3–4 वर्षों में तंत्रिका तंत्र के विकास की गति बहुत तीव्र होती है। गर्भावस्था में स्नायु कोशिकाओं की संख्या व आकार में काफी वृद्धि होती है। जन्म के उपरान्त इन अपरिपक्व कोशिकाओं का विकास तेजी से होता है। 3–4 वर्षों के बाद इनकी गति धीमी हो जाती है।

तंत्रिका तंत्र का प्रमुख भाग मस्तिष्क है। इसका विकास जन्म से 4 वर्षों तक तीव्र गति से होता है। अगले चार वर्ष इसकी विकास गति मन्द हो जाती है। पुनः 8 वर्ष से 16 वर्ष तक विकास गति में तेजी आती है। इस समय मस्तिष्क का आकार परिपक्वता प्राप्त कर लेता है। मस्तिष्क व तंत्रिका तंत्र के विकास का बालक के व्यवहार व क्रियाओं पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। अनुमस्तिश्क (Cerobellum) संतुलन का कार्य करता है, जबकि वृहद मस्तिष्क (Cerebrum) से मानसिक कार्य प्रभावित होते हैं।

3.4.3.8 आंतरिक अवयव (Internal Organs)–आयु में परिवर्तन के साथ आंतरिक अंगों का विकास भी होता रहता है। बच्चों के वजन में वृद्धि इन अंगों में विकास के कारण भी होती है। इन आंतरिक अंगों में श्वसन प्रणाली, रक्त संचार प्रणाली तन पाचनतंत्र प्रमुख हैं। जन्म के समय फेफड़े छोटे तथा छाती की परिधि कम होती है। फेफड़ों का भार व आयतन भी कम होता है। हृदय छाती में लम्बात्मक होता है। किशोरावस्था में इसका वजन बढ़ता है तथा रक्तनलियों का आयतन बढ़ जाता है। नाड़ी की गति में भी परिवर्तन आता है। बचपन में 120 –140 प्रति मिनट की गति से चलने वाली नाड़ी की गति युवावस्था में 72 प्रति मिनट हो जाती है। पाचन अंग बचपन में कोमल होते हैं पर युवावस्था में वे कठोर हो जाते है। स्नायु संस्थान का आकार भी आयु के विकास के साथ–साथ होता है। आंतरिक विकास के अन्तर्गत स्नायु मण्डल, ष्वास प्रणाली, गुदा व मूत्राशय का विकास आता है। बचपन में अमाशय छोटा होता है पर युवावस्था तक परिपक्व हो जाता है। लड़कों की पाचन क्षमता लड़कियों की अपेक्षा अधिक होती है।

3.4.3.9 – किशोरावस्था में विशेष शारीरिक लक्षण (Special Physical Characteristics In Adolescence)– किशोरावस्था में कुछ विशिष्ट शारीरिक परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं। उनमें से प्रमुख निम्न हैं।

- **शारीरिक परिवर्तन**–11 से 14 वर्ष की आयु में लड़कियों की लम्बाई लड़कों की अपेक्षा ज्यादा बढ़नी आरम्भ हो जाती है। किशोरों के वजन में भी 10 से 15 पौंड तक की वृद्धि एक वर्ष में हो जाती है। लड़कियों का वजन ज्यादा बढ़ता है। किशोरावस्था में स्थायी दाँत आ जाते हैं। लड़कियों के स्थायी दाँत भी लड़कों से पहले आते हैं।
- **आवाज में परिवर्तन**– लड़कों की आवाज में भारीपन होता है व कर्कशता आ जाती है। लड़कियों की आवाज मीठी व सुरीली हो जाती है। किशोरों में चंचलता समाप्त हो जाती है। वे अपने शरीर के प्रति सचेत हो जाते है।
- **हड्डियों में दृढ़ता**– किशोरावस्था में हड्डियों का लचीलापन समाप्त होने

लगता है तथा वे दृढ़ व परिपक्व हो जाती हैं। हड्डियाँ गोल हो जाती हैं। लड़कियों के कूल्हों की हड्डियों के पास चर्बी एकत्र हो जाती है तथा वे भारी हो जाते हैं। चेहरे की रचना में स्थिरता आती है। चेहरे पर मुहाँसे निकलने लगते हैं। लड़कियाँ बच्ची न लगकर युवती लगने लगती है।

- **बालों का उगना**– किशोरावस्था में शरीर के विभिन्न अंगों पर बाल उगने लगते हैं। ये बाल शरीर के विभिन्न अंगों जैसे बगल (armpit) तथा गुप्तांग पर उगने लगते हैं। लड़कों की छाती पर तथा चेहरे पर मूँछ व दाढ़ी के बाल आ जाते हैं। किशोरों के पसीने में एक विशेष गंध होने लगती है।

- **प्रजनन अंगों का विकास**– यह किशोरावस्था की सबसे महत्वपूर्ण देन है। गोनाड्स (Gonad) ग्रंथियाँ अपना कार्य आरम्भ कर देती हैं। इसके फलस्वरूप प्रजनन अंग पूर्ण विकसित हो जाते हैं तथा प्रजनन क्षमता का विकास हो जाता है।

- **वक्षस्थल का विकास** –लड़कियों में किशोरावस्था होने पर वक्षस्थल का विकास होता है। लड़कों की छाती चौड़ी हो जाती है, बाल आने लगते हैं और छाती के निप्पल (Nipples) भी कुछ विकसित हो जाते हैं।

- **रजःस्त्राव (Menustration) तथा वीर्यपात (Nightfall)**– किशोरावस्था में शारीरिक परिपक्वता की पहचान लड़कियों में रजःस्त्राव अथवा मासिक धर्म के होने से होता है। लड़कों में पहला वीर्यपात उनके शारीरिक विकास की परिपक्वता की पहचान होता है। मासिक धर्म प्रायः 12 से 16 वर्ष के बीच होता है। इसके देर या शीघ्र आरम्भ होने पर देश की जलवायु, परिवार की आर्थिक, सामाजिक व संवेगात्मक स्थिति का प्रभाव पड़ता है।

- **आंतरिक अंगों का विकास**– किशोरावस्था में शरीर के आन्तरिक अंगों का भी विकास हो जाता है। इस आयु में मस्तिष्क (Brain), हृदय (Heart), श्वास, पाचन क्रिया तथा स्नायु संस्थान (Nervous system) का पूर्ण विकास हो जाता है। लड़कियों के रक्तचाप में वृद्धि नहीं होती, जबकि लड़कों का रक्तचाप (Blood-pressure) 26 की आयु से बढ़ना प्रारम्भ हो जाता है। इस आयु में शक्ति आ जाती है तथा रोग–प्रतिरोध क्षमता उत्पन्न हो जाती है।

3.4.4 गतिपरक योग्यताओं का विकास (Development of Motor Abilities)–

गतिपरक योग्यताओं को क्रियात्मक अथवा गामक योग्यताओं के नाम से भी पुकारा जाता है। शारीरिक विकास के अन्तर्गत हमने मांसपेशियों के विकास की भी चर्चा की है। गतिपरक योग्याताओं के विकास से हमारा अर्थ पेशियों के नियन्त्रण से है। पेशियों के माध्यम से विभिन्न शारीरिक गतिविधियाँ –यथा चलना, दौड़ना, उछलना, सीढ़ियाँ चढ़ना, वस्तुओं को पकड़ना व उठाना, लिखना आदि सम्पन्न की जाती हैं। पेशीय नियन्त्रण जन्म से नहीं होता। कुछ समय बाद विकसित होता है।

हरलॉक (1978) के अनुसार, "स्नायु केन्द्रों, स्नायुओं एवं मांसपेशियों की

समन्वित क्रियाओं के माध्यम से शारीरिक गतियों पर नियन्त्रण विकसित करना ही गतिपरक विकास है।" इस प्रकार यह स्पष्ट है कि गतिपरक विकास का अर्थ यादृच्छिक व निरर्थक गतियों के स्थान पर क्रमबद्ध व सार्थक गतियों का प्रदर्शन करने की क्षमता से है। विभिन्न प्रकार के कौशलों को सीखने के लिये इस योग्यता का विकास उचित स्तर तक होना आवश्यक है।

विकास के नियमानुसार गतिपरक विकास भी मस्तकाधोमुखी अनुक्रम (Caphalocaudal Sequaence) सिर से पैर की ओर में होता है। इसके अलावा निकट दूर अनुक्रम (Proximodistal Sequence) के अनुसार भी पहले अंगों के केन्द्रीय भाग तथा फिर दूरस्थ भागों में होता है। यथा, पहले भुजाओं में फिर उंगलियों में होता है।

गतिपरक विकास के अनुक्रम को चार भागों में बाँट सकते हैं। इन्हें सिर के क्षेत्र, भुजा, धड़ व पैरों का गतिपरक विकास कहते हैं।

सिर के क्षेत्र में पहले नेत्रों का गतिमान होना, मुस्कराना, हँसना व सिर का उठाना सम्भव होता है। आँखों में पहले क्षेतिजीय गति (Horizontal Movement) होती है। फिर ऊर्ध्वाकार नेत्र गति (Vertical eye movement) होती है। इसके बाद वृत्ताकार नेत्र समन्वय होता है। पलक झपकने की क्षमता जन्म से होती है पर प्रारम्भ में यह प्रतिवर्त क्रिया (Reflex Action) का परिणाम होती है। सिर उठाने की क्षमता पेट के बल लिटाने पर जल्दी आती है। 1 महीने का शिशु अपनी ठोढ़ी उठा सकता है, 2 महीने पर अपना सिर 80% तक उठा सकता है। पीठ के बल लेटकर सिर उठाना अभी कठिन होता है। 4 माह में सहारे से बैठता है। 7 माह में अपने आप बैठता है। आठ माह में शिशु खिसकना शुरू कर देते हैं। पहले यह पेट के बल होता है, फिर घुटनों के बल। 9 माह में वे पकड़ कर खड़े हो सकते हैं। 10 माह में खड़े होकर सहारे से चलना शुरू करते हैं। 11 माह में अपने आप खड़े होते हैं तथा 1 वर्ष में अपने आप चलने लगते हैं। इस प्रकार हाथ व पैरों में विकास होता है।

4–5 महीने में शिशु पकड़ने का प्रयास करने लगता है। 8–9 महीने में वस्तु उठाने लगता है। किसी वस्तु तक पहुँचकर उसे पकड़ने की योग्यता के लिये आँखों व हाथों का समन्वय आवश्यक है। यह क्षमता जन्म से नहीं होती। 6–7 माह की उम्र तक इसका विकास हो जाता है। आठवें मास से वे भोजन ग्रहण करने का प्रयास करने लगते हैं। दूध की बोतल पकड़ना, फिर चम्मच व कप का प्रयोग सीख लेता है। तीसरे वर्ष स्वयं भोजन कर सकता, तथा छठे वर्ष में भोजन सम्बन्धी सभी कार्य कर सकता है। चलने की क्षमता के बाद वे दौड़ना, कूदना, चढ़ना, तैरना, तीन पहिये की साइकिल चलाना, नृत्य व अन्य कौशल सीख लेते हैं।

3.4.5 शारीरिक विकास के निर्धारक–

शारीरिक विकास के प्रमुख निर्धारक निम्न हैं–

1. **शारीरिक दशा**–बीमारी, बच्चों के विकास को सबसे ज्यादा प्रभावित करती है। रिकेट्स, पोलियों चेचक, काली खाँसी, खसरा आदि विकास अवरूद्ध करता है।

2. **शारीरिक दोष**–यह आनुवंशिक हो सकते हैं या गर्भावस्था की प्रतिकूल दशाओं के कारण हो सकते हैं।

3. **कुपोषण**– कुपोषण के शिकार शिशुओं का विकास मंद होता है। कुपोषण से न केवल शारीरिक अपितु गतिपरक विकास भी प्रतिकूल रूप से प्रभावित होता है। जहाँ मातायें स्तनपान नहीं कराती हैं, वहाँ कुपोषण ज्यादा होता है।

4. **दुर्घटनायें**–इनके कारण भी शाररिक विकास अवरूद्ध होता है। बच्चे चंचल होते हैं और बिना देखे दौड़ते भागते हैं। कभी–कभी सिर में चोट आने से उसके दुष्परिणाम जीवन भर भुगतने होते हैं।

5. **वैयक्तिक भिन्नतायें**– शारीरिक व गतिपरक विकास पर वैयक्तिक भिन्नताओं का असर पड़ता है। यथा–बच्चों की लम्बाई पर उनके लिंग का तथा वंशानुक्रम का प्रभाव पड़ता है।

6. **हार्मोन का प्रभाव**–मानव विकास पर अन्तःस्त्रावी ग्रन्थियों (Eendocrine Glands) प्रबल प्रभाव पड़ता है। यथा थायरॉयड ग्रन्थि का स्त्राव मस्तिष्क की प्रारम्भिक वृद्धि तथा हड्डियों की वृद्धि को प्रभावित करता है।

7. **बच्चों की मानसिक योग्यता का प्रभाव**–गतिपरक विकास पर मानसिक योग्यता का असर पड़ता है। जो निम्न मानसिक योग्यता वाले होते हैं, उनका चलना, बैठना, बोलना, खड़े होना– सब देर से होता है। उच्च मानसिक क्षमताओं वाले बालक सब कार्य औसत आयु से पहले कर लेते हैं।

8. **अन्य कारक**– गतिपरक विकास के सम्बन्ध में शारीरिक आकार, चुस्त वस्त्र, प्रोत्साहन का अभाव, अधिगम के अवसरों की कमी, जटिल गतियों पर बल आदि अनेक ऐसे कारक हैं, जो गतिपरक विकास को अवरूद्ध करते हैं।

बोध प्रश्न

टिप्पणी–(क)– नीचे दिये गये रिक्त स्थान में अपने उत्तर लिखिये।

(ख)– इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर का मिलान कीजिये।

1. विकास के मुख्य आयामों के नाम लिखें।

....

....

....

2. शारीरिक विकास चक्रों की अवधि व उनमें विकास की गति का उल्लेख कीजिये।

....

....

....

3. अण्डाणु में कितने जोड़े गुणसूत्र होते हैं?

....

....

....

4. शारीरिक विकास के अन्तर्गत आने वाले पक्षों के नाम बतायें।

....

....

....

5. किशोरावस्था में कौन–कौन से विशेष शारीरिक लक्षण होते हैं?

....

....

....

6. गतिपरक योग्यता से आप क्या समझते हैं?

....

....

....

3.5 मानसिक विकास

मानसिक विकास एक सतत् प्रक्रिया है। विकास की सभी अवस्थाओं में वह निरन्तर चलती रहती है। मानसिक विकास से तात्पर्य मानसिक शक्तियों की वृद्धि से हैं। इसके अन्तर्गत संवेदना, प्रत्यक्षबोध, प्रत्यय निर्माण, अवलोकन, स्मृति, ध्यान, कल्पना, चिन्तन, तर्क, निर्णय, बुद्धि, भाषा, अधिगम क्षमता– सभी आते है। मानसिक विकास शरीर के अन्य विकास स्तरों के योग की अभिव्यक्ति हैं। बालक की क्रिया–प्रतिक्रिया से उत्पन्न व्यवहार से ही बालक के विकास का पता चलता है।

प्रारम्भ में चिन्तन, विचार ग्रहण, स्थान, समय, भार तथा दूरी आदि के प्रत्यय की सहायता से मानसिक विकास होता है। बालक अवलोकन व अनुकरण से सीखता है और मस्तिष्क में प्रारूप बना लेता है। नई परिस्थिति में अपने मानसिक प्रारूप से साम्य पाकर प्रतिक्रिया द्वारा व्यवहार प्रदर्शित करता है। उसका व्यवहार संवेदना, प्रत्यक्षबोध, स्मृति, कल्पना, तर्क आदि मानसिक व्यवहार को प्रदर्शित करता है। जैसे–जैसे बालक के व्यवहार प्रतिमानों में प्रगति होती है वैसे–वैसे प्रतिक्रियाओं में मानसिक विकास होने लगता है। आयु के साथ–साथ चिन्तन में लोच आने लगता है। संवेदना के विकास से प्रत्यय का विकास होता है। समाज के सम्पर्क में आने से भाषा विकसित होती है।

मानसिक विकास के अन्तर्गत हम प्रमुख रूप से निम्न क्षमताओं के विकास का अध्ययन करेंगे–

1. संवेदना व प्रत्यक्षबोध
2. संज्ञान
3. सर्जनशीलता
4. भाषा
5. बुद्धि

3.5.1 संवेदना व प्रत्यक्षबोध का विकास (Sensory and Perceptual Development)– संवेदना एक ऐसी मानसिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा बच्चों को किसी घटक की प्रथम जानकारी होती है। ''किसी ज्ञानवाही स्नायु के उत्तेजित होने पर जो सीधा तथा तात्कालिक अनुभव होता है, उसे संवेदना कहते हैं।'' (ड्रमौण्ड व मेलोन 1926) प्रत्येक संवेदना का आरम्भ किसी उद्दीपक से होता है। जैसे श्रवण (सुनने) की संवेदना के लिये ध्वनि (उद्दीपक) का होना आवश्यक है। दृष्टि (देखना) की संवेदना के लिये प्रकाश (उद्दीपक) का होना आवश्यक है।

प्रत्यक्षीकरण या प्रत्यक्षबोध (Perception) एक जटिल प्रक्रिया है। इसके द्वारा संवेदनाओं को अर्थ प्रदान किया जाता है। ''प्रत्यक्षीकरण एक ऐसा प्रक्रिया है जिसके द्वारा संवेदनाओं को जगत के आन्तरिक चित्रण के रूप में संगठित किया जाता है– एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया, जिसके द्वारा सांवेदिक सूचनाओं की व्याख्या की जाती है।'' रैथस (1984)

शिशुओं में दृष्टि संवेदना की योग्यता जन्मोपरान्त होती है। वे प्रकाश व अंधकार में अन्तर कर सकते हैं। प्रथम वर्ष के अंत तक रंगों के प्रति आकर्षित होते हैं। श्रवण संवेदना गर्भ में रहती, पर जन्म के बाद विकसित होती है। 3–4 माह में वे ध्वनि के प्रति ध्यानकेन्द्रित करते हैं। नवजात शिशुओं में स्वाद संवेदना होती है। वे मीठा व कड़वे में अन्तर कर पाते हैं। कड़वी चीज मुँह में डालने पर बाहर निकाल देते हैं। इसलिये बच्चों की दवायें मीठी बनाई जाती हैं। गन्ध संवेदना एक वर्ष की आयु तक विकसित हो जाती है। त्वचा से सम्बन्धित संवेदनायें– स्पर्श, दबाव, पीड़ा, शीत उष्ण–शिशु में जन्म से रहती है। उनमें आंतरिक संवेदना यथा भूख–प्यास जन्म से ही होती है। प्रत्यक्षबोध जन्म से नहीं होता। धीरे–धीरे वातावरण के साथ समायोजन से विकसित होता है। एक वर्ष की आयु में वह आकृतियों, प्रतिमानों, गति संकेतों पर ध्यान केन्द्रित कर पाते हैं, पर अर्थ नहीं समझ पाते। इस विकास के लिये अनुभव अत्यन्त आवश्यक है। मानसिक योग्यताओं के अविकसित रहने के कारण बाल्यावस्था में बच्चे सुखानुभूति नहीं कर पाते। वे सब वस्तुओं का मुँह में डालकर चूसते हैं और इससे सुख का अनुभव करते हैं। तीसरे वर्ष में बच्चे प्रश्नों द्वारा वसतुओं को समझने का प्रयास करता है। 4 वर्ष की आयु तक वह स्थिर–गतिशील, रंगीन व रंगहीन वस्तुओं को समझ लेता है। इस प्रकार प्रत्यक्षबोध का विकास परिपक्वता व अधिगम के परिणामस्वरूप सूक्ष्म तथा जटिल होता जाता है। इस आधार पर वह सूचना ग्रहण कर उसे संगठित करता है तथा उसकी व्याख्या करने में समर्थ होता

है। इस प्रकार उसमें परिपक्वता, योग्यता व अनुभव से प्रत्यक्षबोध का विकास होता जाता है।

3.5.2 संज्ञानात्मक विकास–

जन्म के समय शिशु में संज्ञानात्मक बोध का अभाव रहता है। जैसे–जैसे वह बड़ा होता है, अपने पर्यावरण के बारे में ज्ञान प्राप्त करता है। पर्यावरण की वस्तुओं को समानता व असमानता के आधार पर वर्गीकृत करने लगता है। इसे ही संज्ञानात्मक विकास कहते हैं। व्यक्ति अपने तथा पर्यावरण के बारे में मानसिक मानचित्र बनाता है। यह मानचित्र जितना अधिक गहन, वस्तुनिष्ठ, तार्किक, संगठित व सूक्ष्म होगा, उसका व्यवहार पर्यावरण के प्रति उतना उपयुक्त होगा। संज्ञानात्मक प्रक्रिया का प्रयोग जीवन के हर क्षेत्र में होता है। यह एक अर्जित योग्यता है। बालक के समाजीकरण के साथ इसका विकास होता है।

शैशवावस्था में बच्चा चित्रों को पहचान पाता व भाषा के प्रयोग से सम्प्रेषण करता है। सजीव व निर्जीव में अन्तर की योग्यता आती है। वसतुओं को वर्गों व उपवर्गो में विभक्त कर पाता है।

4 वर्ष से 7 वर्ष के मध्य दूसरों के व्यवहार की नकल, चित्र बनाना, गहराई का ज्ञान, वास्तविकता को महत्व, घटनाओं व कारणों में सम्बन्ध का अनुमान लगाना, आभास व वास्तविकता में अन्तर करना सीख लेता है।

7 से 11 वर्ष के बीच मूर्त वस्तुओं के विषय में संगठित चिंतन व तर्क करना, समस्याओं का समाधान, स्थानिक वस्तुओं को पहचानना, संज्ञानात्मक मानचित्र बनाना तथा निर्देश आदि क्षमताओं को प्राप्त कर लेता है।

11 से 20 वर्ष के मध्य उसमें तार्किक चिन्तन की योग्यता आ जाती है। अमूर्त चिन्तन की योग्यता का विकास भी हो जाता है। काल्पनिक संवेदनाओं का प्रदर्शन भी प्रारम्भ के वर्षों में होता है, पर बाद में इसमें कमी आ जाती है।

3.5.3 सर्जनशीलता का विकास–सर्जनशीलता चिन्तन का एक महत्वपूर्ण पक्ष है। सर्जनशीलता का अर्थ, सामान्य भाषा में, कुछ नया करने की योग्यता से है। सर्जनशीलता एक प्रक्रिया है, जिसमें मौलिकता (Originality), नम्यता (Flexibility), विलक्षणता (Uniquenes) तथा नवीनता (novelty) जैसे गुण सन्निहित है।

सर्जनशीलता का प्रदर्शन बचपन में खेलों के माध्यम से होता है। धीरे–धीरे अन्य क्षेत्रों में भी यह योग्यता प्रदर्शित होने लगती है। यथा, विद्यालयी कार्य, मनोरंजक क्रियायें, व्यावसायिक कार्य आदि।

सर्जनशीलता पर अनेक कारकों का प्रभाव पड़ता है। उनमें से मुख्य है–

- यौन भिन्नता
- व्यक्तिगत विशेषतायें
- सामाजिक आर्थिक स्तर

- परिवार में बच्चे की क्रमिक स्थिति
- परिवार का आकार
- नगरीय बनाम ग्रामीण परिवेश
- उपलब्धि प्रेरणा आदि

सर्जनशीलता को प्रोत्साहित करने के लिये कुछ बातों का ध्यान रखना चाहिए–

- खाली समय दिया जाये
- एकान्त की व्यवस्था हो
- प्रोत्साहित किया जाये
- प्रयोग के लिये आवश्यक सामग्री व उपकरणों की व्यवस्था हो।
- उपयुक्त परिवेश हो
- बालक में आत्मनिर्भरता की भावना हो
- ज्ञानार्जन का अवसर मिले
- लोकतांत्रिक पर्यावरण हो

3.5.4 भाषायी विकास–

''भाषा अन्य व्यक्तियों के साथ विचारों के आदान–प्रदान व सूचना–सम्प्रेषण की योग्यता है।'' ––हरलॉक

भाषा मनुष्यों को अन्य जीवों से अलग करती है। भाषा के द्वारा ही बालक का सामाजीकरण होता है। प्रत्यय निर्माण के लिये विकसित भाषा की आवश्यकता होती है। बोलने की क्षमता जन्मजात न होकर अर्जित प्रक्रिया होती है। जन्म के समय उपस्थित स्वर यंत्रों का बाद में विकास होता है। होठ, जीभ, दाँत, तालू आदि के संयोजन के परिणामस्वरूप बालक बोलने लगता है। बालक का सामाजिक परिवेश भी भाषा विकास के सहायक अंगों के विकास को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित करता है।

भाषा विकास कुछ अवस्थाओं के माध्यम से होता है– क्रन्दन, बलबलाना, हाव–भाव, आकलन शक्ति व शब्द प्रयोग। बच्चे का रोना भाषा विकास का प्रथम रूप माना जाता है। रोकर वह अपनी ओर ध्यान आकर्षित करता है। थकान, भूख, पीड़ा, भय, तीव्र प्रकाश व आवाज आदि से शिशु रोता है। भाषा की दृष्टि से शिशु पहले 'स्वर' अक्षरों का उच्चारण करता है। 3–4 माह की आयु में उसके स्वर यंत्रों में परिपक्वता आती है। वह स्वर व व्यंजन मिला कर बोलता है। यथा– ता(त् + आ) मा, ना आदि। इसे बलबलाने की क्रिया कहा जाता है। 9–10 माह तक वह इस अवस्था में रहता है। तीसरी स्थिति अपने अंगों के द्वारा अथवा हाव–भाव से शिशु अपने भावों को व्यक्त करता है। यथा– मुस्कुराना, किलकारी मारना, हाथ फैलाना, सिर झटकना, वस्तु पकड़ने को आगे बढ़ाना आदि।

चौथी अवस्था में उसमें आकलन शक्ति उत्पन्न होती है। दूसरे की क्रियाओं

एवं हाव–भाव को समझने की क्षमता को आकलन शक्ति कहते हैं। आकलन शक्ति का विकास शब्दों के प्रयोग के पूर्व हो जाता है। बालक पहले शब्दों को समझता है और फिर बोलता है। जिन शब्दों के साथ हाव–भाव जुड़े होते हैं, उन्हें बच्चा जल्दी सीख लेता है। यथा– 'चम्मच उठाओ' बोलने के साथ चम्मच उठाने का हाव–भाव दिखाया जाये तो शिशु जल्दी सीखता है। आकलन शक्ति के विकास के साथ उसके शब्द भण्डार में वृद्धि होती है। प्रारम्भ में वह सुने गये शब्दों को दोहराने का प्रयास करता है, फिर बोलना सीखता है। डेढ़ साल का शिशु 10–12 शब्द बोल लेता है। 2–2) वर्ष के बीच में 200–300 तथा तीन वर्ष में 1000 शब्द बोलने लगता है। विद्यालय जाने पर उसका शब्द भण्डार बढ़ता है। 3–4 वर्ष में बालक 4–5 शब्दों के वाक्य बोल लेता है। 5–6 वर्ष की आयु तक मिश्रित व संयुक्त वाक्यों का प्रयोग करने लगते हैं। भाषा विकास तब पूर्ण होता है, जब भाषा सम्बन्धी सभी अंग परिपक्व हो जाते हैं।

भाषा विकास को प्रभावित करने वाले मुख्य कारक हैं– शारीरिक संरचना, स्वास्थ्य, बौद्धिक स्तर, भाषाई अंगों की परिपक्वता, यौन भेद, सामाजिक–आर्थिक स्तर, पारिवारिक सम्बन्ध, व्यक्तित्व विशेषतायें, पुनर्बलन आदि।

3.5.5 बौद्धिक विकास–

बौद्धिक विकास भाषा की सहगामी क्रिया है। बौद्धिक विकास के द्वारा बालक के व्यक्तित्व के विकास का निर्धारण होता है। बौद्धिक क्षमता एक जन्मजात क्षमता है। दैनिक जीवन में मानसिक क्षमता का उपयोग हर समय होता है। विभिन्न प्रकार के विकासों व समायोजनों का बुद्धि से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। बुद्धि को कोई एक सर्वमान्य परिभाषा नहीं है।

किसी ने बुद्धि को 'समायोजन की योग्यता' (मन), किसी ने 'अधिगम की योग्यता' (वुडवर्थ), तो किसी ने 'अमूर्त चिन्तन की योग्यता' (टरमन) का नाम दिया। वेश्लर (1944) के अनुसार– ''तर्कपूर्ण चिन्तन करने, उद्देश्यपूर्ण क्रिया करने एवं अपने पर्यावरण के साथ प्रभावशाली ढंग से समायोजन करने की व्यक्ति की समग्र योग्यता को बुद्धि कहते हैं।''

थॉर्नडाइक ने बुद्धि को सामाजिक, मूर्त व अमूर्त बुद्धि में विभक्त किया है। मानसिक योग्यताओं का मापन परीक्षणों से संभव है। इस मापन के द्वारा बुद्धि लब्धि (I.Q.) का ज्ञान किया जा सकता है। बुद्धिलब्धि के अंकों के आधार पर व्यक्ति प्रतिभाशाली है, सामान्य है या मन्दबुद्धि है– इसका निर्णय किया जा सकता है।

बौद्धिक विकास की तीन अवस्थायें मानी गयी हैं – शैशवावस्था, बाल्यावस्था किशोरावस्था।

जन्म से दो वर्ष तक शैशवावस्था होती है। अन्य योग्यताओं की भाँति शिशुओं को इस अवस्था में संवेदना का ज्ञान होता है, पर प्रत्यक्षीकरण की योग्यता का विकास नहीं होता। आयु व अनुभव में वृद्धि से वे वस्तुओं को पहचानने लगते हैं। वे वस्तु के समग्र रूप को देखते है। उसके भाग को नही देखते हैं। उनमें स्थान व समय का ज्ञान

विकसित नहीं रहता है, पर आयु बढ़ने के साथ वे व्यावहारिक रूप से कुशल होने लगते हैं।

बाल्यावस्था 2 वर्ष से 12 वर्ष तक होती है। इसमें 2 से 6 वर्षों के बीच उनमें अन्वेषण व जिज्ञासा की प्रवृत्ति बढ़ने लगती है। वे 'क्यों, कैसे, कब, कहाँ', आदि प्रश्न पूछने लगते हैं। छठे वर्ष तक वे तर्क व चिन्तन के लक्षण प्रदर्शित करने लगते हैं। स्कूल जाने से पहले वे सजीव व निर्जीव का अन्तर जानने लगते है। इस समय बालकों में क्रियात्मक व भाषात्मक कौशल अधिक पाया जाता है। 4 वर्ष का बच्चा गिनना सीख जाता है, अपूर्ण आकृतियों को पूर्ण रूप में देखने लगता है तथा छोटी–बड़ी रेखाओं में अन्तर कर लेता है। भाषा का ज्ञान भी बढ़ता है। वह विभेद करना भी जानता है। इस समय बालक अहं केन्द्रित होता है।

6 वर्ष से 12 वर्ष के मध्य बालकों के सामाजिक व बौद्धिक विकास की सीमा विस्तृत हो जाती है। उनका चिन्तन वाह्योन्मुख हो जाता है। उनमें सामाजिक अनुमोदन तथा अनुरूपता का व्यवहार भी प्रदर्शित होने लगता है। उनका समायोजन बेहतर होने लगता हें। वे आत्ममूल्यांकन तथा औरों का मूल्यांकन भी कर सकते है। तार्किक चिन्तन की क्षमता आ जाती है। उचित–अनुचित का ज्ञान भी आने लगता है। इस आयु में बौद्धिक विकास तीव्र गति से होता है।

किशोरावस्था बौद्धिक विकास की चरम अवस्था है। 13 वर्ष से 18–19 वर्ष तक व्यक्ति मानसिक दृष्टि से भी परिपक्व हो जाता है। इस समय तक उसका पूर्ण बौद्धिक विकास हो जाता है। वह जटिल तर्क व चिन्तन कर सकता है। इस समय तक एकाग्रचित्तता, स्मृति, कल्पना, समस्या समाधान आदि क्षमताओं का विकास हो जाता है। टरमन (1968) के अनुसार, बालक के बौद्धिक विकास में 18 वर्ष की आयु के पश्चात् कोई वृद्धि नहीं होती है। पर, अनुभव व अभ्यास से कुछ परिवर्तन अवश्य होते हैं।

बौद्धिक विकास में भिन्नता पाई जाती है। यह अनेक कारकों का प्रतिफल होता है। सबसे महत्वपूर्ण वंशानुक्रम व वातावरण होते हैं। बौद्धिक विकास की सीमा का निध ारिण वंशानुक्रम से होता है, पर विकास की गतिविधि वातावरण द्वारा नियंत्रित होती है। अनुकूल वातावरण में बुद्धि का क्षैतिज प्रसार होता है। प्रतिकूल वातावरण इस प्रसार को बाधित करता है। पालन–पोषण, आहार, सुविधायें, ग्रामीण अथवा शहरी परिवेश, उच्च या निम्न आर्थिक–सामाजिक परिवेश– सब बौद्धिक विकास को प्रभावित करते हैं। शारीरिक स्वास्थ्य की दुर्बलता से भी बौद्धिक क्षमता में कमी आती है। चूँकि प्रत्येक प्रजाति के आनुवांशिक गुण अलग–अलग होते हैं, अतः प्रजातीय भिन्नता भी बौद्धिक विकास में अन्तर पैदा करती है। जन्मक्रम का प्रभाव, परिवार के आकार का प्रभाव, लिंग का प्रभाव आदि भी बौद्धिक विकास में अन्तर के कारक माने जाते हैं।

बोध प्रश्न

टिप्पणी–(क)– नीचे दिये गये रिक्त स्थान में अपने उत्तर लिखिये।

(ख)– इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर का मिलान कीजिये।

7. मानसिक विकास के अन्तर्गत कौन–कौन सी क्षमतायें आती हैं?

....

....

....

8. क्या प्रत्यक्षबोध की क्षमता जन्म से रहती है?

....

....

....

9. संज्ञानात्मक योग्यता जन्मजात है या अर्जित?

....

....

....

10. सर्जनशीलता से आप क्या समझते हैं?

....

....

....

11. भाषा विकास किन अवस्थाओं के माध्यम से होता है?

....

....

....

12. बौद्धिक विकास में भिन्नता के सबसे महत्वपूर्ण कारक कौन–कौन हैं?

....

....

....

3.6 सामाजिक विकास

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। पर, शिशु जब जन्म लेता है अन्य पशुओं की तरह निरा पशु होता है। उस समय वह असहाय व पराश्रित होता है। समाज की सहायता के बिना वह जीवित नहीं रख सकता है। कालान्तर में सामाजिक परिवेष में

रहकर सामाजिक गुणों का अर्जन करता है और सामाजिक व्यवहार सीखता है। समाज का सदस्य बनने के लिये सामाजीकरण की प्रक्रिया अत्यन्त आवश्यक है। जन्म के पश्चात् यह प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है। इसके कारण बालक के व्यवहार में परिवर्तन आता है और वह सामाजिक प्राणी बन जाता है।

बालक के सामाजिक विकास का महत्व व्यक्तिगत दृष्टि से ज्यादा महत्वपूर्ण है, समाज की दृष्टि से कम। समाज व्यक्ति से परे कोई सत्ता नहीं है, अपितु विभिन्न व्यक्तियों के मध्य अन्तःक्रिया के स्वरूप समाज का निर्माण होता है।

''सामाजिक प्रत्याशाओं के अनुरूप व्यवहार की योग्यता का अर्जन सामाजिक विकास कहा जाता है।'' हरलॉक (1978)

सामाजिक विकास की प्रक्रिया के तीन अंग होते है। (1) समाज अनुमोदित व्यवहार का अधिगम (2) समाज अनुमोदित भूमिकाओं का निर्वाह तथा (3) सामाजिक अभिवृत्तियों का विकास।

सामाजिक व्यवहार को जानने के लिये सामाजिक अन्तःक्रिया के अधिकाधिक अवसर बच्चों को मिले। इसके लिये सामाजिक सहभागिता होनी चाहिए। मिलने जुलने से सामाजिक समायोजन की योग्यता बढ़ती है। बच्चों को अपने समाज के अनुरूप व्यवहार का प्रशिक्षण देना चाहिए। अनुरूपता से उन्हें प्रशंसा मिलती है और वे अपने व्यवहार में परिवर्तन करते हैं। यथा घर पर किसी अतिथि के आने पर हाथ जोड़ना या पैर छूना या अभिवादन करना सामाजिक व्यवहार है। जब कोई बालक ऐसा करता है, तो उसकी प्रशंसा होती है और वह बार–बार ऐसा करने का प्रयास करता है। किस समय किससे कैसा व्यवहार करना है–इसका ज्ञान कराना आवश्यक है। इस योग्यता का प्रदर्शन सामाजिक परिपक्वता पर निर्भर करता है। सामाजिक अधिगम परिपक्वता पर निर्भर करता है। सामाजिक अधिगम के अवसर मिलने से परिपक्वता का विकास सामान्य रूप से चलता है। परिपक्वता के अभाव में बच्चों का व्यवहार असामाजिक व अवांछित हो सकता है।

सामाजिक विकास की प्रक्रिया आजन्म चलती रहती है। प्रारम्भिक जीवन में इसकी गति तीव्र होती है।

शैशवावस्था में जन्म पर शिशु वास्तव में समाज–निरपेक्ष जीव होता है। जन्म से दो माह तक शिशु संवेदनात्मक व शारीरिक अनुक्रियायें ही करता रहता है। तीन माह में वह माता के अलावा अन्य लोगों के प्रति अनुक्रिया करनी आरम्भ करता है। रोकर, मुस्कुराकर व सिर घुमाकर वह लोगों का ध्यान आकृष्ट करता है। 5 माह पर वह सामाजिक मुस्कान (Social Smile) देने लगता है। किसी के बुलाने पर रोना छोड़ कर चुप हो जाता है। 7 महीने पर वह हँसना, डरना आदि अनुक्रियायें करता है। ध्वनि उच्चारण 8 से 10 माह के बीच बलबलाने की क्रिया द्वारा आरम्भ करता है। 1 वर्ष के पश्चात् उसमें सहयोग व मित्रता का व्यवहार स्पष्ट दिखता है। 14 माह में वह संकेतों को समझने लगता है। डेढ़ साल का बच्चा खेलना पसन्द करता है। 18 माह

में जोर से हँसता है। दो वर्ष के शिशु में प्रेम, सहयोग, ईर्ष्या, घृणा, क्रोध आदि भावनायें विकसित होने लगती है। इस समय शिशु आत्मकेन्द्रित होता है।

3 से 6 वर्ष तक की अवस्था में सामाजिक विकास तीव्र गति से होता है। वह अपनी आयु के बालकों के साथ खेलना चाहता है। यदि यह अवसर न मिले, तो उसमें आक्रामक प्रवृत्ति आने लगती है। इस समय उसमें निम्न सामाजिक गुण प्रदर्शित होते हैं–

- सहानुभूति
- अनुकरण
- खेल
- प्रतियोगिता
- सहकारिता
- नकारात्मकता
- चिढ़ाना
- प्रभुत्व
- झूठ बोलना
- चोरी करना
- कलह करना
- आक्रामकता

7 से 12 वर्ष मुख्यतया विद्यालय की अवस्था होती है। इसे सामुदायिक अवस्था भी कह सकते हैं। 'समूह शक्ति' इस आयु का गुण होता है। नये मित्रों के साथ समायोजन, खेलों में सहभागिता, विचारों की पूर्ण अभिव्यक्ति' इस अवस्था में महत्वपूर्ण होती है। समूह की मान्यता बालक के लिये सबसे महत्वपूर्ण होती है। समूह निष्ठा के कारण कभी–कभी झूठ भी बोलता है और अध्यापक के दबाव का प्रतिरोध भी करने लगता है। इस समय की मैत्री अक्सर स्थायी हो जाती है। इस समय यौन चेतना का भी विकास होता है। लड़के –लड़कियों में विभिन्न रूचियों के विकास के साथ लिंग सम्बन्धी विभेद भी पाया जाता है। इस अवधि में नेतृत्व की प्रवृत्ति पाई जाती है, जो कभी–कभी आक्रामकता में भी परिवर्तित हो जाती है। धीरे–धीरे बालक में त्याग, आत्मविष्वास, आत्मनिर्माण व आत्मसंयम का विकास होता है। बर्हिमुखी (Extrovert) बालक / बालिकाओं में नेतृत्व की प्रवृत्ति पाई जाती है।

किशोरावस्था में परिवर्तित शारीरिक अवस्था के कारण विपरीत लिंग के व्यक्तियों के साथ समायोजन करने में समस्या आती है। समाज के रीति–रिवाजों, नियमों व मानकों का किशोरों को ज्ञान होता है। उनके मन में देशप्रेम, वीरपूजा, आत्मप्रदर्शन आदि की प्रवृत्ति रहती है। दायित्वबोध, निर्णय–परिवर्तन, संवेगात्मक अस्थिरता, एकाकीपन की भावना, विपरीत यौन के प्रति आकर्षण आदि इस अवस्था की विशेषतायें हैं। इस समय उनके मन में विरोधी भावनाये उठती रहती हैं, उनके मूल्यों का निर्माण हो रहा होता है। अतः उनके सामाजिक व्यवहार के विषय में पूर्वकथन नही किया जा सकता है।

विकास की इन अवस्थाओं में विकास–प्रक्रिया सकारात्मक (Positive) व नकारात्मक (Negative) दोनों रूपों में प्रकट होती है। सकारात्मक पक्ष का व्यक्तित्व पर अच्छा प्रभाव पड़ता है, जबकि नकारात्मक का प्रतिकूल। इस समय शिक्षकों व अभिभावकों का दायित्व है कि उनके साथ मित्रतापूर्ण व्यवहार करें, जिससे वे अपनी समस्याओं को खुलकर उनके साथ साझा कर सकें।

सामाजिक विकास को प्रभावित करने वाले कारक हैं–

- शारीरिक संरचना व स्वास्थ्य
- पारिवारिक परिवेश
- सामाजिक आर्थिक स्तर
- पास–पड़ोस
- विद्यालय
- बुद्धि का प्रभाव
- संस्कृति
- मनोरंजन के अवसर आदि

3.7 संवेगात्मक विकास

बालक के व्यक्तित्व के सुसमायोजन के लिये संवेगात्मक विकास अत्यन्त आवश्यक है। बालक की किसी क्रिया एवं प्रतिक्रिया के प्रति भावात्मक अभिव्यक्ति ही संवेग कहलाता है। बालक की हंसी, क्रन्दन, क्रोध, चिल्लाना आदि संवेगों का व्यवहार में प्रकटीकरण है। बालक की संवेगात्मक प्रतिक्रिया के तीन पक्ष होते हैं– ज्ञानात्मक (Cognitive), भावात्मक (affective) तथा क्रियात्मक (Conative)। इन तीनों पर परिपक्वता व अधिगम (Maturity & Learning) का प्रभाव पाया जाता है।

'संवेग' शब्द अंग्रेजी के Emotion शब्द का हिन्दी रूपान्तर है। Emotion लैटिन मूल 'Emovere' से बना है, जिसका अर्थ है उत्तेजित होना। अतः संवेग को व्यक्ति की उत्तेजित अवस्था भी कहा जा सकता है।

बैरन, बर्न व कैन्टोविज (Baran, Byrne & Kantowitz 1980) के अनुसार–"संवेग से तात्पर्य एक ऐसे आत्मनिष्ठ भाव की अवस्था से होता है, जिसमें कुछ शारीरिक उत्तेजना पैदा होती है और जिसकी अभिव्यक्ति कुछ विषेश व्यवहार के रूप में होती है।"

संवेग एक जटिल प्रक्रिया है, जिसमें कुछ न कुछ आन्तरिक आंगिक (internal ogranic) परिवर्तन होते है। यथा– रक्तचाप व हृदय गति में परिवर्तन या साँस की गति में परिवर्तन। आंतरिक के अलावा वाह्य अंगों की भावभंगिमा भी बदल जाती है। यथा लाल चेहरा, भृकुटी चढ़ी हुई, फड़कती भुजायें आदि क्रोध अभिव्यक्त करती है। संवेग में कोई सुखद या दुखद भाव अवश्य होता है। दोनों साथ नहीं होते।

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार संवेगों में कुछ विशेषतायें होती हैं–

1. संवेगात्मक तनाव का प्रसार सम्पूर्ण शरीर में होता है।
2. संवेग उत्पन्न होने के पश्चात् कुछ समय तक बने रहते हैं।

3. एक बार उत्पन्न होने के बाद संवेगों में कुछ समय तक उत्तरोत्तर बढ़ोत्तरी होती है।

4. संवेग किसी लक्ष्य की तरफ निर्देशित होता है।

5. संवेगात्मक व्यवहारों की उत्पत्ति के लिये उद्दीपक की उपस्थिति आवश्यक है।

3.7.1 संवेगात्मक विकास में परिपक्वता व अधिगम की भूमिका

परिपक्वता (Maturity)– जन्म के समय शिशुओं में केवल सामान्य उत्तेजना पाई जाती है। संवेगों का विकास बाद में होता है। इस विकास में परिपक्वता का महत्वपूर्ण योगदान होता है। आयु वृद्धि के साथ–साथ बालक के शारीरिक अंग व इन्द्रियाँ परिपक्व हो जाती है। इस वृद्धि के साथ शिशु में विभिन्न संवेगों का विकास होता है। ब्रिजेज (1932) ने शोध के आधार पर निष्कर्ष निकाला कि तीन माह में सामान्य उत्तेजना से खुशी व पीड़ा नामक दो संवेग शिशु को अनुभव होते हैं। 6 माह में क्रोध, भय व विरूचि उत्पन्न होती है। एक वर्ष की आयु में उल्लास व अनुराग संवेगों का विकास होता है। संवेगात्मक विकास की गति जन्म से दो वर्ष की आयु तक सभी शिशुओं में एक समान पायी जाती है।

अधिगम (Learning)– विकास व वृद्धि के साथ बालक को सीखने के अवसर भी मिलते हैं, जो संवेगों के विकास में सहायक होता है। नवीन संवेगों के प्रति अभिव्यक्ति, नियंत्रण तथा उनके अर्थ को भी बालक जानने लगता है। मनोवैज्ञानिक प्रयोगों ने पुष्ट किया कि बड़े होने पर संवेगात्मक विकास में परिपक्वता से ज्यादा अधिगम की भूमिका होती है।

अधिगम व परिपक्वता की क्रियायें एक–दूसरे पर निर्भर होती हैं। शैशवावस्था व बाल्यावस्था में परिपक्वता महत्वपूर्ण होती है, जबकि बाद की अवस्थाओं में अधिगम प्रक्रिया ज्यादा सहायक होती है।

भिन्न–भिन्न संस्कृतियो में संवेगात्मक अभिव्यक्ति का प्रदर्शन भी भिन्न–भिन्न होता है। यथा– भारतीय संस्कृति में खुशी संवेग का भाव तालियाँ बजाकर अभिव्यक्त किया जाता है। पर, चीनी संस्कृति में दुःख व चिन्ता के संवेगों को ताली बजाकर अभिव्यक्त करते हैं।

शैशवावस्था में संवेग के लक्षण मिलते है पर संवेग अस्पष्ट होते हैं। छठे माह वे सुख–दुख अनुभव करते है और तदनुसार व्यवहार भी करते हैं। उनमें भय व स्नेह के लक्षण एक वर्ष की अवस्था तक दिखने लगते हैं। दूसरे वर्ष संवेगों का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। बच्चे उद्दीपकों के प्रति समझ के साथ संवेगात्मक व्यवहार करते हैं। इस काल में संवेगों में दो विशेषतायें होती हैं–

1. संवेग लघुकालिक पर तीव्र होते हैं। यदि संवेग प्रदर्शन के समय कोई और उद्दीपक प्रस्तुत कर दिया जाये, तो ध्यान उधर चला जाता है। जैसे चोट लगने पर रोते ही यदि आवाज वाला खिलौना सामने आ जाये, तो प्रायः बच्चे चुप हो जाते हैं।

2. इस अवस्था में संवेगों का अनुबंधन उद्दीपक के साथ सरलता से हो जाता है। यथा– यदि बच्चे को डॉक्टर के यहाँ किसी दिन सुई लगी है तो वह अगली बार वहाँ पहुँचते ही रोने लगेगा।

इस आयु में क्रोध, हर्ष, भय, स्नेह जिज्ञासा आदि के संवेग प्रमुख रूप से प्रदर्शित होते है।

बाल्यावस्था में संवेगों का विकास व विभेदीकरण तेज गति से होता है। इस समय प्रमुख संवेग क्रोध, भय, ईर्ष्या, जिज्ञासा, हर्ष, विशाद, स्नेह आदि होते है। इस आयु में संवेग तीव्र होते हैं। ऐसा 6 वर्ष की आयु तक रहता है। इसके बाद 6–12 वर्ष के मध्य बच्चों को अपने व्यवहारों की वांछनीयता समझ में आने लगती है। वे समझने लगते है कि नकारात्मक संवेगों (क्रोध, ईर्ष्या, संघर्ष) से लोगों को कष्ट पहुँचता है। अतः वह ऐसे संवेगों की अभिव्यक्ति को नियंत्रित करना आरम्भ करता है। ऐसा वह घर के बाहर के परिवेश में करता है। घर में वह अभी भी संवेगों का प्रदर्शन करता है। 10–12 वर्ष के बच्चों में अतिसंवेगात्मकता भी प्रदर्शित होती है। इसका कारण शारीरिक (बीमारी, थकान, उलझन) अथवा पर्यावरणीय (नया विद्यालय, नये शिक्षक, नये का भय) भी हो सकता है।

किशोरावस्था में संवेगों का प्रभाव चरम पर होता है। इस आयु में शारीरिक परिवर्तनों के कारण संवेगों में अस्थित बढ़ जाती है। पर जैसे–जैसे आयु बढ़ती है, संवेगों में स्थिरता आती है। इस अवस्था मे संवेगात्मक नियन्त्रण बढ़ता है। इस आयु में शारीरिक आक्रामकता शाब्दिक प्रहार का रूप ले लेती है। किशोरों में तार्किकता का विकास होने के कारण वे सामाजिक प्रत्याशाओं का ध्यान रखते हैं। स्नेह व प्रेम की भावना तीव्र होती है, पर वह उसका खुलकर प्रदर्शन नहीं करता। उसमें भविष्य, व्यवसाय व आत्मनिर्भरता को लेकर चिन्ता बढ़ जाती है। जैसे–जैसे आयु बढ़ती है और किशोर युवावस्था में प्रवेश करता है, उसका व्यवहार संयत हो जाता है। वह सामाजिक प्रत्याशाओं के अनुकूल व्यवहार करने लगता है।

संवेगात्मक विकास पर अनेक कारकों का प्रभाव पड़ता है। उनमें से प्रमुख है–

- थकान
- स्वास्थ्य
- दिन का समय
- जन्मक्रम
- माता–पिता की बच्चों के प्रति अभिवृत्ति
- पर्यावरण
- आयु
- यौन भिन्नता

संवेगात्मक विकास के साथ 'संवेगात्मक बुद्धि' की चर्चा भी अवश्य की जानी चाहिए। यह सम्प्रत्यय आधुनिक युग में बहुत लोकप्रिय है। तनाव, संवेग, प्रतिबल व समायोजन की अन्य परिस्थितियों में संवेगात्मक बुद्धि की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह ऐसी योग्यता है जो व्यक्ति के संवेगों को नियन्त्रित, सुलभ, अभिव्यक्त व नियमित करती है। कून व मिट्टरर (Coon and Mitterer 2007) के अनुसार–

''संवेगात्मक बुद्धि वह क्षमता है, जिसमें तदानुभूति (Empathy), आत्म–नियंत्रण (Self-Control), आत्म सचेष्टता (Self-awarnè) तथा अन्य कौशल सम्मिलित होते हैं।''

गोलमैन (1995) के अनुसार संवेगात्मक बुद्धि में प्रमुख पाँच घटक पाये जाते हैं–

1. स्वयं के संवेगों को जानना
2. स्वयं के संवेगों का प्रबन्धन
3. स्वयं को अभिप्रेरित करना
4. अन्य लोगों के संवेगों को पहचानना
5. सम्बन्धों का निर्वाह

3.8 नैतिक विकास

नैतिकता मानव समाज की विशिष्टता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। अतः उसे समाज के अनुमोदित व्यवहारों के अनुरूप ही कार्य करना होता है। प्रत्येक समाज की एक नैतिक आचरण, प्रथाओं आदि की संहिता होती है। इसी के अनुरूप आचरण करना ही साधारण बोलचाल की भाषा में नैतिकता कहा जाता है। बालकों में नैतिकता का विकास सामाजिक अन्तःक्रिया के परिणाम स्वरूप होता है।

जोन्स (1995) के अनुसार–''निश्चित समय या स्थान के आदर्शों के प्रति अनुरूपता का प्रदर्शन ही नैतिकता है।''

जन्म से बच्चों में नैतिकता का अभाव होता है। आयु, बुद्धि व सामाजिक विकास के साथ उनमें नैतिकता का विकास होता है। इसी कारण वे समूह के आदर्शों के अनुरूप व्यवहार करना सीखते है। यदि कोई व्यक्ति अज्ञानता के कारण समूह के आदर्शों के विपरीत कार्य करता है तो उसके कार्य को गैरनैतिक (Nonmoral) कहते हैं। पर, यदि वह जानबूझकर ऐसा करता है, तो उसे अनैतिक (immoral) कहेंगे।

नैतिकता का विकास दीर्घकालिक सामाजिक अधिगम के परिणामस्वरूप प्राप्त होता है। नैतिकता के विकास की दो महत्वपूर्ण अवस्थायें होती है–

1. नैतिक व्यवहार का विकास
2. नैतिक सम्प्रत्ययों का विकास

समाज में अन्तःक्रिया करने से बच्चे यह समझने लगते हैं कि क्या 'सही' है और क्या 'गलत' है। जिस आचरण के लिये प्रशंसा या पुरस्कार मिलता है, वह 'सही' है और

उसे करना चाहिये। जिस आचरण के लिये दण्ड या निन्दा मिले, या जिसे करने से रोका जाये, वह आचरण 'गलत' है। उसे नहीं करना चाहिए।

नैतिक सम्प्रत्ययों का विकास मानसिक क्षमता से सम्बन्धित होता है। मानसिक योग्यता बढ़ने पर बच्चे में सामान्यीकरण व विभेदन की योग्यता बढ़ती है, जो नैतिक सम्प्रत्यय के विकास में सहायक होती है। भाषा या विचारों के आदान–प्रदान की योग्यता भी सम्प्रत्यय विकास में सहायक होती है। व्यक्तिगत अनुभव भी विकास को पुष्ट करते हैं।

नैतिक विकास के दृष्टिकोण से मूल्यों का विकास महत्वपूर्ण है। प्रत्येक समाज, समूह, संस्कृति, वंश आदि के अपने निर्धारित मूल्य होते हैं। समूह के सदस्य बनने के लिये समूह मूल्यों को स्वीकारना आवश्यक है। मूल्य ऐसे विश्वास होते हैं, जो वांछनीय व अवांछनीय कार्यों व वस्तुओं में भेद करके वांछनीय की प्राप्ति को महत्व देते है।

नैतिक विकास में दण्ड, प्रशंसा व मूल्यों के अलावा अनुशासन की भी महत्वपूर्ण भूमिका है। अनुशासन का अर्थ व्यवहार के स्वीकृत आदर्शों के प्रति अनुरूपता का प्रशिक्षण है। अनुशासन के कारण बच्चे व्यवहार के लिये निश्चित प्रकार की आदतों का निर्माण करते हैं। अनुशासन की भावना में सर्वप्रथम वांछित व्यवहार करना व अवांछित व्यवहार त्यागना सिखाया जाता है। वांछित कार्यों के साथ संतुष्टि तथा अवांछित कार्यों के साथ असंतुष्टि की भावना को सम्बद्ध किया जाता है। इससे वांछित कार्यों की आदत पड़ जाती है। पर अनुशासन द्वारा नियमों के पालन की आदत डालने के लिये यह आवश्यक है कि नियम स्थिर रहें। व्यक्तिगत लाभ के लिये बदले न जायें। अनुशासित करने में प्रशंसा व पुरस्कार का प्रयोग किया जाना चाहिए। इसके साथ उन्हें समझाना भी चाहिए। बच्चे को यह बतायें कि क्या व्यवहार गलत है और उसकी जगह क्या करना चाहिए।

शैशवावस्था में बच्चे नैतिकता का अर्थ नहीं समझते हैं। अच्छाई व बुराई में अन्तर करने का उनका मापदण्ड होता है सुखद या दुखद अनुभूति। जो दुखद है वह बुरा, जो सुखद है वह अच्छा होता है। वे दूसरे की चिन्ता नहीं करते। वे निर्देशों की अवहेलना भी करते हैं।

बाल्यावस्था में नैतिकता की नींव पड़ती है। बच्चों को यह बताया जाता है कि कैसा व्यवहार करना है। अनुकूल व्यवहार से पुरस्कार व प्रशंसा मिलती है तथा अनुचित व्यवहार से दण्ड मिलता है। दण्ड की तीव्रता से बालक अपने अपराध के स्तर को समझने लगता है। 5वें वर्ष तक स्थिर अनुशासन से उनमे आज्ञाकारिता की भावना आने लगती है। पुरस्कार व दंड द्वारा भी उचित–अनुचित का ज्ञान कराया जा सकता है। छठे वर्ष में बच्चे गलतियों के लिये अफसोस करना भी सीख लेते हैं। विद्यालय में प्रवेश के साथ वे अपने आप स्कूल के नियमों का पालन सीख लेते हैं। इस समय वे सही व गलत में अन्तर करना भी सीख लेते हैं। इस समय बच्चे जानने

लगते हैं कि झूठ बोलना, मित्रों को धोखा देना और कायरता का व्यवहार गलत है। उनमें सामाजिक जागरूकता बढ़ जाती है।

किशोरावस्था में नैतिकता सम्बन्धी परिपक्वता आ जाती है। इस आयु में सामाजिक स्वीकृति की भावना प्रबल हो जाती है। इस समय नैतिक विकास की गति अति तीव्र होती है। इस समय उच्च स्तरीय मूल्यों का विकास होता है। पर इस अवस्था में गलत संगति उसे पतन के मार्ग पर ले जाती है। अतः अभिभावकों व शिक्षकों को ध्यान रखना चाहिए, जिससे वह एक परिपक्व सामाजिक प्राणी बन सके।

नैतिक विकास पर कुछ कारकों का प्रभाव पड़ता है। इनमें प्रमुख हैं– परिवार का वातावरण, मित्रों की संगत, विद्यालय के नियम, अध्यापकों का व्यक्तित्व, धार्मिक संगठनों की सदस्यता, सांस्कृतिक परिवेश, चलचित्र व पुस्तकें तथा वैयक्तिक भिन्नतायें।

3.9 अभ्यास के प्रश्न

1. गर्भकालीन शारीरिक विकास का वर्णन कीजिए।
2. निम्नांकित पर टिप्पणी लिखिये–
   (अ) गर्भकालीन शारीरिक विकास के कारक
   (ब) मांसपेशियाँ तथा वसा
   (स) तंत्रिका तंत्र का विकास
3. किशोरावस्था में होने वाले विशिष्ट शारीरिक परिवर्तनों पर प्रकाश डालिये।
4. गतिपरक योग्यताओं से आप क्या समझते हैं? गतिपरक विकास के अनुक्रमों का वर्णन कीजिये।
5. विभिन्न अवस्थाओं में बौद्धिक विकास का वर्णन कीजिए।
6. सामाजिक विकास का क्या अर्थ है? यह विकास बालक में कैसे होता है?
7. संवेगों से आप क्या समझते है, संवेगों की विशेषतायें बताते हुये संवेगों के विकास में अधिगम व परिपक्वता की भूमिका का वर्णन कीजिए।
8. नैतिक विकास में दंड, प्रशंसा, मूल्य व अनुशासन के महत्व को स्पष्ट कीजिए।

3.10 सारांश

मानव विकास को कुछ मुख्य पक्षों में बाँटा जा सकता है–

- शारीरिक व गतिपरक योग्यताओं का विकास
- मानसिक विकास इसके अन्तर्गत संवेदना व प्रत्यक्षबोध, संज्ञान, सर्जनशीलता, भाषा तथा बुद्धि का विकास
- सामाजिक विकास
- संवेगात्मक विकास

शारीरिक विकास विभिन्न विकास चक्रों के माध्यम से होता है। गर्भकालीन शारीरिक विकास, नवजात शिशु विकास व जन्मोपरान्त शारीरिक विकास युवावस्था तक चलते हैं। शारीरिक विकास के अन्तर्गत शारीरिक आकार (लम्बाई व वजन), शारीरिक अनुपात, चेहरा, धड़ हाथ–पैरों का विकास, हड्डियों, दाँतों, मांसपेशियों व वसा, तंत्रिका तंत्र तथा आन्तरिक अवयवों का विकास आता है। किशोरावस्था में विशिष्ट शारीरिक परिवर्तन होते हैं। गतिपरक विकास जन्म के बाद आरम्भ होता है। शारीरिक विकास के प्रमुख निर्धारकों में हैं– शारीरिक दशा, शारीरिक दोष, कुपोषण, दुर्घटनाओं, वैयक्तिक भिन्नतायें, हार्मोन का प्रभाव, मानसिक योग्यता का प्रभाव आदि।

मानसिक विकास एक सतत् प्रक्रिया है। इसके अन्तर्गत प्रमुख रूप से संवेदना व प्रत्यक्षबोध, संज्ञान, सर्जनशीलता, भाषा व बुद्धि का विकास आता है। इनमें से सभी शक्तियाँ जन्म से नहीं होती है। इनके विकास पर वंशानुक्रम व वातावरण दोनों का प्रभाव पड़ता है।

सामाजिक विकास की प्रक्रिया आजन्म चलती रहती है। व्यक्तित्व के विकास में इसकी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। वांछनीय व्यवहार से प्रशंसा मिलती है व बालक को आत्मतुष्टि होती है।

संवेगात्मक विकास आधुनिक युग में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। संवेगों पर नियन्त्रण करना व समाज–सम्मत व्यवहार करना आयु के साथ–साथ बढ़ता है। संवेगात्मक बुद्धि के महत्व को आधुनिक शिक्षाशास्त्री स्वीकारते हैं।

नैतिक विकास किसी भी समाज के विकास के लिये अत्यन्त आवश्यक है। दण्ड, प्रशंसा, मूल्यों की स्वीकार्यता व अनुशासन नैतिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

3.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. (a) शारीरिक व गतिपरक विकास, (b) मानसिक, (c) सामाजिक (d) संवेगात्मक (e) नैतिक

2.

विकास चक्रों की अवधि	गति
अ) गर्भाधान से 2 वर्श तक	तीव्र
ब) 2 वर्श से यौवनारम्भ तक	मंद
स) यौवनारम्भ से 16 वर्श तक	तीव्र
द) 16 वर्ष से परिपक्वता प्राप्ति तक	मंद

3. 23

4. शारीरिक आकार व अनुपात, हड्डियाँ, दाँत, मांसपेशियाँ व वसा, तंत्रिकातंत्र, आंतरिक अवयव।

5. शारीरिक परिवर्तन, आवाज में परिवर्तन, हड्डियों में दृढ़ता, बालों का उगना, प्रजनन अंगों का विकास, वक्षस्थल का विकास, रजःस्त्राव व वीर्यपात, आंतरिक अंगों का विकास।
6. पेशियों का नियंत्रण
7. (अ) संवेदना व प्रत्यक्षबोध (ब) संज्ञान (स) सर्जनशीलता (द) भाषा व (इ) बुद्धि
8. नहीं
9. अर्जित
10. कुछ नया करने की योग्यता
11. क्रन्दन, बलबलाना, हावभाव, आकलन शक्ति, शब्द–प्रयोग
12. वंशानुक्रम व वातावरण

3.12 संदर्भ–ग्रन्थ

1. गुप्ता, एस0पी0 व गुप्ता, अलका (2013), *उच्चतर शिक्षा मनोविज्ञान,* शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद।
2. शर्मा, आर0ए0 व चतुर्वेदी, शिखा (2013) *शिक्षा मनोविज्ञान के मूल तत्व,* आर0 लाल बुक डिपो, मेरठ।
3. सिंह, आर0एन0 (2015), आ*धुनिक विकासात्मक मनोविज्ञान,* अग्रवाल पब्लिकेशन, आगरा।
4. सिंह, आर0पी0, उपाध्याय, जे0 व सिंह, आर0 (2009), *विकासात्मक मनोविज्ञान,* मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली।
5. Adelson, J. (1980), *A Handbook of Adolescent Psychology.*
6. Hurlock, E.B. (1978), *Development Psychology.* McGrow Hill.
7. Hurlock, E.B. (1984), *Child Development,* McGrow Hill.

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

B.Ed. SE-01

मानव वृद्धि एवं विकास

खण्ड

2

विकास के सैद्धान्तिक उपागम

इकाई -4 5

संज्ञानात्मक व सामाजिक-संज्ञानात्मक सिद्धान्त

इकाई -5 43

मनोसामाजिक सिद्धान्त (एरिक्सन) तथा मनोविश्लेषण सिद्धान्त (फ्रॉयड)

इकाई -6 69

विकास के जैव -पारिस्थितिक (ब्रीफॉनब्रेनर) तथा समग्र सिद्धान्त (स्टाइनर)

संरक्षक एवं मार्गदर्शक

प्रो0 एम0 पी0 दुबे	कुलपति, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

विशेषज्ञ समिति

प्रो0 एस0पी0 गुप्ता	पूर्व निदेशक, शिक्षा विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
प्रो0 के0एस0मिश्रा	आचार्य, शिक्षा शास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
प्रो0 अखिलेश चौबे	पूर्व आचार्य, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ
प्रो0 विद्या अग्रवाल	आचार्य, शिक्षा शास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
प्रो0 प्रतिभा उपाध्याय	आचार्य, शिक्षा शास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

लेखक

डा0 उमा टण्डन	एसोसियएट प्रोफेसर, डी0बी0एस0 कालेज, कानपुर (इकाई-1 से 9)
डा0 अर्पिता सिंह	असि. प्रोफेसर, एच.एन.मिश्रा कालेज आफ एजूकेशन, कानपुर (इकाई- 10,11,12)
डा0 सुधांशु सिन्हा	असि. प्रोफेसर, टी.डी. कालेज, जौनपुर (इकाई- 13,14,15)

सम्पादक

प्रो0 सुजाता रघुवंश	आचार्य, शिक्षा शास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद

परिमापक

प्रो0प्रदीप कुमार पाण्डेय	प्रभारी निदेशक, शिक्षा विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

समन्वयक

डॉ0 रंजना श्रीवास्तव	प्रवक्ता, शिक्षा विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

प्रकाशक

डॉ० जी० एस० शुक्ल	कुलसचिव, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
ISBN-UP-978-93-83328-03-1

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठ्यसामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।
नोट : पाठ्य सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आकड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय उत्तरदायी नहीं है।
प्रकाशन -उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

B.Ed.SE-01 : मानव वृद्धि एवं विकास

खण्ड–एक मानव विकास के उपागम

इकाई–1 वृद्धि व विकास की अवधारणाऍं व सिद्धान्त

इकाई–2 मानव विकास की अवस्थाऍं

इकाई–3 विकास के आयाम

खण्ड–दो विकास के सैद्धान्तिक उपागम

इकाई–4 संज्ञानात्मक व सामाजिक–संज्ञानात्मक सिद्धान्त

इकाई–5 मनोसामाजिक सिद्धान्त (एरिक्सन) तथा मनोविश्लेषण सिद्धान्त (फ्रॉयड)

इकाई–6 विकास के जैव–पारिस्थितिक (ब्रीफॉनब्रेनर)तथा समग्र सिद्धान्त (स्टाइनर)

खण्ड–तीन प्रारम्भिक वर्ष (जन्म से 8 वर्ष तक)

इकाई–7 जन्मपूर्व गर्भकालीन तथा नवजात शिशु विकास

इकाई–8 विकास में मील के पत्थर

इकाई–9 पूर्व बाल्यावस्था को प्रभावित करने वाले वातावरण के कारक

खण्ड–चार मध्य बाल्यावस्था से किशोरावस्था (9 वर्ष से 18 वर्ष)

इकाई–10 शारीरिक, सामाजिक, संवेगात्मक, संज्ञानात्मक,सृजनात्मक व नैतिक पक्षों से सम्बन्धित उदीयमान योग्यतायें

इकाई–11 तरुण अवस्था, लिंग एवं विकास से सम्बन्धित समस्यायें

इकाई–12 विकसित होते हुए बालक पर वातावरण (सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक) का प्रभाव

खण्ड–पॉच प्रौढ़ावस्था का संक्रमणकाल

इकाई–13 मनोवैज्ञानिक कुशलता, आत्म–पहचान का निर्माण एवं स्वप्रत्यय

इकाई–14 प्रौढ़ावस्था का संक्रमणकाल–भूमिका एवं उत्तरदायित्व

इकाई–15 जीवन कौशल और वृत्ति चयन

खण्ड–2 विकास के सैद्धान्तिक उपागम

खण्ड परिचय

प्रस्तुत खण्ड विकास के सैद्धान्तिक उपागम से सम्बद्ध है। इसके अन्तर्गत तीन इकाइयाँ हैं – संज्ञानात्मक सिद्धान्त, मनोसामाजिक व मनोविश्लेषण सिद्धान्त तथा जैव–पारिस्थितिक व समग्र सिद्धान्त।

चतुर्थ इकाई में पियाजे, वाइग्रोत्स्की, ब्रूनर व बैण्डुरा के सिद्धान्तों की विवेचना है। पियाजे ने सीखने को बौद्धिक प्रक्रिया माना। वाइगोत्स्की ने संज्ञानात्मक विकास में सामाजिक –सांस्कृतिक परिवेश को महत्त्व दिया। ब्रूनर ने पियाजे के सिद्धान्तों को नया कलेवर दिया। संज्ञानात्मक विकास में भाषा के महत्व को उन्होंने रेखांकित किया। बैण्डुरा ने सामाजिक संज्ञानात्मक विकास में प्रतिरूपण, प्रेक्षण व अनुकरण को महत्व दिया।

पंचम इकाई में एरिक्सन व फ्रायड के सिद्धान्तों का वर्णन है। एरिक्सन ने अपने सिद्धान्तों में सामाजिक कारकों व अनुभूतियों को महत्वपूर्ण माना है। उन्होंने प्रकृति के बजाय पोषण को ज्यादा महत्व दिया। उन्होंने आठ प्रकार के मानसिक द्वन्द्वों का वर्णन किया। फ्रॉयड ने व्यक्तित्व विकास की पाँच अवस्थाओं का वर्णन किया। उनके अनुसार व्यक्तित्व इदम, अहम और पराहम से मिलकर बना है।

छठी इकाई में ब्रीफॉनब्रेनर ने वातावरण व व्यक्ति दोनों को समान महत्व देकर उनकी अन्तःक्रिया द्वारा विकास को प्रस्तुत किया है। स्टाइनर ने समग्र विकास की कल्पना मन, शरीर व आत्मा के विकास के संदर्भ में की। शिक्षा के क्षेत्र में उनका प्रमुख योगदान वॉलडॉर्फ विद्यालयों की स्थापना है।

इकाई–4 संज्ञानात्मक व सामाजिक–संज्ञानात्मक सिद्धान्त
Cognitive & Social- Cognitive Theories

संरचना

4.1 प्रस्तावना

4.2 उद्देश्य

4.3 पियाजे का संज्ञानात्मक विकास का सिद्धान्त

4.3.1 पियाजे के संज्ञानात्मक विकास में निहित सम्प्रत्यय

4.3.2 पियाजे की संज्ञानात्मक विकास की अवस्थायें

4.3.3 पियाजे के सिद्धान्त का मूल्यांकन

4.4 वाइगोत्स्की का सामाजिक संज्ञानात्मक विकास का सिद्धान्त

4.4.1 वाइगोत्स्की के संज्ञानात्मक विकास के उपागम

4.4.2 वाइगोत्स्की के सिद्धान्त के प्रमुख सम्प्रत्यय

4.5 पियाजे व वाइगोत्स्की के सिद्धान्तों की तुलना

4.6 ब्रूनर का संज्ञानात्मक विकास का सिद्धान्त

4.6.1 ब्रूनर की ज्ञान को स्मरण में संचित करने की तीन विधियाँ

4.6.2 ब्रूनर के शिक्षण प्रक्रिया से सम्बन्धित महत्वपूर्ण तथ्य

4.6.3 ब्रूनर के सिद्धान्त का शैक्षिक निहितार्थ

4.6.4 ब्रूनर व वाइगोत्स्की

4.6.5 ब्रूनर तथा पियाजे

4.7 बैण्डुरा का सामाजिक संज्ञानात्मक सिद्धान्त

4.7.1 सामाजिक संज्ञानात्मक विकास के मुख्य सम्प्रत्यय

4.7.2 सामाजिक संज्ञानात्मक सिद्धान्त की सीमायें

4.7.3 सामाजिक संज्ञानात्मक सिद्धान्त का शिक्षा में प्रयोग

4.8 अभ्यास के प्रश्न

4.9 सारांश

4.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

4.11 सन्दर्भ ग्रन्थ

4.1 प्रस्तावना

पिछली इकाइयों में हमने विकास व वृद्धि पर गहन अध्ययन किया। विकास व वृद्धि की अवधारणा, सिद्धान्त, अवस्थाओं व विभिन्न पक्षों पर विस्तार से चर्चा की। इस इकाई में हम विकास के सिद्धान्तों पर चर्चा करेंगे। विकास के विभिन्न पक्षों में संज्ञानात्मक विकास के महत्त्व का ज्ञान पियाजे, व्योगोत्सकी, ब्रूनर तथा बण्डूरा के द्वारा दिये गये संज्ञानात्मक विकास के विभिन्न सिद्धान्तों पर चर्चा करके प्राप्त करेंगे।

संज्ञान एक विकासात्मक प्रक्रिया है। यह एक अर्जित योग्यता है, जिसमें प्रतीकों का उपयोग होता है। संज्ञानात्मक विकास में चिन्तन, कल्पना, स्मषति व पूर्व अनुभवों का योगदान होता है। बच्चों का संज्ञान सरल व वयस्कों का जटिल होता है। संज्ञान की प्रक्रिया अव्यक्त होती है। यह बाहर से देखी नहीं जा सकती क्योंकि यह प्रक्रिया मानसिक रूप से होती है। संज्ञानात्मक प्रक्रियायें अमूर्तीकरण (Abstraction) अन्तरण (Transfer) प्रत्ययीकरण (Perception), व्याख्या (interpretation) एवं प्रतीकों के उपयोग (use of symbol) के रूप में संचालित होती है। संज्ञानात्मक संरचना में परिवर्तन होता रहता है। तार्किक चिन्तन व सक्षमता संज्ञानात्मक योग्यता को प्रस्तावित करने वाली मानसिक शक्तियाँ हैं। संज्ञानात्मक प्रक्रियाओं के द्वारा वाह्य वातावरण अथवा उद्दीपक जगत से सम्बन्धित ज्ञानार्जन व ज्ञान भण्डार में वृद्धि होती है।

मनोवैज्ञानिक अध्ययनों से यह स्पष्ट हो चुका है कि बच्चों व बड़ों के संज्ञान में पर्याप्त भिन्नता पाई जाती है। प्रारम्भ में बालक का चिन्तन अतार्किक होता है पर व्यस्क होने पर यह तार्किक चिन्तन में परिवर्तित हो जाता है। पर यह किस कारण से होता है? इस प्रश्न के उत्तर में मनोवैज्ञानिक एक मत नहीं है। साहचर्यवादी मनोवैज्ञानिकों के अनुसार बालक के ज्ञान का निर्माण विभिन्न अनुभवों में उद्दीपन–अनुक्रिया (Stimulus-Response अथवा S-R) के साहचर्य पर आधारित होता है। बालक के अनुभव क्षेत्र के सारे तथ्य एक साथ संयोजित होकर उसके ज्ञान–भण्डार का निर्माण करते है। पर विकासात्मक मनौवैज्ञानिकों का मानना है कि बालक अपनी जैविक (Biological) क्षमताओं की सहायता से भौतिक जगत के उद्दीपकों के बारे में ज्ञान प्राप्त करता है। उनके अनुसार सम्पूर्ण विकासकाल में संज्ञानात्मक प्रक्रियायें यथास्थिति में रहती हैं, पर अर्जित ज्ञान भण्डार की संरचना में परिवर्तन व परिमार्जन होता रहता है।

संज्ञानात्मक विकास पर विभिन्न सिद्धान्तों का निर्माण विभिन्न मनौवैज्ञानिकों ने किया। इस इकाई में हम संज्ञानात्मक व सामाजिक संज्ञानात्मक सिद्धान्तों पर चर्चा करेंगे। इनके अन्तर्गत प्रमुख रूप से पियाजे, व्योगोत्सकी, ब्रूनर व बैण्डुरा के सिद्धान्तों का अध्ययन करेंगे।

4.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप–

- पियाजे के संज्ञानात्मक विकास के अन्तर्गत विभिन्न अवस्थाओं का ज्ञान कर सकेंगे।
- पियाजे के संज्ञानात्मक विकास सिद्धान्त की विशेषताओं व कमियों का प्रत्यास्मरण कर सकेंगे।
- व्योगोत्स्की के सामाजिक–सांस्कृतिक दृष्टिकोण की व्याख्या कर सकेंगे।
- व्योगोत्स्की के सिद्धान्त के प्रमुख प्रत्ययों के नाम बता सकेंगे।
- पियोजे व व्योगोत्स्की के सिद्धान्तों की तुलना कर सकेंगे।
- ब्रूनर के संज्ञानात्मक विकास के सिद्धान्तों का प्रत्यास्मरण कर सकेंगे।
- ब्रूनर के सिद्धान्त की विशेषताओं व कमियों को लिख सकेंगे।
- ब्रूनर व पियाजे के सिद्धान्तों का शिक्षा में प्रयोग को स्पष्ट कर सकेंगे।
- बैण्डुरा के सिद्धान्तों की कमियों व विशेषताओं को अपने शब्दों में लिख सकेंगे।

4.3 पियाजे का संज्ञानात्मक विकास का सिद्धान्त (Piaget's Theory of Cognitive Development)

जीन पियाजे (Jean Piaget) का जन्म 1896 में हुआ था तथा उनकी मृत्यु 1980 ई० में हुई थी। वे मूलरूप से प्राणिविज्ञान (Zoology) से सम्बद्ध थे। पियाजे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने अपने शोधों द्वारा संज्ञानात्मक विकास से सम्बन्धित सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। पियाजे ने अपने सिद्धान्त में जो कुछ प्रस्तुत किया, वह उनके अपने तीन बच्चों के व्यवहार के प्रत्यक्ष प्रेक्षण (Obervation) पर आधारित था।

पियाजे ने बताया कि सीखना कोई यान्त्रिक क्रिया (mechanical process) नहीं है, जैसा तत्कालीन मनोवैज्ञानिकों पावलोव व थॉर्नडाइक ने प्रतिपादित किया था। सीखना एक बौद्धिक (intellectual) प्रक्रिया है। यह प्रत्यय–निर्माण की प्रक्रिया है, जिसका सम्बन्ध किसी अवस्था विशेष से नहीं होता है। यह प्रक्रिया बालक में जैविक रूप से पाई जाती है। यह सम्पूर्ण संज्ञानात्मक विकास में क्रियाशील बनी रहती है। किसी अवस्था से सम्बद्ध न होने के कारण इसे अवस्था मुक्त (Stage free) कहा जाता है। पियाजे के शब्दों में "संज्ञान प्राणी का वह ज्ञान है, जिसके द्वारा वह वातावरणीय उद्दीपकों से ज्ञानार्जन करता है। ज्ञान में अनेक मानसिक प्रक्रियायें सन्निहित होती है, जो निरन्तर गतिमान रहती हैं और विकास की किसी अवस्था में ये परिवर्तित नहीं होती है।"

4.3.1 पियाजे के संज्ञानात्मक विकास में निहित सम्प्रत्यय

पियाजे के संज्ञानात्मक विकास में दो प्रमुख सम्प्रत्यय निहित है–

1. संगठन (Organization)
2. अनुकूलन (Adaptation) → आत्मसातीकरण (Assimilation)
   → समायोजन (Accomodation)

1. **संगठन (Organization)** – यह संज्ञानात्मक विकास का एक प्रमुख प्रत्यय है। संज्ञानात्मक विकास में अनेक मानसिक क्रियायें कार्य करती हैं यथा प्रेषण, स्मृति, ध्यान, कल्पना, चिन्तन आदि। ये सारी मानसिक क्रियायें अलग–अलग कार्य न करके एक साथ मिलकर संगठित होकर कार्य करती हैं। इस प्रकार प्राप्त ज्ञान या सूचना ज्ञान भण्डार में अलग–अलग नहीं रहती है। एक साथ मिलकर संगठित होकर रहती है। संगठन की यह प्रक्रिया मानसिक स्तर पर सदैव चलती रहती है।

2. **अनुकूलन (Adaptations)** – संगठन की प्रक्रिया से व्यक्ति व वातावरण का सम्बन्ध आंतरिक रूप से प्रभावित होता है। अनुकूलन संगठन की पूरक प्रक्रिया है। यह व्यक्ति व वातावरण के सम्बन्ध को वाह्य रूप से प्रभावित करती है। इसके अन्तर्गत दो उपक्रियायें सम्मिलित हैं–

(अ) **आत्मसातीकरण**–पियाजे ने आत्मसातीकरण की प्रक्रिया को जीव–वैज्ञानिक प्रक्रिया (Biological Process) के रूप में स्वीकार किया है। इसके द्वारा बालक में संरचनात्मक परिवर्तन घटित होते हैं। पियाजे के अनुसार आत्मसातीकरण जीव–वैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्राणी की विकसित अथवा विकासशील संरचनाओं में वाह्य तत्वों के समन्वित हो जाने की प्रक्रिया है। आत्मसातीकरण की प्रक्रिया में बालक का पूर्व अनुभव यथास्थिति में बना रहता है। केवल उसके द्वारा अर्जित नवीन अनुभवों के स्वरूप में ही परिवर्तन होता है, जिससे बालक उन्हें अपने पूर्व अनुभवों के साथ आत्मसात कर लेता है।

(ब) **समायोजन**–इसे आत्मसातीकरण की पूरक प्रक्रिया कहा जाता है। इसमें बालक जब नवीन अनुभवों को अपने ज्ञान भण्डार में सम्मिलित करता है, तो वह पुराने अनुभवों के साथ–साथ नवीन अनुभवों को ऐसे व्यस्थित करता है कि दोनों साथ–साथ रह सकें।

इस तरह आत्मसातीकरण व समायोजन की प्रक्रिया में एकरूपता होते हुये भी कुछ भिन्नता है। आत्मसातीकरण में नवीन अनुभव के स्वरूप को परिवर्तित कर पुराने

अनुभव के साथ आत्मसात किया जाता है, जबकि समायोजन की प्रक्रिया में पूर्व अनुभव के स्वरूप व स्थिति में परिवर्तन व व्यवस्थापन करके नवीन अनुभव को ग्रहण किया जाता है। उदाहरणस्वरूप– एक डिब्बे में 2 कुरते (अनुभव) मोड़ कर रखे हैं। तीसरा कुर्ता (नवीन अनुभव) रखने के लिये उसे भी मोड़ कर (स्वरूप परिवर्तित कर) उसके साथ रखा जाता है। यह आत्मसातीकरण का उदाहरण है। चौथा कुरता (नवीन अनुभव) रखने के लिये पुराने तीन कुरतों (पुराने अनुभवों) को अपने स्थान से खिसका कर जगह बनाई गई और चौथे कुरते को उसमें रख कर पूरे डिब्बे को दुबारा व्यवस्थित किया। यह समायोजन की प्रक्रिया हुई।

4.3.2 पियाजे की संज्ञानात्मक विकास की अवस्थायें

पियाजे ने संज्ञानात्मक विकास की व्याख्या दो प्रकार के दृष्टिकोणों के रूप में की है–

1. अवस्थायुक्त (Stage Free) तथा
2. अवस्था आश्रित (Stage Dependent)

अवस्थायुक्त दृष्टिकोण के अन्तर्गत संज्ञान विकास से सम्बन्धित मानसिक प्रक्रिया व प्रत्यय आते हैं। ये विकास की प्रत्येक अवस्था में उपस्थित रहते हैं, इसलिए इन्हें 'अवस्थामुक्त' कहा जाता है।

अवस्था आश्रित के अन्तर्गत बालक द्वारा अर्जित ज्ञान–भण्डार अथवा संज्ञान संरचना (Cognitive structure) आता है। अवस्था विशेष में बालक द्वारा अर्जित सम्पूर्ण ज्ञान भण्डार को पियाजे ने 'स्कीमा' (Schema) का नाम दिया है।

पियाजे के अनुसार बालक के सम्पूर्ण संज्ञान विकास को चार अवस्थाओं में बाँटा जा सकता है। इसके सम्बन्धित प्रमुख बिन्दु निम्न हैं–

- संज्ञान विकास की प्रत्येक अवस्था की अपनी विशेषता होती है।
- एक अवस्था में विकसित संज्ञानात्मक संरचना (Cognitive structure) अगली अवस्था में परिवर्तित हो जाती है।
- प्रत्येक अवस्था में बालक के अन्दर पाये जाने वाले ज्ञान, विचार व व्यवहारों के संगठन से एक समग्र (Whole) का निर्माण होता है, जिसे पियाजे ने स्कीमा (Schema) के नाम से सम्बोधित किया।
- स्कीमा बालक के परिपक्वता स्तर तथा अर्जित अनुभवों के द्वारा विकसित होता है।
- जन्म के समय षिषु का वाह्यजगत से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। आयु–वृद्धि व परिपक्वता के कारण बालक अपनी ज्ञानेन्द्रियों के प्रयोग से वाह्यजगत

(उद्दीपक जगत) से परिचय प्राप्त करता है।

पियाजे द्वारा प्रस्तुत चार अवस्थाओं का विवरण निम्न है–

1. संवेदी पेषीय अवस्था (Sensory Motor Stage)
2. पूर्व–संक्रियात्मक अवस्था (Pre -Operational Stage)
3. स्थूल संक्रियात्मक अवस्था (Concrete Operational Stage)
4. औपचारिक संक्रियात्मक अवस्था (Formal Operational Stage)

4.3.2.1 संवेदी पेशीय अवस्था (Sensory Motor Stage)

पियाजे के अनुसार जन्म से 2 वर्ष तक शिशु अपनी इन्द्रियों द्वारा प्राथमिक अनुभवों को प्राप्त करते हैं। इस समय बालक में सहज क्रियायें होती हैं। शिशु अपनी संवेदनाओं तथा पेशीय क्रियाओं के माध्यम से भौतिक जगत की जानकारी प्राप्त करता है।

इसीलिए इसे संवेदी पेशीय अवस्था कहते हैं। पियाजे ने इसे 6 उपअवस्थाओं में बांटा है, जो निम्न है–

(a) **सहज क्रियाओं की अवस्था (Stage of Reflex Activities)–** यह अवस्था जन्म से एक माह तक की होती है। इस अवस्था में बालक सहज क्रियायें (Reflex Actions) ही करता है। इस समय किसी भी वस्तु को मुँह में लेकर चूसने (Suck) की क्रिया प्रमुख होती है। इन सहज क्रियाओं को पियाजे ने 'innate schema' नाम दिया है।

(b) **प्रमुख वृत्तीय अनुक्रियाओं की अवस्था (State of Primary Circular Reactions)–**

यह अवस्था 1 माह से 4 माह तक होती है। इस अवस्था में बच्चों की सहज क्रियायें कुछ सीमा तक उनकी अनुभूतियों द्वारा परिवर्तित होनी है। ये दोहराई जाती हैं और एक दूसरे के साथ समन्वित (Co-ordinated) होती हैं। इन्हें वृत्तीय कहा जाता है क्योंकि बच्चे इन्हें बार–बार दोहराते हैं। इस अवस्था तक बच्चे किसी वस्तु से भी भयभीत नहीं होते।

(c) **गौण वृत्तीय अनुक्रियाओं की अवस्था (Stage of Secondary Circular Activities)–**

4 से 6 माह तक यह अवस्था रहती है। इसमें शिशु वस्तुओं का स्पर्श करते और उन्हें इधर से उधर करते हैं। वे वही क्रियायें करते हैं, जिससे उन्हें सुख मिलता है। इस अवस्था के अंत तक शिशु देखी हुई वस्तु की अनुपस्थिति में भी उसके

होने का भान करने लगते हैं।

(d) **गौण स्कीमेटा के समन्वय की अवस्था (Stage of Coordination of Secondary Schamata)**

यह अवस्था 8 माह से 12 मास तक की अवस्था होती है। इस समय शिशु अपने लक्ष्य (Goal) और उसे प्राप्त करने के साधन (means) में अन्तर जानने लगते हैं। वे बड़ों की क्रियाओं का अनुकरण करने लगते हैं। इस अवस्था में शिशु जिन मानसिक प्रतिमानों को सीखते हैं, उनका सामान्यीकरण भी करने लगते हैं।

(e) **तृतीय वृत्तीय अनुक्रियाओं की अवस्था (Stage of Tertiary Circular Activities)**

एक वर्ष की आयु से डेढ़ वर्ष की आयु तक यह अवस्था चलती है। इस आयु में वह प्रयत्न व भूल (Trial & Error) के माध्यम से नई वस्तुओं को सीखने व समझने का प्रयास करने लगता है।

(f) **मानसिक संयोजन द्वारा नये साधनों की खोज की अवस्था (State of Invention of New Means Through Mental Combination)**

18 माह से 24 माह तक की अवस्था संवेदी पेशीय अवस्था का अन्तिम चरण होती है। इसमें बालक में विचार व कल्पना शक्ति का आरम्भ हो जाता है। बालक अपने द्वारा किये गये कार्यों के परिणामों को भी समझने लगता है। इस अवस्था की समाप्ति तक बालक का सहज स्कीमा (Reflex Schema) अब अर्जित स्कीमा (Acquired Schema) के रूप में परिवर्तित हो जाता है।

रैथस (1984) ने इसे संक्षेप में स्पष्ट करते हुये लिखा है कि संवेदी सूचनाओं व पेशीय क्रियाओं में समन्वय, परिवेश का प्रारम्भिक अन्वेषण और भाषा की योग्यता का अभाव संवेदीपेशीय अवस्था की मुख्य पहचान है।

4.3.2.2 पूर्व–संक्रियात्मक अवस्था (Pre-Operational Stage)– संज्ञानात्मक, विकास की इस अवस्था का प्रसार दो वर्ष की आयु से सात वर्ष की आयु तक होता है। इस अवस्था में बालक स्वकेन्द्रित व स्वार्थी न होकर दूसरे के सम्पर्क से ज्ञानार्जन करता है। इस अवस्था को भी दो भागों में विभक्त किया गया है। पूर्व सम्प्रत्यात्मक (Pre-conceptual) तथा आत्मज्ञान (Intuitive) जिनका विस्तार क्रमशः 2 से 4 वर्ष तथा 4 से 7 वर्ष तक रहता है।

पूर्व संक्रियात्मक अवधि में बालक में भाषा का विकास हो चुकता है। वे स्थानीय संकेतों का प्रत्यक्षीकरण करने में समर्थ होते हैं। वस्तुओं में पाये जाने वाले

पारस्परिक सम्बन्धों को समझने की योग्यता आ जाती है। आत्मज्ञान (Intation) की अवधि (4–7 वर्ष) में बच्चों में वर्गीकरण, व्याकरण व वस्तुओं में सम्बन्ध खोजने की योग्यता आ जाती है। वे समस्याओं का समाधान करने में सफल होते है, पर समाधान के नियमों को स्पष्ट नहीं कर पाते हैं। (Philip 1969)

पियाजे के अनुसार इस अवस्था में बच्चे अंहकेन्द्रित (Egocentric) हो जाते हैं। वे चीजों को स्वयं से सम्बद्ध करके देखने लगते हैं।इस अवस्था में उनमें जीववाद (Animism) की भावना भी प्रदर्शित होती है। इसके कारण वे निर्जीव वस्तुओं में भी जीवन, कष्ट, सुख गुणारोपित करने लगते हैं। जैसे–खिलौनों को चोट से बचाना यह सोचकर कि उन्हें कष्ट होगा। इस अवस्था में बालक तार्किक चिंतन करने में असमर्थ व कार्य–कारण सम्बन्धों से अनभिज्ञ होता है। बालक में मानसिक रूपान्तरण (Mental Transformation) की क्षमता का अभाव होता है। इस अवस्था में बालकों में एकाकीपन तथा एकालाप या स्वगत–कथन की प्रवृत्ति पाई जाती है। इस अवस्था में बालक वाह्य विचारों को जल्दी ग्रहण कर लेता है। सर्वप्रथम प्रतीकात्मक विचार (Symbolic thought) इसी अवस्था में उत्पन्न होते हैं। इस अवस्था में बच्चों में वस्तुओं को वर्गों व उपवर्गों में विभक्त करने की योग्यता आ जाती है। वे वास्तविकता को महत्व देने लगते हैं। आभास और वास्तविकता में अन्तर समझने लगते हैं। वे दूसरों के व्यवहारों की नकल करते हैं। उन्हें गहराई का ज्ञान भी होने लगता है। इस अवस्था में बालकों में एक दिशात्मक समस्या–समाधान (one way problem solving) की क्षमता विकसित होने लगती है। वे दूसरों की गलतियों के प्रति वस्तुनिष्ठ (objective) दृष्टिकोण रखते हैं।

4.3.2.3 स्थूल संक्रियात्मक अवस्था (Concrete Operational Stage)– 7 से 12 वर्ष की अवस्था तक को स्थूल संक्रियात्मक अवस्था कहा जाता है। यह पिछली अवस्था से विकसित संज्ञान की अवस्था होती है। इस अवधि में बालकों में चिन्तन व कल्पना की क्षमता बढ़ जाती है। उनमें तार्किक चिन्तन करने की योग्यता विकसित हो जाती है। इससे वे दो वस्तुओं या घटनाओं के मध्य कार्यकारण सम्बन्ध, समानता / असमानता समझ सकते हैं। उनमें वार्तालाप की प्रवीणता, संज्ञानात्मक मानचित्र निर्मित करने की क्षमता, निर्देश की क्षमता आदि आ जाती है। उनमें मात्रा, ऊँचाई, लम्बाई, चौड़ाई आदि का अनुपाती ज्ञान आ जाता है। उनमें वस्तुओं को क्रमानुसार रखने की योग्यता आ जाती है और वे उनका तुलनात्मक मूल्य समझने लगते हैं। इस अवधि में बच्चों में अनुमानपरक तर्क की योग्यता आ जाती है। बच्चे दूसरों की गलतियों के प्रति आत्मनिष्ठ (Subjective) निर्णय लेने की स्थिति में आ जाते हैं। वे केवल हानि को नहीं, बल्कि गलती करने वालों के इरादों को भी समझ कर अपना निर्णय देते है।

पियाजे के अनुसार इस अवस्था के बालकों में जिन प्रमुख योग्यताओं का विकास होता है, उन्हें प्रायोगिक अध्ययनों के निष्कर्षों के अनुसार पाँच भागों में विभक्त किया गया है–

(i) **संरक्षण (Conservation)**–जब कोई पदार्थ (matter) किसी रूप में परिवर्तित होने के बाद भी भार (Weight), आयतन (volume), मात्रा (Quantity) तथा संख्या (number) की दृष्टि से समान रहना है, तो इसे संरक्षण की क्षमता कहते हैं। यह जानकारी पदार्थों की जानकारी के लिये महत्वपूर्ण होती है। यह योग्यता बालकों में पूर्व संक्रियात्मक अवस्था की अपेक्षा स्थूल संक्रियात्मक अवस्था में ज्यादा पायी जाती है।

(ii) **गणनाबोध (Numeration)**– पियाजे के अनुसार गणना बोध की योग्यता व्यावहारिक जीवन के लिये अत्यन्त आवश्यक है। चूंकि इस अवस्था का बालक विद्यालय में गणित की पढ़ाई प्रारम्भ कर देता है, अतः उसमें संख्यात्मक प्रत्ययों (numerical concepts) का ज्ञान आ जाता है। इससे वह अपनी वस्तुओं यथा कॉपी, किताब, पैसों आदि को गिनकर जान सकता है। पियाजे के अनुसार गणनाबोध स्थूल संक्रियात्मक अवस्था के पूर्व नहीं हो पाता है।

(iii) **क्रमानुसार व्यवस्थापन (Seriation)**– पंक्तिबद्धता अथवा क्रमानुसार व्यवस्थापन के संदर्भ में पियाजे ने अपने शोध द्वारा निष्कर्ष निकाला कि इस अवस्था के बालकों में वस्तुओं का क्रमानुसार व्यवस्थित करने की योग्यता विकसित हो जाती है। यह योग्यता इससे पूर्व की अवस्थाओं में विकसित नहीं होती है।

(iv) **वर्गीकरण (Classification)**– इस अवस्था के बालक वस्तुओं के अनेक दृष्टिकोणों से वर्गीकृत कर सकते है। यथा– विभिन्न स्वादवाली वस्तुओं को वर्गीकृत कर सकते है– मीठी, कड़वी, नमकीन आदि। विभिन्न रंगों, आकारों व आकषतियों के अनुसार भी वे वस्तुओं का वर्गीकरण कर लेते हैं।

(अ) उत्क्रमणशीलता (Reversibility)–इस अवस्था के बालकों को यह समझ में आने लगता है कि यदि परिस्थितियों में परिवर्तन हो, तो वस्तु पूर्व स्थिति में भी आ सकती है। यथा– एक मिट्टी की गेंद को चौरस करने से रूप परिवर्तित होता है और इसे पुनः गोल गेंद का स्वरूप दिया जा सकता है। इससे चौरसपन समाप्त होगा, पर गेंद के वजन में अन्तर नहीं आयेगा। इस प्रकार उत्क्रमणशीलता के प्रत्यय को समझने की योग्यता भी इस अवस्था में आ जाती है।

(vi) **पारस्परिक सम्बन्धों को समझने की क्षमता (Ability to understand intervelationship)**– पियाजे के अनुसार स्थूल संक्रियात्मक अवस्था का बालक विभिन्न वस्तुओं, उद्दीपकों व घटनाओं के पारस्परिक सम्बन्धों को भलीभाँति समझने लगता है, जैसे दो रेखाओं में कौन सी रेखा बड़ी है कौन सी छोटी है। इस आयु के बालकों द्वारा सम्बन्ध सूचक शब्दों का प्रयोग यह

स्पष्ट करता है कि उनमें अव्यक्त संज्ञाओं की समझ विकसित हो चुकी है।

4.3.2.4 औपचारिक संक्रियात्मक अवस्था (Formal Operational Stage)–

यह अवस्था संज्ञानात्मक विकास की अन्तिम अवस्था है। यह 12 वर्ष की आयु से प्रारम्भ होकर जीवन–पर्यन्त चलती है। इसे संज्ञानात्मक परिपवक्ता की अवस्था भी कहते हैं। इस अवधि में बालकों में अमूर्त्त चिन्तन की योग्यता तथा सिद्धान्तों से निगमन (Deduction from principles) की योग्यता आ जाती है। (Rathus 1984) पर सभी बालकों मे यह योग्यता इस आयु में नहीं आ पाती है। विभिन्न कारणों से इसमें अन्तर होता है। कोई–कोई बच्चे तो इस अवस्था तक पहुँच ही नहीं पाते हैं।

इस अवधि में बालक तार्किक निष्कर्षों पर पहुँचने लगता है। वह व्यवहार सम्बन्धी नियमों का अनुमान लगाने लगता है और परिस्थिति के सभी पक्षोंपर एक साथ ध्यान देने लगता है। उनकी सोंच में वैज्ञानिकता का प्रभाव बढ़ जाता है। इस अवधि में बालक निगमनात्मक चिन्तन प्रदर्शित करने लगते है। अर्थात् वे यह निष्कर्ष निकाल लेते हैं कि जो तथ्य एक वर्ग के लिये सत्य है, वह वर्ग के सदस्यों के लिये भी सत्य है। निगमनात्मक तर्क (Syllogistic reasoning) (यथा–सभी मनुष्य मरणशील हैं। राम एक मनुष्य हैं। अतः वह मरणशील है।) की योग्यता बालकों को इस आयु को पुनः अहंकेन्द्रित बनाने लगती है।

इस प्रकार औपचारिक संक्रियात्मक अवस्था की प्रमुख विशेषतायें है–

- तार्किक चिन्तन की योग्यता का विकास
- परिकल्पना निर्माण की क्षमता का विकास
- सिद्धान्तों से निगमन की योग्यता का विकास
- विसंगतियों को समझने की क्षमता का विकास
- वास्तविक व अवास्तविक में विभेद की योग्यता का विकास
- समस्या समाधान की क्षमता का विकास
- विचारों को वर्गीकृत व संगठित करने की क्षमता का विकास

4.3.3 पियाजे के सिद्धान्त का मूल्यांकन (Evaluation of Piaget's Theory)

पियाजे पहले मनोवैज्ञानिक थे, जिन्होंने एक ऐसे सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, जिसके द्वारा संज्ञानात्मक विकास का पूरा लेखा–जोखा प्रस्तुत किया जा सका। उनके इस सिद्धान्त की प्रायः प्रषंसा की जाती है, पर कुछ लोगों का विचार है कि उन्होंने परिपक्वता को आवश्यकता से अधिक महत्व दिया है। उनके आलोचकों का मानना था कि विकास की विभिन्न अवधियों में योग्यताओं को प्रशिक्षण द्वारा बढ़ाया जा सकता है।

(Seigles & Liebert, 1972; Miller et al., 1975)

4.3.3.1 पियाजे के सिद्धान्त के गुण (Merits of Piget's Theory)

पियाजे ने संज्ञानात्मक विकास की व्याख्या अत्यन्त व्यवस्थित ढंग से की है–

- पियाजे के अनुसार सीखना एक क्रमिक व आरोही प्रक्रिया है– यह तथ्य आज सभी स्वीकारते हैं।
- पियाजे का मत रहा है कि बच्चे स्वाभावतः जिज्ञासु, सक्रिय व खोजी प्रवृत्ति के होते हैं। यह मत आज सभी का है।
- पियाजे ने अपने सिद्धान्त द्वारा सिर्फ संज्ञान का वर्णन ही नहीं किया, अपितु उसकी व्याख्या भी की।
- पियाजे के अनुसार पर्यावरण व क्रिया मूल आवश्यकतायें होती है। यह बात आज सभी मानते हैं।
- पियाजे द्वारा संज्ञानात्मक विकास की अवस्थाओं में व्याख्या ने इस तथ्य को स्थापित किया कि आयु एवं अनुभव में वृद्धि के साथ योग्यताओं में भी विकास होता है।
- पियाजे के सिद्धान्त के अभिग्रहों का चिन्तन, सामाजिक व संवेगात्मक विकास पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। इससे बच्चों के लिये शैक्षिक कार्यक्रम का निर्धारण करने में निःसन्देह सहायता मिलती है।
- पियाजे के इस सिद्धान्त के अनुसार बालक के अमूर्त चिन्तन पर उनकी शिक्षा का प्रभाव होता है। निम्न शिक्षा स्तर के बालकों का अमूर्त चिन्तन कम होता है तथा उच्च शिक्षा स्तर वाले छात्रों का अमूर्त चिन्तन काफी ऊँचा होता है।
- पियाजे के सिद्धान्त के अनुसार औपचारिक संक्रिया अवस्था के बाद बालक का सम्पूर्ण बौद्धिक विकास हो जाता हैं

4.3.3.2 पियाजे के सिद्धान्त की कमियाँ (Demerits of Piaget's Theory)

पियाजे के सिद्धान्त के अनेक कमियाँ उनके आलोचकों ने निकाली है–

- पियाजे ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन अपने बच्चों की क्रियाओं के अवलोकन के आधार पर किया है। अतः इसमें व्यक्तिनिष्टता अधिक व वस्तुनिष्ठता अपेक्षाकृत कम है।
- पियाजे का सिद्धान्त इस धारणा पर आधारित है कि मनुष्य के शरीर के भिन्न–भिन्न अंगों की तरह उसकी बुद्धि का विकास भी शनैः शनैः होता है

जबकि यह बात पूर्ण सत्य नहीं है। जिसे पियाजे बुद्धि का विकास कहते हैं, वह वस्तुतः बौद्धिक क्षमता का विकास है।

- पियाजे ने स्कीमाटा (Schemata) के मापन की कोई विधि नहीं बताई है।
- पियाजे ने यह स्पष्ट नहीं किया है कि बच्चों का व्यवहार परिवेश के प्रति कितना प्रतिक्रियाशील (Reactive) होता है और कितना उनके व्यवहार का वातावरण पर प्रभाव पड़ता है।
- यह सिद्धान्त मुख्यतः प्रत्यय के विकास की व्याख्या करता है। संज्ञानात्मक विकास के अन्य पक्षों पर उतना ध्यान नहीं देता है।
- पियाजे की धारणा कि संज्ञानात्मक विकास एक विशेष क्रम में होता है, पूर्ण रूप से सत्य नहीं है।
- पियाजे के सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति के संज्ञानात्मक विकास का उसकी जैविक परिपक्वता से सीधा सम्बन्ध है। पर कई शोधों ने इसके विपरीत परिणाम दिये है।

पियाजे के सिद्धान्त के गुणों व कमियों की विवेचना कर हम यह कह सकते है कि उनका सिद्धान्त एक प्रभावशाली तथा व्यापक सिद्धान्त है। उनका कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण एंव सराहनीय है। उनकी सोच का विकासात्मक मनोविज्ञान में एक अलग स्थान है। कुछ आलोचनायें उसका महत्व कम नहीं कर सकती है।

पियाजे के संज्ञानात्मक विकास सिद्धान्त का शिक्षा क्षेत्र में व्यावहारिक उपयोग है–

- संज्ञानात्मक विकास की श्रेणियों के आधार पर पाठ्यक्रम का निर्माण विभिन्न आयुवर्ग के छात्रों के लिये किया जा सकता है।
- शिक्षण विधियों के क्षेत्र में भी बालकों के संज्ञानात्मक विकास के अनुसार विभिन्न विधियों का प्रयोग किया जा सकता है– अनुकरण विधि, खेल विधि, समस्या समाधान विधि, स्वक्रिया विधि आदि।
- शिक्षकों को चालक (drivers) तथा अभिप्रेरणा (motivation) का शिक्षण प्रक्रिया में उचित प्रयोग तथा एक प्रेरणादायक पर्यावरण का निर्माण करना चाहिए पियाजे के सिद्धान्त ने सीखने में इन दोनों के महत्व को रेखांकित किया है।
- पियाजे ने बुद्धि के मापन के लिये बुद्धि के व्यावहारिक उपयोग (वातावरण के साथ अन्तःक्रिया) की क्षमता को महत्व दिया है। यह वुद्धि परीक्षणों को एक व्यावहारिक स्वरूप देने का प्रयास था।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि पियाजे का सिद्धान्त संज्ञानात्मक विकास

के क्षेत्र में एक मील का पत्थर है।

बोध प्रश्न

टिप्पणी–क– नीचे दिये गये रिक्त स्थान में अपने उत्तर लिखिये।
ख– इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर का मिलान कीजिए।

1. पियाजे के संज्ञानात्मक विकास के प्रमुख सम्प्रत्ययों का नाम बताइये।

....

....

2. संज्ञानात्मक विकास की कितनी अवस्थायें पियाजे ने रेखांकित की है?

....

....

3. पियाजे के संज्ञानात्मक विकास सिद्धान्त का षिक्षा के किन क्षेत्रों में प्रयोग संभव है?

....

....

4.4 वाइगोत्स्की का सामाजिक संज्ञानात्मक विकास का सिद्धान्त (Vygotsky's Theory of Social Cognitive Development)

लेव सैम्योनोविच वाइगोत्स्की (Lev Semyonovich Vygotsky) रूसी मनोवैज्ञानिक थे। इनका जन्म 5 नवम्बर 1896 तथा मृत्यु 11 जून 1934 ई0 में हुई। संज्ञानात्मक विकास के क्षेत्र में शोध करने वालों में वाइगोत्स्की का सामाजिक–सांस्कृतिक दृष्टिकोण (Socio- cultural perspective) एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

वाइगोत्सकी ने 1920–30 के मध्य अनेक शोधकार्य किये। इस अवधि में पियाजे का सिद्धान्त भी मूर्तरूप ले रहा था। दुर्भाग्य से वाइगोत्स्की की मृत्यु 38 वर्ष की अल्पायु में हो गई। पर, अपने शोधों के आधार पर उन्होंने संज्ञानात्मक विकास के क्षेत्र से सम्बन्धित जो विचार प्रस्तुत किये, उन्हें इस इकाई में प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है।

वाइगोत्सकी ने संज्ञानात्मक विकास के परिप्रेक्ष्य में दो प्रमुख बिन्दुओं को स्वीकार किया–

(1) संज्ञानात्मक विकास सामाजिक–सांस्कृतिक परिवेष में घटित होता है और उससे प्रभावित भी होता है।

(2) बच्चों में महत्वपूर्ण संज्ञानात्मक कौषलों का विकास माता–पिता, शिक्षक व अन्य व्यक्तियों के साथ अन्तःक्रिया (Interaction) पर निर्भर करता है।

इन बिन्दुओं के आधार पर वाइगोत्सकी का विचार था कि बालक के संज्ञानात्मक विकास की व्याख्या उसके सामाजिक–सांस्कृतिक परिवेष के परिप्रेक्ष्य में ही की जानी चाहिए। जो बालक जिस सामाजिक –सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में रहता है, उसी के अनुरूप उसके भाव, विचार व मानसिक दृष्टिकोण आदि होते हैं। उसके मानसिक चिन्तन की क्षमताओं का विकास भी उसी सांस्कृतिक–सामाजिक परिवेश में होता है। अतः यदि किसी के संज्ञान का अध्ययन उसके परिवेष से अलग करके भी किया जाये, तब भी उसके मूल्य, विश्वास परम्पराओं तथा बौद्धिक चिन्तन का प्रभाव उस पर पड़ेगा ही। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि संज्ञान में असमानता सामाजिक–सांस्कृतिक परिवेष में असमानता के कारण ही होती है। शैफर तथा किप (Shaffer & Kipp 2007) ने बताया कि वाइगोत्सकी का सामाजिक–सांस्कृतिक सिद्धान्त यह मानता है कि बच्चे अपनी संस्कृति के मूल्य, विश्वास व समस्या– समाधान की युक्तियाँ समाज के सुविज्ञ सदस्यों के साथ सहयोगी संवाद करके प्राप्त करते हैं।

4.4.1 वाइगोत्सकी के संज्ञानात्मक विकास के उपागम

वाइगोत्सकी ने संज्ञानात्मक विकास के सिद्धान्त को समझने के लिये चार उपागमों का उल्लेख किया है। ये चार परस्पर सम्बन्धित अन्तर्क्रियात्मक स्तर हैं। ये सभी बालक के परिवेश से सम्बन्धित हैं, जिसमें वह सीखने व अनुभव करने का अवसर प्राप्त करता है। इन उपागमों का विवरण निम्न है–

1. सूक्ष्मवृत्तीय विकास (Microgenetic Development)

संज्ञानात्मक विकास की अवधि में यह वह लघुकालिक समयावधि है जिसमें बच्चे किसी समस्या के समाधान में अपने विचार, उपागम या तकनीक को बदलते रहते हैं। (Seigler & Jenkins 1989)

सूक्ष्मवृत्तीय दशा में संज्ञात्मक व्यवहारों का गहन विश्लेषण किया जाता है। जैसे–कोई सीखी हुई सामग्री का पुनर्स्मरण करने के लिये निष्चित अवधि व प्रयासों की निश्चित संख्या देकर यह जाँचने का प्रयास किया जये कि पुनर्स्मरण करने में बालक किस स्मरण कौशल अथवा युक्ति का प्रयोग कर रहा है।

2. व्यक्तिवृत्तीय विकास (Ontogenetic Development)

व्यक्ति की पूरी जीवन अवधि में जो विकासात्मक परिवर्तन होते हैं, उन्हें व्यक्ति

वृत्तीय विकास के नाम से पुकारते हैं। यह उपागम व्यक्ति में जीवनपर्यन्त होने वाले परिवर्तनों के अध्ययन व विश्लेषण पर बल देता है। इसकी सहायता से विकास के बारे में निष्कर्ष निकाले जाते हैं।

3. जातिवृत्तीय विकास (Phylogenetic Development)

इस उपागम में विकासत्मक परिवर्तनों का मापन व विश्लेषण विकासवादी (Evolutionary) दृष्टिकोण से किया जाता है। जैसे मानवजाति का विश्लेषण अतीत के सैकड़ों या हजारों वर्ष की अवधि के सन्दर्भ में करना। जब हमें मानव–विकास के इतिहास की व्यापक जानकारी हो जाती है, तो इससे वर्तमान में मानव–विकास को समझने में सरलता होती है।

4. सामाजिक ऐतिहासिक विकास (Socio-Historical Development)

इस उपागम में व्यक्ति के संज्ञानात्मक विकास को समझने के लिये हमें उसके सामाजिक व ऐतिहासिक संदर्भ को ध्यान में रखना होगा। दूसरे शब्दों में हमें व्यक्ति की संस्कृति, मूल्य, मानक व तकनीकी बदलावों के प्रभावों को भी ध्यान में रखना होगा। वाइगोत्सकी का यह दृष्टिकोण सबसे महत्वपूर्ण है। इसने संज्ञानात्मक विकास के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन का आगाज किया। यह दृष्टिकोण आज भी स्वीकार किया जाता है।

इन उपगमों के विवेचन से कुछ बातें स्पष्ट हुई हैं, जो निम्नलिखित हैं–

- बालक के संज्ञानात्मक विकास में उसके सामाजिक –सांस्कृतिक वातावरण की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।
- यह विकास शून्य (Vacuum) में घटित नहीं होता है।
- सामाजिक–सांस्कृतिक परिस्थितियाँ एक सी नहीं होती। इसीलिए संज्ञानात्मक विकास भी एक सा नहीं होता।
- चूँकि संज्ञानात्मक विकास सामाजिक –सांस्कृतिक परिवेश में होता है। अतः यह सार्वभौमिक नहीं हो सकता।
- विभिन्न संस्कृतियों के लोगों के संज्ञानात्मक विकास में समानता हो सकती है, पर एकरूपता नहीं। मात्र परिपक्वता ही इस विकास को प्रभावित नहीं करती, जैसा पियाजे ने बताया था।

4.4.2 वाइगोत्सकी के सिद्धान्त के प्रमुख सम्प्रत्यय (Basic concepts of Vygotsky's Theory)

वाइगोत्सकी ने अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन में कुछ प्रमुख सम्प्रत्ययों का प्रयोग

किया जिनका विवरण निम्न है–

(i) बौद्धिक अनुकूलन के उपकरण (Tools of Intellectual Adaptation)– वाइगोत्सकी का मानना है कि प्रत्येक बच्चे में जन्म के समय केवल प्रारम्भिक मानसिक क्षमतायें ही प्रदर्शित होती है। पर सामाजिक अधिगम व सामाजीकरण के फलस्वरूप उसकी मानसिक क्षमताओं में वृद्धि होती है और उसमें चिन्तन व समस्या समाधान की योग्यता विकसित हो जाती है। प्रत्येक संस्कृति में समस्या–समाधान के तरीके अलग–अलग होते हैं। सामाजीकरण से बच्चों में अनुकूलन क्षमता का विकास होता है। प्रारम्भ में बच्चे लिखना नहीं जानते हैं, पर अधिगम के परिणामस्वरूप आसानी से लिखने लगते हैं। समस्याओं के समाधान में दूसरों से अन्तःक्रिया करके बच्चे जो विधियाँ या उपाय सीखते हैं, वाइगोत्सकी ने उन्हें बौद्धिक अनुकूलन के उपकरण (Tools of Intellectual Adaptation) का नाम दिया है। इसके अन्तर्गत दो तत्व महत्वपूर्ण है–

1. मध्यस्थता (Mediation)
2. मनोवैज्ञानिक उपकरण (Psychological Tools)

सीखने वाले व सीखने की विषयवस्तु के बीच जो दूरी होती है, उसे कुछ व्यक्ति (माता–पिता, शिक्षक आदि) तथा कुछ प्रतीक (भाषा) पाट देते हैं। उनकी इस भूमिका को मध्यस्थता कहते हैं। दूसरे शब्दों में व्यक्ति व प्रतीक सीखने वाले व सीखने की विषयवस्तु को पास लाने में मध्यस्थ का काम करते है।

मनोवैज्ञानिक उपकरण एक विशिष्ट संस्कृति के लिये प्रतीकात्मक समुदाय होते है, जो जब अधिगम कर्ता द्वारा अन्तर्निहित कर लिये जाते हैं, तो अधिगमकर्ता के आन्तरिक संज्ञानात्मक उपकरण (inner cognitive tools) बन जाते है। इनका न सिर्फ सैद्धान्तिक महत्व है, अपितु व्यावहारिक महत्व भी है। ये मनोवैज्ञानिक उपकरण कई व्यावहारिक कार्यक्रमों को एक आधार देते हैं, जो विद्यार्थियों की संज्ञानात्मक क्षमता का विकास करते हैं, संज्ञानात्मक ढाँचे (Meta-cognition) का निर्माण करते हैं तथा संज्ञानात्मक तत्वों को अनुदेशात्मक अभ्यास के साथ एकीकृत करते है। यथा– बच्चे भारत में 15 अगस्त को स्वतंत्रता दिवस है– यह जानते हैं। पर, विद्यालय में इससे सम्बन्धित कार्यक्रमों में भाग लेने से उनमें इस दिन के महत्व का पता चलने लगता है। बाद में वे इस दिन के साथ देश–प्रेम की भावना को जोड़ लेते हैं। इस प्रकार उनके संज्ञानात्मक ढाँचे में देशप्रेम व इससे सम्बन्धित त्याग, बलिदान, शौर्य आदि सभी भावनायें सम्मिलित हो जाती हैं।

(2) समीपस्थ विकास क्षेत्र (Zone of Proximal Development)

समीपस्थ विकास क्षेत्र या ZPD (Zone of Proximal Development) से वाइगोत्सकी का तात्पर्य उन कार्यों की श्रृंखला से है, जिन्हें करना सीखने की प्रक्रिया में बालक है। ZPD की न्यूनतम सीमा कौषल का वह स्तर है, जो बालक स्वतंत्र रूप से कार्य करते हुए प्राप्त करना है। इसे 'बालक के वास्तविक विकास स्तर' के नाम से भी जाना जाता है। ZPD की अधिकतम सीमा कौशल का वह सम्भावित स्तर है जो बालक एक योग्य प्रशिक्षक की सहायता से प्राप्त कर सकता है।

वाइगोत्सकी ने ZPD का प्रयोग बालक के अधिगम तथा संज्ञानात्मक विकास के सम्बन्धों की व्याख्या करने के लिये किया। इसके पहले अधिगम व विकास से सम्बन्धित तीन प्रमुख विचारधारायें प्रचलित थीं–

(i) विकास के एक निश्चित स्तर पर पहुँचने के बाद ही अधिगम सम्भव हैं अर्थात् विकास अधिगम से हमेषा पहले आता है। (Constructivism का विचार)।

(ii) अधिगम व विकास एक साथ होते हैं। दोनों को अलग नहीं किया जा सकता। वास्तव में, अधिगम ही विकास है। (Behaviourism के अनुसार)

(iii) अधिगम व विकास अलग–अलग पर अन्तःक्रियाशील प्रक्रियायें हैं। एक प्रक्रिया दूसरी प्रक्रिया की तैयारी करती है। (Gestaltism के अनुसार)

वाइगोत्सकी ने इन तीनों प्रमुख सिद्धान्तों को अस्वीकार किया। उनका मानना था कि अधिगम हमेशा विकास से पहले समीपस्थ विकास क्षेत्र (च्क) से घटित होता है। दूसरे षब्दों में, एक योग्य व्यक्ति की सहायता से एक बालक उन कौषलों अथवा उसके पक्षों को सीख सकता है, जो बालक के वास्तविक विकास या परिपक्वता स्तर से ज्यादा ऊपर के हैं। अतः विकास सदैव बालक की सीखने के सामर्थ्य का अनुसरण करता है। इस अर्थ में ZPD संज्ञानात्मक विकास का एक भावी चित्र प्रस्तुत करता है, जो बालक के स्वतंत्र रूप से कार्य करने की योग्यता को स्पष्ट करता है।

वाइगोत्सकी ने ZPD का प्रयोग विभिन्न स्थानों में विभिन्न संदर्भों में किया है। विकास के संदर्भ में यह बच्चे के उभरते हुए (emerging) मानसिक कार्यों की ओर इंगित करता है। प्रयोग के संदर्भ में यह बालक के स्वतंत्र रूप से किये गये कार्यों तथा निर्देशन के साथ किये गये कार्यों के अन्तर के विषय में प्रयुक्त किया गया है। अन्तिम रूप में ZPD का प्रयोग एक 'लाक्षणिक क्षेत्र' (metapheric 'space') के रूप में किया गया है, जहाँ बालक की प्रतिदिन की साधारण अवधारणायें उसके शिक्षकों व अधिगम के अन्य मध्यस्थों द्वारा दिये गये वैज्ञानिक प्रत्ययों के साथ मिलती हैं।

(3) स्कैफोल्डिंग (Scaffolding)

स्कैफोल्डिंग का शाब्दिक अर्थ है ढाँचा या पाड़ बाँधना। स्कैफोल्डिंग की

अवधारणा ZPD से सम्बन्धित है, यद्यपि वाइगोत्सकी ने इस शब्द का प्रयोग स्वयं कहीं नहीं किया। संज्ञानात्मक विकास के संदर्भ में स्कैफोल्डिंग का अर्थ है 'छात्र के संज्ञानात्मक सामर्थ्य के अनुसार सहायता के स्तर को बदलना।' जिस समय बालक को कठिनाई हो, उसे ज्यादा सहायता देना तथा जब बालक कार्य ठीक से करने लगे, कम सहायता करना। आदर्श स्थिति में, स्कैफोल्डिंग बालक के 'सम्भावित विकास स्तर' को ZPD में बनाये रखने का प्रयास है।

(4) निर्देशित सहभागिता (Guided Participation)

संज्ञानात्मक योग्यता को प्रोत्साहित करने में निर्देशित सहभागिता अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसका अर्थ वयस्कों एवं बच्चों के बीच होने वाली उस अन्तःक्रिया से है, जिसमें बच्चे अपने वरिष्ठ लोगों के सांस्कृतिक कार्यों में सहभागिता करते है अथवा उनके व्यवहार का प्रेक्षण करते हैं। इससे उनके संज्ञान को निश्चित स्वरूप प्राप्त होता है।

निर्देशित सहभागिता एक प्रकार का अनौपचारिक प्रशिक्षण है। इससे संज्ञानात्मक विकास की गति बढ़ जाती है। यह अनेक दृष्टियों से लाभकारी है–

- बच्चों के सीखने की क्षमता बढ़ती है।
- उनकी स्मरण व सम्प्रेशण क्षमताओं में वृद्धि होती है।
- बच्चे स्वयं को समझने लगते है। फलस्वरूप उनके 'आत्म' (Self) का विकास होता है।
- बच्चे अपने सामाजिक–सांस्कृतिक वातावरण से परिचित होने का अवसर प्राप्त करते है।
- वे पारिवारिक व सामाजिक मूल्यों को आत्मसात करते हैं।
- उनमें सामाजिक एकता की भावना विकसित होती हैं

5. विचार तथा भाषा (Thought & Language)

वाइगोत्सकी की सबसे महत्वपूर्ण देन भाषा विकास व विचारों के अन्तः–सम्बन्ध के क्षेत्र में है। उनका मानना था कि वाणी प्रारम्भ में सम्प्रेषण व सामाजीकरण के साधन के रूप में प्रयुक्त होती है, फिर विचार का एक उपकरण बन जाती है। उन्होंने भाषा का दो रूपों में प्रयोग बताया है।

(1) मौन आन्तरिक तथा (2) साधारण बोलचाल की भाषा। वाइगोत्सकी के अनुसार वाह्य भाषा एक आन्तरीकरण प्रक्रिया से गुजर कर आन्तरिक वाणी के रूप में विकसित होती है। यही कारण है कि बच्चे अक्सर बोलकर सोचते हैं। बड़े होने पर वे क्या विचार करने हैं, यह सिर्फ वहीं जानते है। बड़े होने पर सोचने की प्रक्रिया मानसिक होती है।

अतः विचार सामाजिक रूप से विकसित होते है। 'अपने आप से बोलने की क्रिया (Self-talk) एक आरोही वक्ररेखा के रूप में विकसित होती है और अन्त में यह आन्तरिक भाषा बन जाती है।' (वाइगोत्सकी, 1987) इस आन्तरिक भाषा की सहायता से बच्चे अपने क्रिया–कलापों को संचालित करते हैं। इस प्रकार विचार भाषा की सहायता से उच्च मानसिक स्तर को प्राप्त करते हैं।

वाइगोत्सकी के अनुसार भाषा के विभिन्न प्रकार एक–दूसरे का स्थान नहीं लेते है। वे मानव मस्तिष्क में साथ–साथ रहते हैं। नई जानकारी पुरानी को पूर्णता प्रदान करती है। साक्षरता अपने विभिन्न स्वरूपों में तार्किक गणितीय चिन्तन की सहायता करती है तथा छात्रों को कल्पना व संवेगात्मक विकास के उपकरण देती है।

6. खेल का मनोविज्ञान (Psychology of Play)

वाइगोत्सकी ने खेल को मनोवैज्ञानिक नजरिये से देखा और बच्चे के विकास में इसकी भूमिका के महत्व को इंगित किया। उनके अनुसार खेल के द्वारा बालक में सांसारिक वस्तुओं से अलग एक अमूर्त चिन्तन विकसित होता है, जो उच्च मानसिक क्रियाओं के विकास में योगदान करता है। वाइगोत्सकी के अनुसार खेल काल्पनिक तथा अप्राप्य आकांक्षाओं की आभासीय प्राप्ति (Illusory realization) है। कल्पना पशुओं में अनुपस्थित होती है, छोटे बच्चों की चेतना में भी नहीं होती है। कल्पना एक नई मानसिक संरचना है, जो विशिष्ट मानवीय चेतन प्रक्रिया का प्रतिनिधित्व करती है। इसका प्रारम्भ क्रिया से होता है। किसी वस्तु में किसी अन्य वस्तु या विचार की कल्पना खेल से प्रारम्भ होती है। यथा–बचपन में घर–घर खेलकर माँ–बाप, भाई–बहन की तरह व्यवहार करना या एक डंडे को घोड़ा मानकर उस पर सवारी करना कल्पना के द्वारा होता है। इसीलिये कहते हैं 'बच्चों का खेल कल्पना की क्रियाशीलता होता है। जब बच्चे किशोर हो जाते हैं तो यही कल्पना 'क्रियाहीन खेल' कही जा सकती है। खेल द्वारा बालक सामाजिक नियम भी सीखता है। इस प्रकार खेलों का भी अपना महत्व है।

4.5 वाइगोत्सकी एवं पियाजे के सिद्धान्तों की तुलना (Comparison of Piaget's and Vyagotsky's Theories)

वाइगोत्सकी की मष्त्यु अल्पायु में ही हो गई थी। उनके सिद्धान्तों का सम्पूर्ण स्वरूप उनके अनुयायियों द्वारा प्रस्तुत किया गया। फिर भी उनके विचार तत्कालीन शिक्षा क्षेत्र के लिये क्रान्तिकारी थे। उनके सिद्धान्तों की तुलना निम्न तालिका में प्रस्तुत की जा रही है।

तालिका 4.1 वाइगोत्सकी व पियाजे के सिद्धान्तों की तुलना

पियाजे का संज्ञानात्मक विकास का सिद्धान्त		वाइगोत्सकी का सामाजिक सांस्कषतिक सिद्धान्त	
1.	संज्ञानात्मक विकास का प्रतिमान सार्वभौमिक होता है।	1.	संज्ञानात्मक विकास सांस्कृतिक –सामाजिक परिवेष से प्रभावित होता है, अतः असमानहोता है।
2.	संज्ञानात्मक विकास बच्चों द्वारा किये जाने स्वतंत्र व्यवहारों पर निर्भर होता है।	2.	संज्ञानात्मक विकास सामाजिक–सांस्कृतिक परिवेष के साथ अन्तर्क्रिया का परिणाम है।
3.	बालक आत्मकेन्द्रित विचारों को सामाजिक परिस्थितियों में भी उपयोग में लाता है।	3.	बालक जो देखता है, उसका अनुकरण करता है। सामाजिक व्यवहार वह स्वयं अंगीकार कर लेता है।
4.	सहपाठी या मित्र परिवर्तन अभिकर्ता (Change agent) का कार्य करते हैं।	4.	प्रौढ़ व्यक्ति (शिक्षक, माँ–बाप आदि) बच्चों के लिये परिवर्तन अभिकर्ता (Change agent) का कार्य करते हैं। वे मॉडल (Model) के रूप में लिये जाते हैं।

इस प्रकार पियाजे व वाइगोत्सकी के सिद्धान्त एक दूसरे से अलग है–

बोध प्रश्न

टिप्पणी – (क) नीचे दिये गये रिक्त स्थान में अपने उत्त लिखिये।
(ख) इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर का मिलान कीजिए।

4. वाइगोत्सकी के संज्ञानात्मक विकास के उपागमों के नाम बताइये।

....

....

5. बौद्धिक अनुकूलन के उपकरण में कौन से तत्व महत्वपूर्ण है?

....

....

6. वाइगोत्सकी के अनुसार अधिगम पहले होता है या विकास?

....

....

4.6 ब्रूनर का संज्ञानात्मक विकास का सिद्धान्त (Bruner's Theory of Cognitive Development)

जीरोम सेमोर ब्रूनर (Gerome Seymour Bruner or J.S. Bruner) का जन्म 1 अक्टूबर 1915 को न्यूयार्क में हुआ था। ब्रूनर एक ऐसे अमेरिकी मनोवैज्ञानिक थे, जिन्होंने मानवीय संज्ञानात्मक मनोविज्ञान तथा संज्ञानात्मक अधिगम सिद्धान्त के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दिया। सम्प्रति वे अमेरिका की न्यूयार्क यूनिवर्सिटी ऑफ ला (Newyark University of Law) में वरिष्ठ शोध फेलो (Senior Research Fellow) के पद पर कार्यरत हैं। उन्होंने अपने जीवन काल में हार्वर्ड विश्वविद्यालय, ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय तथा न्यूयार्क विश्वविद्यालय में कार्य किया।

ब्रूनर ने पियाजे के संज्ञानात्मक विकास के सिद्धान्त को एक नया कलेवर दिया। चिन्तन की क्षमता संज्ञानात्मक विकास के फलस्वरूप विकसित होती हैं बुद्धिमान मस्तिष्क अनुभवों के माध्यम से 'जातिगत कूट संकेतों का एक तंत्र निर्मित कर लेता है जो प्राप्त जानकारी से आगे बढ़कर नये व लाभकारी पूर्वानुमान लगा लेता है।'' ("Generic coding systems that permit one to go beyond the data to new and possibly fruitful predictions"- Bruner, 1957, p. 234) अतः ब्रूनर के अनुसार अधिगम के फलस्वरूप बालक को न केवल संस्कृति द्वारा दिये गये सिद्धान्तों, वर्गों व समस्या समाधान प्रक्रियाओं की जानकारी होनी चाहिये, बल्कि उसमें स्वयं अपने लिये 'खोज' करने की योग्यता भी आनी चाहिये।

संज्ञानात्मक विकास मानवीय क्षमताओं तथा सांस्कृतिक तकनीकी आविष्कारों की अन्तःक्रिया से होता है। सांस्कृतिक तकनीकी आविष्कार मानवीय क्षमताओं को बढ़ाने में सहयक होते हैं। तकनीकी आविष्कार सिर्फ टी0वी0 व कम्प्यूटर नहीं होते है, बल्कि ये भाषा तथा अमूर्त चिन्तन से भी सम्बद्ध होते हैं। ब्रूनर यहाँ पर वाइगोत्सकी के विचार कि भाषा वातावरणीय उद्दीपक तथा व्यक्ति की प्रतिक्रिया के बीच मध्यस्थ का कार्य करती है से सहमत प्रतीत होते है।

4.6.1 ब्रूनर की ज्ञान को स्मरण में संचित करने की तीन विधियाँ (Bruner's Three Modes of Representation)

Modes of Representation जानकारी अथवा ज्ञान के याददाश्त में सांकेतिक रूप से संचित करने की क्रिया है। तीन तरह से यह जानकारी स्मरण रखी जाती है–

1. **सक्रियता विधि (Enactive Mode) :** (0–1 वर्ष) – यह वह विधि है जिसमें शिशु अपनी अनुभूतियों को शब्दहीन क्रियाओं द्वारा अभिव्यक्त करते हैं। षिषु क्रिया आधारित सूचनाओं को याददाश्त में सांकेतिक भाषा में संचित करते हैं। शिशु क्रियाओं का प्रयोग कर अनुभवों को संचित करते है। जैसे एक झुनझुना बजाने की क्रिया में मांसपेशियां का संचालन होता है। इस क्रिया को शिशु स्मरण रखता है और जब कभी वह झुनझुने को हाथ में लेता है, तो उसे हिलाने लगता है चाहें झुनझुना बजे या नहीं। वह मांसपेशियों के संचालन से झुनझुने की आवाज को जोड़ लेता है और उसे याद रखता है। यह क्रिया वयस्कों में भी पाई जाती हैं। जैसे टाइप करने में उंगलियाँ अपने आप चलती रहती है, उसमें व्यक्ति को ध्यान देने की जरूरत नहीं। सभी चालक (motor) कार्य इस श्रेणी में आते हैं। तैरना भी एक ऐसी गतिक प्रक्रिया है। 1 वर्ष के अन्दर के शिशु तैरना सीख लेते हैं। इस प्रकार यह विधि क्रिया पर आधारित होती है, अतः इसे सक्रियता विधि कहते हैं।

2. दृष्य प्रतिमा विधि (Iconic Mode) (1–6 वर्ष)– ब्रूनर के अनुसार इस अवधि में बालक जानकारियों को देखकर एक मानसिक चित्र बनाता है और उसे अपनी याददाश्त में संचित करता है। कुछ यह कार्य समझबूझ कर (Consciously) करते हैं कुछ यह कार्य अचेतन रूप से (बिना अनुभव किये) करते हैं। शायद इसीलिये एक नये विषय के ज्ञान प्राप्त करने में शाब्दिक जानकारी के साथ उदाहरण व रेखाचित्र ज्यादा सहायक होते हैं। इस अवस्था में बालक ज्ञान को मानसिक चित्रों की सहायता से संचित करता है। यह प्रत्यक्षीकरण (Perception) की क्षमता का विकास करता है।

3. **प्रतीकात्मक विधि (Symbolic Mode) (7 वर्ष से बाद तक)–** प्रतीकात्मक विधि सबसे अंत में विकसित होती है। इसमें सूचना का संचय किसी संकेत या प्रतीक जैसे भाषा, के रूप में किया जाता है। जानकारी संचित करने की यह सबसे अनुकूल विधि है। क्रिया व प्रतिमा अथवा चित्र का मूल वस्तु के साथ स्थायी सम्बन्ध होता है।

प्रतीक अथवा संकेत नमनीय होते हैं और उनकी अनेक विकल्पों के साथ सम्बन्धित किया जा सकता है, उनका वर्गीकरण किया जा सकता है, उन्हें क्रम

दिया जा सकता है। इस अवस्था में ज्ञान का संचय शब्दों, गणितीय संकेतों या अन्य प्रतीक चिन्हों के माध्यम से किया जाता है।

ब्रूनर द्वारा बताई गई तीनों विधियों में क्रमशः व्यवहारवाद, गेस्टाल्टवाद और संज्ञानवाद, (Behaviourism, Gestaltism and Cognitism) की झलक मितती है। सक्रियता विधि उद्दीपन–अनुक्रिया (S-R) सम्बन्ध को दिखाती है। दृश्य प्रतिमा विधि सामग्राकृति या गेस्टाल्टवाद का अनुसरण करती है। सांकेतिक विधि पियाजे के संज्ञानवाद के सिद्धान्त के अनुरूप क्रिया करती है।

ब्रूनर ने अपने शोध के आधार पर बताया कि जन्म से 1 वर्ष तक सक्रियता विधि, 1 वर्ष के बाद से 6 वर्ष तक दृश्य–प्रतिमा विधि तथा 7वें वर्ष से बाद तक प्रतीकात्मक विधि की प्रधानता रहती है। पर इसका अर्थ यह नहीं है ये विधियाँ अवस्था–विशेष से ही सम्बद्ध है। पियाजे की तरह उसका मानना है कि संज्ञानात्मक कौशलों व तकनीक का विकास धीरे–धीरे होता है और वे 'वयस्क' संज्ञानात्मक तकनीक में एकीकृत हो जाती है। संज्ञानात्मक विकास में सबसे महत्वपूर्ण भाषा का विकास है।

ब्रूनर के संरचनात्मक सिद्धान्त (Constructivist Theory) के अनुसार किसी भी नई जानकारी को संचित करने के लिये सक्रियता से दृश्य प्रतिमा तथा अंत में प्रतीकात्मक विधि का क्रमिक रूप से प्रयोग न केवल बालक अपितु वयस्क भी करते हैं। अतः यदि अनुदेशन की रूपरेखा उचित प्रकार से बनाई जाये, तो बालक भी छोटी आयु में किसी भी ज्ञान को प्राप्त कर सकते है। यह पियाजे के सिद्धान्तों से बिल्कुल अलग है, जहाँ ज्ञान अवस्था के अनुसार ही प्राप्त किया जा सकता है। ब्रूनर शिशु को जन्म से ही एक बुद्धिमान व सक्रिय समस्या–समाधानकर्ता मानता है, जो वयस्को के बराबर ही बौद्धिक क्षमता से युक्त है।

4.6.2 ब्रूनर के शिक्षण प्रक्रिया से सम्बन्धित महत्वपूर्ण तथ्य (Important Facts related to Teaching Process by Bruner)

ब्रूनर ने तत्कालीन कक्षा–शिक्षण व सीखने की प्रक्रिया का गहराई से अध्ययन किया। उन्होंने इस सम्बन्ध में निम्नलिखित तथ्यों को प्रस्तुत किया–

(1) **अन्तर्दर्शी चिन्तन बनात विश्लेषणात्मक चिन्तन (Intuitive Thinking Vs Analytical Thinking)**–ब्रूनर ने कक्षा शिक्षण के क्षेत्र में यह पाया कि शिक्षक अन्तर्दर्शी चिन्तन की अपेक्षा विश्लेषणात्मक चिन्तन पर बल देते हैं, जबकि ब्रनूर का मानना था कि सीखने की प्रक्रिया में अर्न्तदर्शी चिन्तन का

महत्व ज्यादा होता है। 'अन्तदर्शन' (Intution) से ब्रूनर का तात्पर्य उस प्रक्रिया से है जिसमें व्यक्ति अपने मन–मस्तिष्क से (बिना विश्लेषण के) किसी समस्या का समाधान सीधे प्राप्त करता है। ब्रूनर का मानना था, बच्चों को अर्न्तदर्शी चिन्तन के अवसर दिये जाने चाहिए।

(2) **अन्वेषणात्मक अधिगम (Discovery Learning)**– ब्रूनर के अनुसार बच्चों को किसी विषय के सम्प्रत्ययों का ज्ञान स्वयं के प्रयास से आगमनात्मक चिंतन (Inductive Thinking) द्वारा प्राप्त करना चाहिए। जो ज्ञान आत्मअन्वेषित (Self Discovered) होता है, वही सार्थक व ज्यादा टिकाऊ होता है।

(3) **विषय की संरचना (Structure of Discipline)**– ब्रूनर का मानना था कि प्रत्येक विषय की अपनी एक संरचना (Structure) होती है। कुछ आधारभूत सम्प्रत्यय (Concepts), प्रविधियाँ (procedures) तथा नियम (Rules) होते हैं, जिनको जाने बिना उस विषय का ज्ञान सम्भव नहीं है। अतः किसी भी विषय का स्पष्ट ज्ञान करने के लिये इन नियमों, प्रविधियों व सम्प्रत्ययों को पहले स्पष्ट किया जाना चाहिए।

(4) **सम्बद्धता का महत्व (Importance of Relevance)**– असम्बद्ध जानकारी का कोई महत्व नहीं होता। अतः शिक्षण–संस्थाओं में जो भी ज्ञान दिया जाये उसकी उपयोगिता व्यक्ति तथा समाज व संस्कृति के लिये अवश्य होनी चाहिए। इस प्रकार ब्रूनर ने दो तरह की सम्बद्धताओं की चर्चा की है–

(अ) व्यक्तिगत सम्बद्धता (Personal Relevance) तथा

(ब) सामाजिक सम्बद्धता (Social Relevance)

अतः शिक्षा के उद्देश्य व्यक्तिगत तथा सामाजिक लक्ष्यों व उद्देश्यों के अनुसार होने चाहिए।

(5) **तत्परता (Readiness)**– पियाजे के तत्परता के सिद्धान्त (Notion of Readiness) के अनुसार छात्रों की प्रत्येक अवस्था के अनुरूप पाठ्यक्रम वर्गानुसार तैयार किया जाना चाहिए। पर, ब्रूनर इससे सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार छात्रों के अनुरूप पाठ्यक्रम तैयार किया जाना चाहिए।

(6) **स्वक्रिया का महत्व (Importance of Self Activity)**– ब्रूनर के अनुसार सीखने की परिस्थितियाँ शिक्षक दे तथा छात्र इसमें सक्रिय रूप से भाग लें। स्वक्रिया द्वारा प्राप्त ज्ञान स्थायी व स्पष्ट रहता है। अतः छात्रों को अधिगम स्वयं करना चाहिये, अपनी मानसिक शक्तियों का प्रयोग कर ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

4.6.3 ब्रूनर के सिद्धान्त का शैक्षिक निहितार्थ (Educational Implications of Bruner's Doctrine)-

(1) ब्रूनर के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य सिर्फ ज्ञान देना नहीं है। इसका उद्देश्य छात्र की चिन्तन व समस्या–समाधान की क्षमता को लचीला बनाना है, जिससे वह जीवन की समस्याओं को सुलझाने में इस क्षमता का प्रयोग कर सके। इस हेतु प्रतीकात्मक चिन्तन (Symbolic Thinking) का विकास आवश्यक है।

(2) 1960 में अपने लेखन 'The process of Education' में ब्रूनर में स्वीकार किया कि छात्र सक्रिय अधिगमकर्ता है, जो अपने ज्ञान की रचना स्वयं करता है।

(3) उन्होंने पियाजे के 'तत्परता की धारणा' (Notion of Readiness) का विरोध किया। पियाजे का मानना था कि विकास की अवस्थाओं के अनुरूप सरल व जटिल ज्ञान दिया जाना चाहिए। कम आयु में बालक जटिल विषयवस्तु समझ नहीं सकते हैं। अतः उन्हें इस समय सरल ज्ञान दिया जाना चाहिए। ब्रूनर ने इसका विरोध किया। उनका मानना था कि कोई भी विषय प्रभावपूर्ण ढंग से षुद्ध बौद्धिक रूप में किसी भी बालक को विकास की किसी भी अवस्था मं पढ़ाया जा सकता है। (Bruner 1960)

(4) इसके लिये उन्होंने एक विशिष्ट 'चक्रीय पाठ्यक्रम' (Spiral curiculum) की अवधारणा प्रस्तुत की। इस पाठ्यक्रम में जटिल ज्ञान भी एक सरल तरीके से पहले प्रस्तुत किया जाये। पुनः उसे जटिल व उच्च स्तर पर पढ़ाया जाये। पहले सरल, फिर जटिल व कठिन स्तर पर पढ़ाया जाये। इससे छात्र समस्या समाधान कर सकेंगे। चक्रीय पाठ्यक्रम में विषय के आधारभूत विचार व सिद्धान्त बार–बार दोहराये जाने हैं जिससे उनके आधार पर छात्र उच्च मानसिक स्तर की जटिल विषयवस्तु को पूर्ण रूप से आत्मसात कर लें।

(5) ब्रूनर ने छात्र के लिये सीखने के उद्देश्य को महत्व दिया है। इसके लिये कक्षा में अच्छी श्रेणी पाना अथवा प्रतियोगिताओं में वरीयता प्राप्त करने से ज्यादा महत्वपूर्ण है सीखने वाली विषयवस्तु में रूचि जाग्रत रखना। यह रूचि सीखने की प्रक्रिया का सबसे महत्वपूर्ण उद्दीपक (Stimlus) है।

(6) ब्रूनर के अनुसार छात्र को अपने ज्ञान की स्वयं रचना करनी चाहिए। उसे सांकेतिक विधि का प्रयोग कर ज्ञान को व्यवस्थित तथा वर्गीकृत करना चाहिये। यह कार्य सदैव चलता रहता है क्योंकि 'ज्ञान एक प्रक्रिया है, उत्पाद नहीं।' ('Knowing is a process not a product'-Bruner 1966)

(7) उन्होंने बताया कि सांकेतिक प्रक्रिया को शिक्षक विकसित न करे, बल्कि छात्र स्वयं इस प्रक्रिया को खोजने (Discover) का प्रयास करें। इसे उन्होंने अन्वेषण अधिगम (Discovery Learning) का नाम दिया। इसे ही संरचनात्मक उपागम (Constructivist Approach) भी कहा जाता है।

(8) शिक्षक की भूमिका पर प्रकाश डालते हुये उन्होंने बताया कि वह सिर्फ जानकारी प्रदाता (Knowledge giver) नहीं है। उसे अधिगम प्रक्रिया को सुगम बनाना चाहिये। इसका अर्थ है कि शिक्षक को विषयवस्तु से सम्बन्धित सभी बिन्दुओं की जानकारी देनी चाहिये पर यह न तो सम्बन्धित हो, न व्यवस्थित और न ही क्रम में हो। सम्बन्ध स्थापित करना, व्यवस्थित करना तथा क्रम से संजोने का काम छात्र करें। इससे उसका उच्चतम स्तर का मानसिक विकास हो सकेगा। चक्रीय पाठ्यक्रम व अन्वेशण अधिगम छात्र की अधिगम प्रक्रिया को गति प्रदान करते हैं।

(9) ब्रूनर ने वाइगोत्स्की की तरह ज्ञान को सांस्कृतिक पहलू से सम्बद्ध किया। संस्कृति मनोमस्तिश्क को एक रूप देती है। यह व्यक्ति को एक ऐसा बौद्धिक उपकरण देती है, जिसकी सहयता से न सिर्फ वह अपने संसार का निर्माण करता है बल्कि स्वयं की व अपनी शक्तियों से सम्बन्धित अवधारणा का भी निर्माण करता है। उन्होंने सर्वप्रथम स्कैफोल्डिंग (Scaffolding) शब्द का प्रयोग शिक्षक द्वारा प्रीस्कूल के छात्रों को ब्लाक पुनर्निर्माण की समस्या में सहायता देने के सम्बन्ध में किया (Wood et al; 1976) ।

4.6.4 ब्रूनर व वाइगोत्स्की

ब्रूनर व वाइगोत्स्की में कुछ समानताये हैं–

- दोनों बालक के सामाजिक वातावरण को महत्व देते हैं।
- दोनों का मानना था कि वयस्कों को बालकों के अधिगम में सक्रिय भूमिका निभानी चाहिए।
- ब्रूनर ने वाइगोत्स्की की तरह अधिगम के सामाजिक पक्ष को महत्व दिया। उनका कहना था कि बड़े लोगों को बच्चों में कौशलों के विकास के लिये स्कैफोल्डिंग (Scaffolding) की प्रक्रिया के माध्यम से मदद करनी चाहिए। स्कैफोल्डिंग की अवधारणा वाइगोत्स्की के समीपस्थ विकास का क्षेत्र (ZPD) से मिलती जुलती है। ब्रूनर के अनुसार (स्कैफोल्डिंग) 'किसी भी कार्य को करने में स्वतंत्रता के अंशों को कम करने के लिये उठाये गये उन कदमों को इंगित करता है, जिससे बच्चा उस जटिल कौशल पर ध्यान दे सके, जिसे प्राप्त करने की प्रक्रिया में वह हैं।' (Bruner 1978)

"[Scaffolding] rerefs to the steps taken to reduce the degrees of freedom in carrying out some task so that the child can concentrate on the difficult skill she is in the process of acquiring." (Bruner 1978)

4.6.5 ब्रूनर तथा पियाजे

ब्रूनर व पियाजे के बीच में अनेक समानतायें हैं–

- दोनों बालक के सामाजिक वातावरण को महत्व देते हैं।
- दोनों का मानना था कि बच्चे अधिगम के लिये पहले से ही तैयार रहते हैं। (Preadapted to learning)
- बच्चों में जिज्ञासा की प्रवृत्ति प्राकृतिक होती है।
- बच्चों की संज्ञानात्मक रचना का विकास समय के साथ होता है।
- बच्चे अधिगम प्रक्रिया के सक्रिय भागीदार होते है।
- संज्ञानात्मक विकास के लिये प्रतीकों का अर्जन आवश्यक है।

ब्रूनर का पियाजे के साथ अनेक बिन्दुओं पर मतभेद भी है–

- विकास एक सतत् प्रक्रिया है, अवस्थाओं का क्रम नहीं।
- भाषा का विकास संज्ञानात्मक विकास का कारण है, उसका फल नहीं।
- बालक के संज्ञानात्मक विकास की गति बढ़ाई जा सकती है। इसके लिये बालक के तैयार होने की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है।
- वयस्कों व सुविज्ञ साथियों की सम्बद्धता से विकास में फर्क आता है।
- प्रतीकात्मक विचार विधि पहले की क्रियात्मक व दृश्यचित्र विधियों का स्थान नहीं ले सकती है।

ब्रूनर का सामाजिक संज्ञानात्मक विकास का सिद्धान्त आज भी महत्वपूर्ण है। ब्रूनर वास्तव में एक सम्पूर्ण शिक्षाविद् थे। "Bruner remains the complete Educator in the flesh" Gardner (2001:94)

बोध प्रश्न

टिप्पणी (क)नीचे दिये गये रिक्त स्थान में अपने उत्तर लिखिये।
(ख) इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

7. ब्रूनर ने ज्ञान संचित करने की किन विधियों का वर्णन किया है?

....

....

8. अन्वेषणात्मक अधिगम से आप क्या समझते है?

....

....

9. स्कैफोल्डिंग का क्या अर्थ है?

....

....

10. ब्रूनर के अनुसार षिक्षक की क्या भूमिका है?

....

....

4.7 बैण्डुरा का सामाजिक सिद्धान्त (Bandura's Social Cognitive Development Theory)

ऑलबर्ट बैन्डुरा (Albert bandura) का जन्म 4 दिसम्बर 1925 को कनाडा में हुआ था। उन्होंने ब्रिटिश कोलम्बिया तथा आयोवा (Iowa) विश्वविद्यालय में अध्ययन किया। सम्प्रति वे स्टैनफोर्ड विश्वविद्यालय में डेविड स्टार जॉर्डन प्रोफेसर एमेरिटस ऑफ सोशल साइन्स इन साइकॉलॉजी के पद पर कार्यरत हैं।

सामाजिक संज्ञानात्मक सिद्धान्त (Social Cognitive Theory या SCT) का प्रारम्भ सामाजिक अधिगम सिद्धान्त (Social Learning Theory या SLT) के रूप में 1960 के दशक में ऑलबर्ट बैन्डुरा के द्वारा किया गया। 1986 में यह सामाजिक संज्ञानात्मक सिद्धान्त अथवा SCT के रूप में विकसित हुआ। इसके अनुसार अधिगम सामाजिक परिवेश में व्यक्ति, वातावरण व व्यवहार के मध्य गतिशील द्विपक्षीय अन्तःक्रिया के परिणामस्वरूप होता है। SCT की प्रमुख विशेषता सामाजिक प्रभाव तथा वाह्य व आन्तरिक सामाजिक पुनर्बलन को महत्व देने में है। इसे सामाजिक अधिगम का नाम दिया गया है। सामाजिक अधिगम का अर्थ है बालक अपने परिवेश के साथ होने वाली अन्तर्क्रिया के द्वारा विभिन्न प्रकार के व्यवहारों का अर्जन करता है। इससे उसके व्यक्तित्व का विकास तथा परिमार्जन भी होती है। इस विचारधारा के समर्थकों का मानना है कि व्यक्तिगत कारकों तथा परिस्थतिजन्य कारकों के बीच होने वाली अन्तःक्रिया का परिणाम है। इसे प्रेक्षणात्मक या अनुकरणात्मक अधिगम भी कहते हैं प्रायः यह देखा गया है कि बच्चे अपने माता–पिता के व्यवहारों का अनुकरण करते हैं थोड़े बड़े होने पर वे अपने आसपास के अन्य महत्वपूर्ण व्यक्तियों के व्यवहारों का अनुकरण करते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि बालक का विकास उसके तथा परिस्थिति के

बीच चलने वाली अन्तःक्रिया का परिणाम होता है। 'सामाजिक परिवेष के अनेक पक्ष होते हैं। इसी प्रकार वैयक्तिक कारकों में भी अनेक तत्व सम्मिलित होते हैं। इस सब का प्रभाव मानव विकास पर पड़ता है।

SCT एक सीखने का सिद्धान्त है, जिसकी आधारभूत मान्यता है कि व्यक्ति दूसरों को देखकर सीखते हैं। मानव का व्यवहार संज्ञानात्मक (Cognitive), व्यवहारात्मक (Behavioural) तथा पर्यावरणीय (Environmental) निर्धारकों के बीच सतत् अन्तःक्रिया का प्रतिफल होता है। संज्ञानात्मक कारकों में प्रमुख है– पूर्वज्ञान, आशायें तथा अभिवृत्ति। व्यवहारात्मक कारक के अन्तर्गत आते हैं– कौशल, प्रयोग, आत्म–प्रभावोत्पादकता। पर्यावरणीय कारकों के अन्तर्गत प्रमुख कारक है–सामाजिक आदर्श, समुदाय में पहुँच, दूसरों पर तथा वातावरण पर प्रभाव।

चित्र सं0 4.1

बैण्डुरा का त्रयात्मक पारस्परिक नियतत्ववाद

(Bandur's Triadic Reciprocal Determinism)

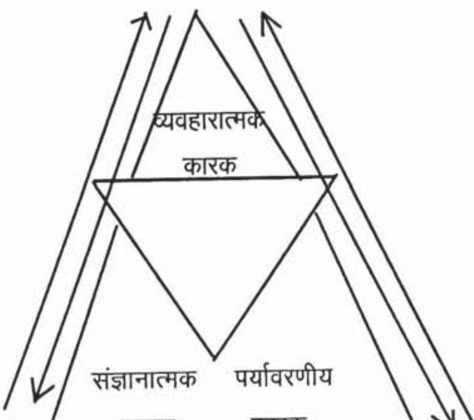

ये तीनों कारक एक दूसरे पर निर्भर होते हैं एवं एक–दूसरे को प्रभावित करते हैं। वाह्य वातावरण में उपस्थित उद्दीपक (अन्य व्यक्तियों का व्यवहार) और व्यक्ति के वास्तविक व्यवहार के मध्य आन्तरिक संज्ञानात्मक चरों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

4.7.1 सामाजिक संज्ञानात्मक विकास के मुख्य सम्प्रत्यय (Basic concepts of Social Cognitive Development Theory)

1. **प्रतिरूपण (Modeling)** – सीखने की प्रक्रिया में यह सबसे प्रमुख सम्प्रत्यय है। बच्चों में यह प्रवृत्ति देखी जाती है कि वे दूसरों, जिन्हें वह आदर्श

(Model) मानते हैं, के व्यवहारों का प्रेक्षण कर उसे दोहराते हैं और इस तरह वैसा व्यवहार करना सीख लेते हैं। इस प्रकार सीखने को मॉडलिंग (Modeling) कहते है।

प्रेक्षण (Observe) करके सीखने के कारण इसे प्रेक्षणात्मक अधिगम (Observation Learning) भी कहा जाता है। बच्चे उन व्यक्तियों को ही अपना आदर्श (Model) मानते हैं, जो उनकी इच्छाओं की पूर्ति करते हैं, अथवा जिनका वे सम्मान करते हैं। जो लोग उन्हें डाँटते–फटकारते अथवा उपेक्षा करते हैं, वे बच्चों के मॉडल नहीं बन पाते हैं। प्रारम्भ में बच्चों का सामाजिक दायरा घर–परिवार तक सीमित रहता है, अतः वे अपने माता–पिता को ही आदर्श मानते हैं और उनके जैसा व्यवहार करने का प्रयास करते हैं। बैण्डुरा ने बॉब डॉल (Bob Doll) के प्रयोग द्वारा इसे सिद्ध भी किया है।

बैण्डुरा ने तीन तरह के आदर्श उद्दीपक (Model stimuli) के बारे में बताया है–

- सजीव मॉडल (Live Model)–एक वास्तविक व्यक्ति का व्यवहार प्रदर्शन।
- शाब्दिक अनुदेशन (Verbal Instruction)–एक व्यक्ति वांछित व्यवहार को विस्तृत रूप से शब्दों में वर्णित करता है और सहभागियों को व्यवहार कैसे किया जाये के विषय में अनुदेशित करता है।
- प्रतीकात्मक (Symbolic)– इस तरह के उद्दीपक प्रतीकों के रूप में होते हैं। इनमें आते हैं– मीडिया, चलचित्र, टी0वी0, इन्टरनेट, साहित्य व रेडियो आदि। इसके उद्दीपक के रूप में वास्तविक अथवा काल्पनिक चरित्र भी हो सकते हैं। यथा डा0 कलाम (वास्तविक) अथवा सुपरमैन का काल्पनिक चरित्र।

बैण्डुरा ने शोधों के आधार पर स्पष्ट किया कि मॉडल के तीन कारक महत्वपूर्ण होते हैं– (1) मॉडल की विशेषतायें (2) प्रेक्षक की विशेषतायें व (3) व्यवहार के बाद मिलने वाले पुरस्कार (Reward) या दण्ड (Punishment) परिणाम। मॉडल व प्रेक्षक की विशेषताओं के साथ मॉडल के व्यवहारों का अनुकरण करने के बाद मिलने वाले परिणाम–पुरस्कार अथवा दण्ड का बहुत महत्व है। यदि पुरस्कार मिलता है, तो बालक उस व्यवहार को दुबारा करता है। पुरस्कार अथवा दण्ड उस व्यवहार के साथ जुड़कर उसके संज्ञान में अंकित हो जाता है।

2. **प्रेक्षण (Observation)**–आदर्श व्यक्ति के व्यवहारों को देखना, सुनना या उसका निरीक्षण करना 'प्रेक्षण' कहलाता है। सामाजिक अधिगम के लिये यह एक आवश्यक पद है। जब तक बालक प्रेक्षण नहीं करेगा, वह उन व्यवहारों को अपनायेगा कैसे? व्यक्तित्व के उचित विकास के लिये बच्चों को अच्छे आदर्श व्यक्तियों के व्यवहारों का प्रेक्षण करने का अवसर देना चाहिये। माता–पिता व परिवार के लोगों को बच्चों के सामने उचित व्यवहार करना चाहिए। बच्चे जिन व्यवहारों को पुरस्कृत अथवा प्रशंसित

होते देखते हैं उनका अनुकरण जल्दी करते हैं। दण्डित किये जाने वाले व्यवहारों को करने से बचते हैं। परिवार के बाहर वे अपने मित्रों, शिक्षकों, नेताओं आदि के व्यवहारों को देखने का अवसर प्राप्त करते हैं। जिन्हें पसन्द करते हैं उनके व्यवहार व क्रियाकलापों को करना चाहते हैं।

(3) **अनुकरण (Imitation)**– अनुकरण द्वारा किसी व्यवहार को सीखा जाता है। बचपन में बच्चे माँ–बाप व परिवार के अन्य सदस्यों के व्यवहार का अनुकरण करते हैं। उनके माता–पिता उनके मॉडल होते है। कुछ बड़े होने पर उनका सामाजिक दायरा बढ़ता जाता है और वे परिवार के बाहर के लोगों से प्रभावित होने लगते है तथा उनके व्यवहारों का अनुकरण करने लगते हैं। अनुकरण से व्यवहारों का सरलतापूर्वक अर्जन होता है। साथ ही बच्चों में जिज्ञासा व साहस का संचरण भी होता है। अनुकरण करने में कुछ प्रक्रियायें प्रयुक्त होती हैं–

(अ) **ध्यान (Attention)**– किसी भी व्यवहार का प्रेक्षण कर सीखने में सबसे पहले सीखने वाले को व्यवहार पर ध्यान देना आवश्यक है। ध्यान से देखकर ही व्यवहार की विधि, शब्दों का चयन, भाव–भंगिमा आदि सीखी जा सकती है। इस कार्य में बालक को अपनी योग्यता व प्रेरणा से सहायता मिलती है। मॉडल जितना प्रभावी होता है, उतना ही ध्यान आकर्षित करता है।

(ब) **धारण करना (Retention)**–देखे हुये व्यवहार को स्मृति में संजोना धारणा करना कहलाता है। यदि व्यवहार याद नहीं रहता, तो आगे चलकर उस व्यवहार को अधिगमकर्ता प्रयोग नहीं कर सकता। अतः व्यवहार को स्मरण रखना अत्यन्त आवश्यक है। व्यवहार स्मृति में संकेतों (Codes) द्वारा धारण किया जाता है। इस समय बालक की ज्ञान को संचित करने की योग्यता भी महत्वपूर्ण है।

(स) **पुनरूत्पादन (Reproduction)**– धारण करने के बाद प्रेक्षित व्यवहारों को जीवन का अंग बनाने के लिये उनका पुनरूत्पादन करना होता है। जैसा प्रेक्षण किया ठीक वैसा ही व्यवहार करना पुनरूत्पादन कहलाता है। इसमें प्रेक्षित व्यवहार का मानसिक चित्र तथा अधिगमकर्ता की शारीरिक क्षमता महत्वपूर्ण है। यदि ठीक वैसा ही व्यवहार सीखने वाला नहीं कर पाता है, तो वह स्वयं भी इसे समझ सकता है और सुधारने का प्रयास करता है।

(द) **अभिप्रेरणा (Motivation)**– किसी व्यवहार को सीखने में अभिप्रेरणा एक सहायक कारक है। यह व्यवहार में सक्रियता व तत्परता उत्पन्न करती है। जब व्यक्ति सीखा हुआ व्यवहार प्रदर्शित करता है, तो उसे दूसरों से प्रतिपुष्टि मिलती है।

प्रतिपुष्टि अथवा पुनर्बलन (Reinforcement) तीन तरह के होते हैं–

- **प्रत्यक्ष पुनर्बलन (Direct Reinforcement)**– इसमें एक व्यक्ति एक मॉडल (आदर्श) को कार्य करते देखता है, उसकी नकल करके वैसे ही व्यवहार करता है और अपने व्यवहार के लिये पुरस्कृत अथवा दण्डित होता है।
- **प्रतिनिधिक पुनर्बलन (Vicarious Reinforcement)**– इसमें प्रेक्षक एक विषिश्ट तरह से व्यवहार करने के लिये पुरस्कार की प्रत्याषा रखता है क्योंकि किसी और को उसी व्यवहार के लिये पुरस्कृत किया गया है।
- **स्वपुनर्बलन (Self Reinforcement)**– इसमें व्यक्ति अपने स्वनिर्धारित स्तर को प्राप्त करने की कोशिश करता है और दूसरों की प्रतिक्रिया की परवाह नहीं करता है।

यदि यह प्रति पुष्टि सकारात्मक होती है, तो बालक उस व्यवहार को करना पसन्द करता है, अन्यथा उसे त्याग देता है। किसी के व्यवहार को सीखकर दोहराने से बालक को क्या प्रतिक्रिया प्राप्त होगी– इस पर उस व्यवहार का दोहराना निर्भर होता है। मॉडल द्वारा प्राप्त परिणाम (पारितोशिक) को प्राप्त करने की आषा प्रेक्षण करने वाला शायद नहीं करता है, परन्तु उस तरह के परिणाम की आशा अवश्य करता है। इसे बैण्डुरा ने ''Outcome Expectancies'' (परिणाम की प्रत्याशा) का नाम दिया। इसी के कारण मॉडल संज्ञान व व्यवहार को प्रभावित करता है। ये प्रत्याशा वातावरण से प्रभावित होती है।

(4) आत्म–प्रभावोत्पादकता (Self-Efficacy)–सामाजिक संज्ञानात्मक सिद्धान्त मानता है कि अधिगम सबसे ज्यादा तब होता है जब प्रेक्षण करने वाले तथा मॉडल के बीच तादात्मीकरण (Identification) होता है। साथ ही प्रेक्षक में आत्म प्रभावोत्पादकता की भावना रहती है। आत्म–प्रभावोत्पादकता व्यक्ति का अपनी क्षमताओं में विश्वास है जिससे वह स्वयं को व्यवस्थित कर व आवश्यकतानुसार सक्रिय होकर आने वाली परिस्थिति का सामना सफलतापूर्वक कर सकता है। जिनको अपने ऊपर विश्वास होता है, वे कठिन परिस्थितियों में घबराते नहीं, असफलताओं से जल्दी उबर जाते है। अतः आत्म प्रभावोत्पादकता व्यवहार प्रदर्शन में एक मुख्य भूमिका निभाती है।

आत्म प्रभावोत्पादकता का विकास अनेक कारकों से प्रभावित होता है–

- अनुभवी व्यक्तियों की सहायता
- सामाजिक आदर्श व्यक्तित्व का प्रेक्षण

- शारीरिक व मानसिक तनावओं से मुक्ति
- शाब्दिक प्रोत्साहन

जहाँ ये सभी कारक उपस्थित होते हैं, वे आत्म–प्रभावोत्पादकता को सकारात्मक रूप से प्रभावित करते है।

(5) पारस्परिक नियतत्त्ववाद (Reciprocal Determinism)– इसका अर्थ है कि जिस तरह एक व्यक्ति का व्यवहार उसके वातावरण से प्रभावित होता है, उसी तरह वातावरण भी व्यक्ति के व्यवहार से प्रभावित होता है। उदाहरण स्वरूप एक बालक जो हिंसक वीडियों खेल खेलता है, अपने साथियों को ऐसे ही खेल खेलने के लिये प्रोत्साहित करता है। साथियों का साथ मिलने से वह ऐसे खेल ज्यादा खेलने लगता है। इस प्रकार वह हिंसा के प्रति असंवेदनशील हो जाता है। यह उसके संज्ञान को प्रभावित करता है और वास्तविक जीवन में उसके व्यवहार पर असर डालता है।

(6) तादात्मीकरण (Identification)– मॉडल के व्यवहारों को अपने जीवन में विधिवत उतारने के लिए प्रेक्षक को मॉडल के साथ तादात्मीकरण करना चाहिए। यह वह प्रक्रिया है, जिसके आधार पर प्रत्येक व्यक्ति अपने आदर्श की भावनाओं, विचारों व कार्यों को आन्तरिक स्तर पर ग्रहण करता है तथा उसे मॉडल के व्यवहारों से लगाव हो जाता है।

तादात्मीकरण की प्रक्रिया अनुकरण से अलग है। अनुकरण में व्यवहार का पुनः उत्पादन किया जाता है, जबकि तादात्मीकरण में प्रेक्षक मॉडल के व्यवहारों व कार्यों को मानसिक रूप से ग्रहण करता है। कोई भी मॉडल किसी बच्चे को जितना महत्वपूर्ण व पोशक (Nurturant) लगेगा, उसके साथ तादात्मीकरण उतना ही होगा। जो व्यक्ति बच्चों के साथ लगाव नहीं रखते, उनके मॉडल नहीं बन सकते हैं। जो व्यक्ति बच्चों की आवश्यकताओं को पूरा करते और उनकी समस्याओं के समाधान में रूचि लेते हैं, उन्हें बच्चे सक्षम आदर्श मानते है और उनके साथ तादात्मीकरण स्थापित करते हैं। इस तरह पोषक आदर्श (Nurturant Model) तथा सक्षम आदर्श (Competent Model) के साथ तादात्मीकरण ज्यादा होता है।

4.7.2 सामाजिक–संज्ञानात्मक सिद्धान्त की सीमायें (Limitations of Social Cognitive Theory)–

- यह सिद्धान्त मान लेता है कि वातावरण में परिवर्तन से व्यक्ति में परिवर्तन अवश्यम्भावी है। यह हमेशा सत्य नहीं होता है।
- यह सिद्धान्त पूर्णतया व्यवस्थित नहीं है। यह व्यक्ति, व्यवहार व वातावरण के मध्य अन्तःक्रिया पर आधारित है। यह स्पष्ट नहीं है कि क्या तीनों कारकों का

एक समान प्रभाव पड़ता है या इनमें से कोई एक ज्यादा महत्वपूर्ण है। इसके अलावा व्यक्ति, व्यवहार व वातावरण को प्रभावित करने वाले भी अनेक कारक हैं।

- यह सिद्धान्त अधिगम प्रक्रिया पर सबसे ज्यादा जोर देता है। यह जैविक व अन्तःस्त्रावीय वृत्तियों, जो व्यवहार को प्रभावित करते हैं, को उपेक्षित करता है।
- यह सिद्धान्त संवेगों व प्रेरणा को कोई महत्व नहीं देता। इनको सिर्फ पूर्व अनुभवों के संदर्भ में स्वीकार करता है।
- इस सिद्धान्त को पूर्ण रूप से व्यवहार में लाना कठिन है।

4.7.3 सामाजिक संज्ञानात्मक सिद्धान्त का शिक्षा में प्रयोग (Use of Social Cognitive Theory in Education)–

पर इन सीमाओं से भी इस सिद्धान्त का महत्व कम नहीं होता। इसका प्रयोग विद्यालयों में किया जा सकता है।

- यह सिद्धान्त देखकर सीखने पर बल देता है। अतः विद्यालयों में ऐसा पर्यावरण उत्पन्न किया जाये जिससे छात्र देखकर सीख सकें।
- अध्यापकों व प्रधानाध्यापक को एक मॉडल के रूप में स्वयं को प्रस्तुत करना चाहिये, जिससे छात्र उनका अनुकरण कर सकें।
- अध्यापकों को सिखाने के लिये परिस्थितियों का निर्माण करने का प्रयास करना चाहिये, जिसमें अनुकरण द्वारा छात्र सीख सकें।
- पाठ्य–सहगामी क्रियायें इस स्तर की हों कि जिससे छात्र सीखने के लिये प्रेरित हो।
- अच्छे व्यवहार प्रदर्शन पर छात्रों को पुरस्कृत करना चाहिए।
- छात्र टी0वी0, मीडिया, चलचित्र, इन्टरनेट व रेडियो आदि पर कौन से कार्यक्रम देखते हैं– इसका ध्यान रखना चाहिए। उन्हें अच्छे अनुकरणीय कार्यक्रमों को देखने के लिये प्रेरित करना चाहिए। अच्छी विषयवस्तु वाले कार्यक्रमों पर विद्यालय में चर्चा आयोजित की जा सकती है। इससे उनमें अच्छे कार्यक्रम देखने की रूचि जाग्रत की जा सकती है।

बोध प्रश्न

टिप्पणी (क) नीचे दिये गये रिक्त स्थान में अपने उत्तर लिखिये।

(ख) इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर

का मिलान कीजिए।

11. बैण्डुरा के अनुसार अधिगम कैसे होता है?

....

....

....

12. सामाजिक संज्ञानात्मक विकास के मुख्य सम्प्रत्यय कौन–कौन हैं?

....

....

....

13. आदर्श उद्दीपक कितने तरह के हैं?

....

....

....

14. प्रतिपुष्टि कितने प्रकार से हो सकती है?

....

....

....

4.8 अभ्यास के प्रश्न

1. पियाजे के संज्ञानात्मक विकास की अवस्थाओं पर प्रकाश डालिये।
2. पियाजे ने संज्ञानात्मक विकास सिद्धान्त से आप क्या समझते है? विकासात्मक मनोविज्ञान के संदर्भ में उसका मूल्यांकन कीजिये।
3. वाइगोत्स्की के समीपस्थ विकास क्षेत्र से आप क्या समझते हैं?
4. भाषा तथा खेल के विषय में वाइगोत्स्की के क्या विचार थे?
5. वाइगोत्स्की व पियाजे के सिद्धान्तों की तुलना कीजिये।
6. ब्रूनर की ज्ञान संचित करने की विभिन्न विधियों का वर्णन कीजिये।
7. ब्रूनर के सिद्धान्त का शैक्षिक निहितार्थ क्या है? वर्णन कीजिए।
8. ब्रूनर व वाइगोत्स्की के सिद्धान्तों की तुलना कीजिये।
9. बैण्डुरा के सामाजिक संज्ञानात्मक विकास के मुख्य सम्प्रत्ययों का वर्णन कीजिए।
10. टिप्पणी लिखिए

    अ) बैण्डुरा के सिद्धान्त की सीमायें

ब) बैण्डुरा के सिद्धान्त का शिक्षा में प्रयोग

4.9 सारांश

प्रस्तुत इकाई में विकास के संज्ञानात्मक तथा सामाजिक संज्ञानात्मक सिद्धान्तों की चर्चा की गई है। इसके अन्तर्गत 4 मनोवैज्ञानिकों के सिद्धान्तों का विवरण दिया गया है। ये हैं– पियाजे, वाइगोत्स्की, ब्रूनर व बैण्डुरा।

पियाजे ने सीखने को यांत्रिक नहीं, बौद्धिक प्रक्रिया माना। संज्ञानात्मक विकास में दो सम्प्रत्यय प्रमुख हैं– संगठन व अनुकूलन। अनुकूलन के अन्तर्गत आत्मसातीकरण व समायोजन की प्रक्रियायें आती हैं। पियाजे ने संज्ञानात्मक विकास की चार अवस्थायें बताई है– संवेदी–पेशीय, पूर्व संक्रियात्मक, स्थूल–संक्रियात्मक तथा औपचारिक संक्रियात्मक अवस्थायें। पियाजे का सिद्धान्त प्रभावशाली व महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। उनके सिद्धान्त का शिक्षा के क्षेत्र में व्यावहारिक उपयोग है।

वाइगोत्स्की ने संज्ञानात्मक विकास में सामाजिक –सांस्कृतिक परिवेश को महत्व दिया। उनके सिद्धान्त के प्रमुख सम्प्रत्यय है– बौद्धिक अनुकूलन के उपकरण, समीपस्थ विकास–क्षेत्र, स्कैफोल्डिंग, निर्देशित सहभागिता, विचार व भाषा, खेल का मनोविज्ञान आदि। उनका सिद्धान्त पियाजे के सिद्धान्त से कई बिन्दुओं पर अलग है।

ब्रूनर ने पियाजे के सिद्धान्त को एक नया कलेवर दिया। उन्होंने ज्ञान को स्मरण में संचित करने की तीन विधियों की चर्चा की– सक्रियता, दृश्य–प्रतिमा तथा प्रतीकात्मक विधियाँ। उनका मानना था कि संज्ञानात्मक कौशलों व तकनीक का विकास धीरे–धीरे होता है और वे वयस्क संज्ञानात्मक तकनीक में एकीकृत हो जाती है। भाषा का विकास संज्ञानात्मक विकास का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष है। ब्रूनर ने अन्वेषणात्मक अधिगम, अन्तर्दर्शी चिन्तन, सम्बद्धता का महत्व आदि तथ्यों को अपने सिद्धान्त में महत्व दिया। ब्रूनर व वाइगोत्स्की की समानताओं तथा ब्रूनर व पियाजे की तुलना भी इस इकाई में की गयी है।

बैण्डुरा ने सामाजिक संज्ञानात्मक विकास में प्रतिरूपण, प्रेक्षण, अनुकरण, आत्म–प्रभावोत्पादकता, पारस्परिक 'नियतत्त्ववाद, तादात्मीकरण आदि सम्प्रत्ययों के महत्व पर प्रकाश डाला है। समाज में आदर्श व्यक्ति के व्यवहारों का अनुकरण कर बालक सीखता है– इस बिन्दु का शिक्षा के क्षेत्र अत्यन्त महत्व है। विद्यालयों में आदर्श शिक्षक व आदर्श परिस्थितियाँ छात्रों के विकास की गति तीव्र करते हैं।

इस प्रकार इस इकाई में संज्ञानात्मक व सामाजिक संज्ञानात्मक विकास के क्षेत्र के अग्रणी मनोवैज्ञानिकों के सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है।

4.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्नों के उत्तर

1) संगठन 2) अनुकूलन

अ) आत्मसातीकरण ब) समायोजन

2) चार – संवेदी पेशीय, पूर्व संक्रियात्मक, स्थूल संक्रियात्मक, औपचारिक संक्रियात्मक अवस्थायें।

3) पाठ्यक्रम निर्माण, शिक्षण विधि, कक्षा शिक्षण में शिक्षकों के प्रयोग के बिन्दु, बुद्धि परीक्षणों के निर्माण में।

4) सूक्ष्मवृत्तीय विकास

व्यक्तिवृत्तीय विकास

जातिवृत्तीय विकास

सामाजिक –ऐतिहासिक विकास

5. दो तत्त्व– मध्यस्थता व मनोवैज्ञानिक उपकरण

6. अधिगम हमेशा विकास से पहले समीपस्थ विकास क्षेत्र (ZPD) में घटित होता है।

7. (i) सक्रियता विधि

(ii) दृश्य प्रतिभा विधि

(iii) प्रतीकात्मक विधि

8. किसी विषय के सम्प्रत्ययों का ज्ञान स्वयं के प्रयास से आगमनात्मक चिन्तन द्वारा प्राप्त करना ही अनवेष्णात्मक अधिगम है।

9. किसी भी कार्य को करने में स्वतंत्रता के अंशों को कम करने के लिये उठाये गये कदमों को इंगित करने को स्कैफोलिंग कहते हैं।

10. ब्रूनर के अनुसार शिक्षक की भूमिका अधिगम प्रक्रिया को सुगम, सहज एवं सरल बनाना है।

11. अधिगम सामाजिक परिवेश में व्यक्ति, वातावरण व व्यवहार के मध्य गतिशील द्विपक्षीय अन्तःक्रिया के फलस्वरूप होता है।

12. (i) प्रतिरूपण (ii) प्रेंक्षण (iii) अनुकरण ।

13. तीन तरह के – (i) सजीव नमूने (ii) शाब्दिक अनुदेशन (iii) प्रतीकात्मक

14. तीन प्रकार से – (i) प्रत्यक्ष प्रतिपुष्टि (ii) प्रतिनिधिक प्रतिपुष्टि

(iii) स्व–प्रतिपुष्टि

4.11 संदर्भ–ग्रंथ

1. लाल एवं जोशी (2006), शिक्षा मनोविज्ञान एवं प्रारम्भिक सांख्यिकी, आर0लाल0 बुक डिपो, मेरठ।
2. सिंह आर0एन0 (2015) आधुनिक विकासात्मक मनोविज्ञान, अग्रवाल पब्लिकेशन, आगरा।
3. Atherton, J.S. (2013), Learning & Teaching, Piaget's developmental theory [On line: UK] retrieved 9 July 2015 from http://www.learningandteaching.info/ learing/piaget.htm.
4. Bandura, A. (1977), Social Lerning Theory, Eaglewood Cliffs, Prentice Hall, N.J.
5. Bruner, J. (1960), The Process of Education, MA: Harvard University Press, Cambridge.
6. Bruner, J.S. (1971), The Relevance of Education, Norton, New York.
7. Bruner, J.S. (1996), The Culture of Education, Mass: Harvard University Press, Cambridge.
8. McLeod,S.A. (2008), Bandura-Social Learning Theory. Retireved from www.simplypsychology.org./bandura/html.
9. McLeod, S.A. (2008), Bruner, Retireved from www.simplypsychology.org/ bandrua/html.
10. Piaget, J. (1973), Main Trends in Psychology, George Allen & Unwin, London.
11. https://en.wikipedia.org/wiki/Lev-Vygotsky.
12. www.simplypsychology.org/ wiki/Lev-Vygotsky.

इकाई 5 - मनोसामाजिक सिद्धान्त (एरिक्सन) तथा मनोविश्लेषण सिद्धान्त (फ्रॉयड) (Psychosocial Theory of Erikson and Psychoanalytic Theory of Freud)

संरचना

5.1 प्रस्तावना

5.2 उद्देश्य

5.3 एरिक्सन का व्यक्तित्व विकास का मनोसामाजिक सिद्धान्त

5.3.1 एरिक्सन के सिद्धान्त के पूर्वानुमान

5.3.2 एरिक्सन के अनुसार विकास की अवस्थायें

5.3.3 एरिक्सन द्वारा प्रयुक्त प्रमुख पारिभाषिक शब्दावली

5.3.4 एरिक्सन के सिद्धान्त के निहितार्थ

5.4 फ्रॉयड का व्यक्तित्व विकास का मनोविश्लेषण सिद्धान्त

5.4.1 मनोविश्लेषणवादी सिद्धान्त की मुख्य विशिष्टतायें

5.4.2 व्यक्तित्व का संरचनात्मक स्वरूप

5.4.3 रक्षा–युक्तियाँ

5.4.4 मूलप्रवृत्ति सिद्धान्त

5.4.5 व्यक्तित्व विकास का सिद्धान्त

5.4.6 फ्रॉयड के मनोविश्लेषण सिद्धान्त का मूल्यांकन

5.5 अभ्यास के प्रश्न

5.6 सारांश

5.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

5.8 संदर्भ ग्रन्थ

5.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में हमनें संज्ञानात्मक व सामाजिक संज्ञानात्मक विकास के सिद्धान्तों का अध्ययन किया है। इस इकाई में हम व्यक्तित्व के विकास से सम्बन्धित दो प्रमुख सिद्धान्तों का अध्ययन करेंगे। पहला सिद्धान्त एरिक्सन का मनोसामाजिक व्यक्तित्व विकास का सिद्धान्त है, जो पश्चजननिक सिद्धान्त (Epigenetic Principle) पर आधारित है। इसके अनुसार भ्रूण के विकास में शरीर के कुछ अंग कुछ विशिष्ट समय पर प्रकट होते हैं और अन्तिम रूप में मिलकर शिशु का रूप ले लेते हैं।

व्यक्तित्व का विकास भी इसी तरह होता है। विकास क्रमिक रूप से समय सारणी के अनुसार विभिन्न अवस्थाओं में सम्पन्न होता है। मानव जीन्स (Genes) में विकास का खाका (Blueprint) पूर्वनिष्चित होता है। इसे ही पश्चजननिक सिद्धान्त (Epigenetic priciple) का नाम दिया गया है। (Epigenetic principle is the genetic process that guides personality formation through its stages of development)। व्यक्ति के सामाजिक परिवेश के साथ प्रतिक्रिया के फलस्वरूप व्यक्तित्व का निर्माण होता है। प्रत्येक आयु या विकास के काल में व्यक्ति को कुछ समस्याओं का सामना करना पड़ता है। इन समस्याओं का सामना करने की क्षमता से उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है।

दूसरा प्रमुख सिद्धान्त फ्रॉयड का मनोविश्लेषण सिद्धान्त है, जो मनुष्य के व्यवहार का विश्लेषण करता है। उनका मानना था कि बच्चे का भविष्य में व्यक्तित्व कैसा होगा– यह इस बात पर निर्भर करता है कि उसके जीवन के प्रारम्भिक पाँच वर्ष किस प्रकार व्यतीत हुये हैं। यदि प्रारम्भिक जीवन में सुख, शांति व संतुलन रहा है तो आगामी भविष्य उज्ज्वल होगा। यदि उक्त अवधि में निराशा, कुण्ठा व कुसमायोजन रहा तो भविष्य में विकास की प्रक्रियायें सुचारू रूप से नहीं चलेंगी और व्यक्तित्व में विकृतियाँ उत्पन्न होगी।

5.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप–

- एरिक्सन के व्यक्तित्व विकास के मनोसामाजिक सिद्धान्त की वृहत रूपरेखा को जान सकेंगे।
- एरिक्सन के सिद्धान्त से सम्बन्धित उपकल्पनाओं को प्रत्यास्मरण कर सकेंगे।
- एरिक्सन के अनुसार विकास की प्रमुख आठ अवस्थाओं के नाम बता सकेंगे।
- एरिक्सन द्वारा प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावलियों के अर्थ लिख सकेंगे।
- एरिक्सन के सिद्धान्तों का शिक्षा के परिप्रेक्ष्य में महत्व रेखांकित कर सकेंगे।
- फ्रॉयड के मनोविश्लेषण सिद्धान्त के पूर्वानुमानों को लिख सकेंगे।
- फ्रॉयड द्वारा प्रस्तुत चेतना के स्तरों के नाम बता सकेंगे।
- फ्रॉयड द्वारा दिये गये व्यक्तित्व संगठन के तीन स्तरों की व्याख्या कर सकेंगे।
- फ्रॉयड द्वारा प्रस्तुत विकास सम्बन्धी कालों का वर्णन कर सकेंगे।
- फ्रॉयड द्वारा वर्णित मूल–प्रवृत्तियों की व्याख्या कर सकेंगे।

5.3 एरिक्सन का व्यक्तित्व विकास का मनोसामाजिक सिद्धान्त (Erikson's Psychosocial Theory of Personality Development)

एरिक हॉमबर्गर एरिक्सन (Erik Homburger Erikson) का जन्म जर्मनी के फ्रैंकफर्ट शहर में 15 जून 1902 को हुआ था। कालान्तर में वे अमेरिका में बस गये और वहाँ की नागरिकता प्राप्त कर ली। उनकी मृत्यु 12 मई 1994 को अमेरिका के हारविक (Harwich), मैसेचुसैट्स (Massachusetts) में हुई। वे शिक्षा के क्षेत्र में वियना विश्वविद्यालय से सम्बद्ध रहे। ऐरिक्सन प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्रॉयड से प्रभावित थे। पर उन्होंने अपने सिद्धान्त में सामाजिक कारकों व सामाजिक अनुभूतियों को महत्वपूर्ण माना है। उन्होंने 1950 में अपनी पुस्तक Childhood & Society (चाइल्डहुड एण्ड सोसाइटी) में सर्वप्रथम अपने आठ अवस्थाओं वाले हैं।

मानव विकास सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इस सिद्धान्त को उन्होंने बाद में अपनी अन्य पुस्तकों के माध्यम से परिमार्जित किया। उनमें प्रमुख है– Identity & Life Cycle (1959); Insight and Responsibility (1964), The Life Cycle Completed: A Review (1982), (पुनः परिमार्जित 1996 में उनकी पत्नी Joan Erikson द्वारा) तथा Vital Involvement in Old Age (1989) एरिक्सन के प्रतिमान के लिये कभी–कभी 'जैविक मनोसामाजिक' सिद्धान्त शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। यहाँ जैविक से तात्पर्य 'जीवन' (Life) से है। 'मनो' से तात्पर्य मनस् (mind) तथा सामाजिक से सम्बन्धों (Relationships) से है। एरिक्सन का मानना था कि उसका सिद्धान्त जैविक रूप से मानव विकास को रूप देने के लिये अपरिहार्य है। एरिक्सन के अनुसार मनुष्य जैविक रूप से किन गुणों को लेकर जन्म लेता है से ज्यादा महत्वपूर्ण है, वह जन्म के बाद किस माहौल में रहता है और बचपन में वह उसके व्यवहार को किस तरह प्रभावित करता है। वह प्रकृति बनाम पोषण के संदर्भ में पोषण को ज्यादा महत्व देता है।

5.3.1 एरिक्सन के सिद्धान्त के पूर्वानुमान/उपकल्पनायें (Assumptions of Eriksons Theory)

एरिक्सन ने व्यक्तित्व सिद्धान्त में मानव प्रकृति के संदर्भ में कुछ महत्वपूर्ण उपकल्पनाओं का निर्माण किया था–

1. मानव प्रकृति में पूर्णतावाद (Holism), वातावरण (Environment) तथा परिवर्तनशीलता (Changeability) को महत्वपूर्ण माना है।

2. मानव प्रकृति में पाये जाने कुछ तत्वों को कम महत्व दिया है। यथा–नियतत्त्वावाद

(Determinism)] विवेक (Rationality), वस्तुनिष्ठता (Objectivity), अग्रसक्रियता (Proactivity) आदि। उनके सिद्धान्त का केन्द्र बिन्दु है कि मानव व्यक्तित्व का विकास कई पूर्व निश्चित अवस्थाओं के माध्यम से होता है। ये पूर्वनिश्चित अवस्थायें सार्वभौमिक होती हैं। ये अवस्थायें एक विशेष नियम द्वारा नियंत्रित होती हैं जिसे एरिक्सन ने पश्चजननिक सिद्धान्त (Epigenetic Principle) का नाम दिया है। उन्होंने आठ प्रकार के मानसिक संघर्षों को वर्णित किया जो व्यक्ति की निश्चित अवस्थाओं में केन्द्रित होते हैं। इनमें पश्चजननिक नियम लागू होते हैं। इसका अर्थ है प्रत्येक अवस्था के घटित होने का एक निश्चित समय व क्रम होता है, जिसमें जैविक परिपक्वता (Biological maturation) तथा सामाजिक व ऐतिहासिक बलों (Forces) की अन्तःक्रिया के फलस्वरूप व्यक्तित्व विकसित होता है। एरिक्सन द्वारा मानव विकास के लिये बताई गई आठ अवस्थाओं की अपनी – अपनी विशेषतायें होती हैं। कुछ विशेषतायें ऐसी भी है, जो सभी अवस्थाओं मे पाई जाती है।

3. प्रत्येक अवस्था में दो विरोधी भावों के मध्य द्वन्द्व होता है। ये भाव सकारात्मक व नकारात्मक होते हैं। यथा– विश्वास व अविश्वास। सकारात्मक व नकारात्मक के मध्य संतुलन बनाये रखने से सफल व्यक्तित्व का विकास होता है।

4. प्रत्येक अवस्था में द्वन्द्व का समाधान व्यक्ति को स्वयं करना होता है। इस समाधान के फलस्वरूप व्यक्ति में एक मनोसामाजिक शक्ति (Basic Virtue) उत्पन्न होती है। प्रत्येक अवस्था में इस बुनियादी नैतिकता या शक्ति को उन्होंने विशिष्ट नाम दिया है। इसके साथ उन्होंने इस शक्ति की सहायक शक्ति को भी नाम दिया है। जैसे पहली अवस्था में (विश्वास बनाम अविश्वास) इन्हें 'आशा' तथा 'प्रेरणा' का नाम दिया है।

5. एरिक्सन ने किसी भी भाव (सकारात्मक अथवा नकारात्मक) की अधिकता को व्यक्तित्व के उचित विकास में अवरोध माना है यथा विश्वास की अधिकता भी व्यक्ति के विकास में अवरोध पैदा करती है। अतः उन्होंने सकारात्मक व नकारात्मक भावों के संतुलित विकास को सर्वश्रेष्ठ माना है। (What the child acquires at a given stage is a certain ratio between the positive & negative, which if the balance is towards positive, will help him to meet later crises with a better chance of unimpaired total development" (Identity & the Life Cycle).

विश्वास के साथ शिशु में अविश्वास को अनुभव कर सहन करने की शक्ति भी

विकसित होनी चाहिये। उसे अविश्वास की कल्पना से अछूता नहीं रहना चाहिए। ऐसा इसलिये क्योंकि यह अव्यावहारिक परिकल्पना होगी। उसे सब पर अविश्वास करने की आदत भी नहीं होनी चाहिए। इसका अर्थ है एरिक्सन ने शिशु के विकास में व्यवहारिक संभावनाओ को नजरअंदाज नहीं किया है। संसार में कुछ भी पूरा खराब अथवा पूरा अच्छा नहीं होता। ऐसे संसार में सफलतापूर्वक जीवित रहने के लिये बालक को सद्गुणों की शिक्षा के साथ अवगुणों की जानकारी भी दी जानी चाहिए, तभी व्यक्तित्व संतुलित होता है।

6. द्वन्द्व की अवस्थायें सुस्पष्ट विभाजित अवस्थायें नहीं है। ये अधिव्याप्त (overlapping) अवस्थायें हैं। ऐसा नहीं होता कि व्यक्ति एक दिन सोकर उठता है, तो अपने को दूसरी अवस्था में पाता है। परिवर्तन धीरे–धीरे सतत् प्रक्रिया के रूप में होता है। ये अवस्थायें विकास प्रक्रिया की एक वृहत रूपरेखा प्रस्तुत करती है। इनमें अन्तर व्यक्तियों व समाजों के संदर्भ में होना संभव है।

7. एरिक्सन का मानना था कि विकास की एक अवस्था में बालक को जो अनुभव (अच्छे या बुरे) होते हैं, वे आगामी विकास को भी प्रभावित करते है। इसका अर्थ है कि यदि किसी अवस्था में नकारात्मक अनुभव हुए तो वे आगामी विकास को भी नकारात्मक रूप से प्रभावित करेंगे।

5.3.2 एरिक्सन के अनुसार विकास की अवस्थायें (Stages of Development According to Erikson)

तालिका 5.1

एरिक्सन की आठ विकास की अवस्थायें

क्र.सं.	मनोसामाजिक विकास की अवस्थायें	जीवन काल	आयु व अन्य	बुनियादी नैतिकता (Virtue)
1.	विश्वास बनाम अविश्वास (Trust V. Mistrust)	शैशव (Infancy)	जन्म से 1½ वर्ष तक, शिशु जन्म से चलने तक	आशा व प्रेरणा (Hope & Drive)
2.	स्वायत्ता बनाम शर्म व संदेह (Autonomy	पूर्व बाल्यावस्था (Early	एक से तीन वष तक, बच्चा,	इच्छाशक्ति व नियंत्रण

	V.Shame & Doubt)	childhood)	शौच प्रशिक्षण (Toilet Training)	(Willpower & Control)
3.	पहल बनाम अपराधबोध (Initiative V Guilt)	क्रीड़ा की अवस्था (Play Age)	3 से 6 वर्ष, नर्सरी स्कूल	उद्देश्य व निर्देश (Purpose & Direction)
4.	अध्यवसाय बनाम अपकर्ष (Industry V. Inferiority)	विद्यालयी अवस्था (School Stage)	5 से 12 वर्ष, प्राथमिक विद्यालय	योग्यता व प्रणाली (Competence & Method)
5.	पहचान बनाम भूमिका संभ्रम (Identity V. Role Confusion)	किशोरावस्था (Adolescence)	9 से 18 वर्ष, यौवनारम्भ (Puberty), किशोरावस्था (Teens)	विश्वस्तता व निष्ठा (Fidelity & Devotion)
6.	घनिष्ठता बनाम अलगाव (Intimacy V. (young Adult) Isolation)	युवा व्यस्क युवा मातृ–	18–40 वर्ष, विवाह, सम्बन्ध पितृत्वास्था	प्रेम व (Love & Affiliation)
7.	जननात्मकता बनाम निष्क्रियता (Generativity V Stagnation)	वयस्क अवस्था (Adulthood)	30–65 वर्ष मध्यावस्था मातृपितृत्व	संरक्षण व प्रवर्धन (Care & Proudction)
8.	सम्पूर्णता बनाम निराशा (Integrity & Despair)	परिपक्वावस्था · (Mature Age)	50 वर्ष से ऊपर, वृद्धावस्था, दादा–दादी, नाना–नानी की अवस्था	

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में ये आठ अवस्थायें आती हैं, जिनमें उसे विभिन्न भावों में द्वन्द्व का सामना कर आगे बढ़ना होता हे। इसी के द्वारा उसका विकास व व्यक्तित्व रेखांकित होते हैं। ये द्वन्द्व एक निश्चित क्रम में होते हैं। पर इनके अनुभव करने की आयु व्यक्तियें व परिस्थितियों पर निर्भर करती है। यही कारण है कि आयु वाला स्तम्भ (column) सीमाओं में विभाजित नहीं है। यथा 50 से 65 वर्ष की आयु जननात्मकता बनाम स्थिरता तथा सम्पूर्णता बनाम निराशा दोनों के द्वन्दों की अवस्था में आते हैं।

एरिक्सन के मनोसामाजिक विकास सिद्धान्त के अन्तर्गत आठ अवस्थाओं का अर्थ और उनकी व्याख्या निम्नलिखित है–

1. **विश्वास बनाम अविश्वास (Trust V. Mistrust)**– इस अवस्था में शिशु

विश्वास व अविश्वास के बीच एक स्वस्थ संतुलन बनाता है यदि उसकी देख रेख व पोषण अच्छी तरह किये जाये और न तो अतिसंरक्षण मिले न ही अतितृप्त (Over-indulgence) किये जाये। दुर्व्यहार, उपेक्षा व क्रूरता उसका विश्वास तोड़ते हैं और अविश्वास पैदा करते है। अविश्वास खोज व जोखिम लेने की प्रवृत्ति को बाधित करता है। यदि शिशु को अति संरक्षित किया जाये, गलती करने पर भी सिर्फ प्यार किया जाये, तो वह वास्तविकता से दूर हो जाता है। जो शिशु माँ–बाप का प्यार–दुलार पाते है, जिनके पोषण का ध्यान रखा जाता है, ऐसे शिशुओं में भौतिक जगत के प्रति विश्वास उत्पन्न होता है और वे दूसरी अवस्था में संतुलित व्यक्तित्व के साथ जाते हैं। जब शिशु विश्वास बनाम अविश्वास के द्वन्द्व का सफल समाधान कर लेता है, तो उसमें मनोसामाजिक शक्ति 'आषा' उत्पन्न होती है, जिसके सहारे शिशु अपने सांस्कृतिक परिवेश व अपने अस्तित्व को अर्थपूर्ण ढंग से समझने लगता है।

2. **स्वायत्तता बनाम शर्म व संदेह** (Autonomy V. Shame and Doubt) –इस अवस्था में शिशु बालक के रूप में आस–पास के वातावरण को देख कर समझने का प्रयास करने लगता है। वह हर कार्य स्वयं करना चाहता है। माँ–बाप पर कम निर्भर रहना चाहता है। उसमें अन्वेषण की प्रवृत्ति होती है। इससे वह स्वतन्त्र व्यवहार करता है। उसमें स्वयात्तता की भावना विकसित होने लगती है। इस समय बालक को शौच प्रशिक्षण (Toilet Training) दिया जाता है। इस अवस्था में बालक के प्रति माता–पिता की प्रतिक्रिया, उनका व्यवहार अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यदि माता–पिता उसे अत्यधिक नियंत्रण में रखते हैं और दबाव डालते हैं तो इससे बच्चे में संदेह की भावना उत्पन्न होती है। कभी–कभी माता–पिता बच्चे से ऐसे व्यवहार की अपेक्षा करते हैं, जो बच्चों के सामर्थ्य से परे है। ऐसी परिस्थिति में बच्चे में षर्म की भावना उत्पन्न होती है। इससे उसमें संदेह, व्यर्थता व शक्तिहीनता के अवगुण उत्पन्न होते है। जब बालक स्वायत्ता बनाम षर्म व संदेह के द्वन्द्व से उबर जाता है, तो उसमें मनोसामाजिक शक्ति इच्छाशक्ति (willpower) उत्पन्न होती है। यह शक्ति बालक को स्वतंत्रतापूर्वक रूचि के अनुसार कार्य करने तथा आत्मनियन्त्रण के लिये सबल बनाती है।

3. **पहल बनाम अपराधबोध (Initiative V Guilt)**– पहल का अर्थ कार्य करने या कार्य योजना बनाने की एक ऐसी क्षमता से है, जिसमें एक आत्मविश्वास होता है कि असफलता हो या गलत कार्य करें– कोई बात नहीं। इसके विपरीत अपराधबोध का अर्थ है कि अपने आप कोई भी कार्य करने की पहल गलत होती है। अपराधबोध की भावना तब आती है, जब बालक को कोई कार्य स्वयं करने पर या गलत करने पर डॉटा जाये या रोका जाये। जहाँ कहीं बालक को साहस करने तथा

खेलने के लिये प्रेरित किया जाता है, पहल की भावना विकसित होती है। इस अवस्था में बड़ों, भाई–बहनों तथा देखभाल करने वाले व्यक्तियो को यह ध्यान रखना चाहिये कि बालक को जोखिम उठाने का अवसर दें पर अपनी निगरानी में, जिससे उन्हें शारीरिक अथवा अन्य नुकसान न हो। उन्हें गलती करने और उससे सीखने का अवसर देना चाहिये। इससे उनमें आत्मविश्वास और उद्देश्यपूर्ण कार्य करने की भावना जागृत हो जाती है। इस तरह उनमें जीवन की वास्तविकताओं को स्वीकारने की प्रवृत्ति बन जाती है।

यह हमेशा ध्यान रखना चाहिये कि बच्चे बुरे, शैतान या दुष्ट नहीं होते। वे सीखने, विकास व आत्मविश्वास प्राप्ति की प्रक्रिया में खोज व प्रयोग कर रहे हैं। अतः उन्हें एक सुरक्षित वातावरण दिया जाये, जिसमें वे गलती करके सीखें और उन पर बंधन न लगाया जाये, उनकी निन्दा न की जाये और उन्हें खोजने व सीखने के अवसर दिये जायें।

पहल व अपरोधबोध के मध्य संतुलन होने से बालक में 'उद्देश्य' व 'निर्देश' को मनोसामाजिक शक्ति उत्पन्न होती है।

4. **अध्यवसाय बनाम अपकर्ष (Industry V. Inferiority)**– 'अध्यवसाय' से एरिक्सन का तात्पर्य अर्थपूर्ण क्रिया से था। यह क्षमताओं व कौशलों के विकास से सम्बन्धित है,जो किसी प्रणाली अथवा पद्धति को विश्वासपूर्वक प्रयोग करने से प्राप्त होती है। यह विद्यालयी जीवन के अनुभवों का एक महत्वपूर्ण आयाम है। एरिक्सन के अनुसार यह अवस्था एक तरह से 'जीवन का द्वार' है। जब विद्यालय में बालक को कुछ सकरात्मक प्राप्ति होती है, उसमें संतुष्टि का भाव जगता है और वह भावों के द्वन्द्व को सफलतापूर्वक पार कर पाता है। जो बालक विद्यालयी कार्यों में असफलता प्राप्त करते हैं अथवा जिन्हें अन्वेषण का मौका नहीं मिलता है, वे अपने व्यक्तित्व की विशिष्ट क्षमताओं को प्राप्त करने में सफल नहीं होते, उनमें हीनता की भावना आ जाती है। इस अवस्था में दूसरे के साथ सहयोग तथा तकनीक व उपकरणों के प्रयोग का बहुत महत्व होता है। जब कोई बालक इसमें असफल रहता है, तो स्वयं को 'बेकार' समझने लगता है। व्यर्थता की यह भावना आत्मविश्वास को तोड़ देती है। इस तरह इस अवस्था में बालक को अपने आप को अपनी योग्याताओं व क्षमताओं को परखने का अवसर दिया जाना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी क्षेत्र मं उत्कृष्ट होने की क्षमता रखता है। इस अवस्था में उसे अपनी उस क्षमता को खोजने का अवसर दिया जाना चाहिए। जब बालक अध्यवसाय व अपकर्ष के मध्य एक संतुलन बना लेता है, तो उसमें मनोसामाजिक षक्ति 'योग्यता' व 'प्रणाली' विकसित होती है।

5. **पहचान बनाम भूमिका संभ्रम (Identity V. Role Confusion)**– पहचान का

अर्थ है कि व्यक्ति अपने आपको अपने संसार (वातावरण) के संदर्भ में कैसे पहचानता है। यह जीवन के संदर्भ में 'आत्म' (Self) अथवा अपनी वैयक्तिता की अवधारणा है। यह किशोरावस्था की आयु होती है, जिसमें बालक समझदार हो जाता है। वह अपनी एक सफल व प्रभावशाली पहचान बनाना चाहता है। वह अपना लक्ष्य निर्धारित कर उसके अनुरूप भूमिका निर्वहन की योग्यता व इच्छा रखता है। इसका विपरीत भाव है, भूमिका संभ्रम। जब किशोर यह नहीं समझ पाता कि प्रस्तुत वातावरण में उसकी क्या भूमिका है, वह भ्रमित हो जाता है। किशोर अपने समाज व वातावरण से स्वीकृति चाहते हैं। इसके साथ वे सफल व्यक्ति भी बनना चाहते हैं। जब इस पहचान व भूमिका संभ्रम के विरोधी भावों में एक संतुलन बन जाता है। तो एक सकारात्मक भावों वाले प्रभावशाली किशोर का आर्विभाव होता है, जो वयस्क जीवन के संघर्षों का सामना करने को तैयार रहता है। इस समय मनोसामाजिक भाव विश्वस्तता तथा निष्ठा का जन्म होता है। इसका अर्थ है कि किशोर एक विश्वस्त व्यक्तित्व का स्वामी है तथा समाज के नियमों के प्रति उसमें निष्ठाभाव है।

6. **घनिष्ठता बनाम अलगाव (Intemacy V. Isolation)**–घनिष्ठता का अर्थ है परिवार तथा पति/पत्नी अथवा प्रेमी/प्रेमिका के साथ अतरंग सम्बन्धों की स्थापना। यह समय 18 से 40 वर्ष तक की आयु का है। इस समय विवाह तथा परिवार में बच्चों का आगमन व उनका बाल्यकाल आता है। इस समय व्यक्ति सामाजिक व लैंगिक घनिष्ठता बनाये रखने के लिये प्रस्तुत रहता है। यह समय प्यार देने व पाने दोनों का होता है। पारिवारिक जीवन में प्रवेश तथा व्यवसाय द्वारा जीविकोपार्जन से व्यक्ति में अपनी पहचान खोये बिना दूसरों से सम्बन्ध स्थापित करने की क्षमता इस अवस्था में विकसित होती है।

जब कभी इस अवस्था का वयस्क दूसरों के साथ किसी कारणवश घनिष्ठ सामाजिक व लैंगिक सम्बन्ध स्थापित करने में असमर्थ होता है, तो उसमें अलगाव की भावना उत्पन्न होती है। परिणामस्वरूप वह लोगों से सामाजिक दूरी बनाने लगता है एवं एकाकी व खोया–खोया रहने लगता है। इससे उसमें असामाजिक व मनोविकृत व्यवहारों व भावनाओं की सम्भावना बढ़ जाती है।

एरिक्सन के अनुसार जब वयस्क व्यक्ति घनिष्ठता व अलगाव से उत्पन्न अन्तर्द्वन्द्ध का सफल समाधान कर लेता है तो उसका व्यक्तित्व संतुलित हो जाता है। उसमें मनोसामजिक शक्ति प्रेम तथा सम्बन्ध का विकास होता है।

7. **जननात्मकता बनाम निष्क्रियता (Generativity V. Stagnation)**– यह अवस्था 36 से 65 वर्ष तक की आयु के मध्य की अवस्था है। एरिक्सन ने 'Generativity' शब्द का प्रयोग 'Generation' (पीढ़ियों) के संदर्भ में किया है। इसका अर्थ है

माता/पिता अपनी अगली पीढ़ी पुत्र/पुत्रियों को जो पोषण, संरक्षण व प्यार देते हैं उसे **Generativity** अथवा जननात्मकता कहा जाता है। वे यह मार्गदर्शन, संरक्षण, प्रेम आदि न सिर्फ व्यक्तिगत व्यवहार के स्तर पर देते हैं, अपितु कार्यक्षेत्र, सृजनात्मक प्रवृत्ति आदि के संदर्भ में भी देते हैं। इस आयु में वयस्क न सिर्फ अपने परिवार के कल्याण का भाव रखते हैं, अपितु समाज व विश्व, जिसमें वे, उनके बच्चे व पोते–पोती रहेंगे, के प्रति भी कल्याण की बात सोचते हैं। वे न केवल अपनी अगली पीढ़ियों को अपने आदर्श, मूल्य व बौद्धिक सम्पदा प्रदान करते हैं, बल्कि उनके लिये एक विकासपरक वातावरण और संरक्षण देने को तत्पर रहते हैं। यह देने की भावना इस अवस्था का मूल आधार है।

इसके विपरीत निष्क्रियता घनिष्ठता का प्रसार है, जो सिर्फ स्वयं के हित तक सीमित रहती है। यह भावना स्वार्थ, लालच, स्वलिप्तता का रूप ले लेती है और ऐसे व्यक्ति को अगली पीढ़ी अथवा विश्व की समस्याओं से कोई मतलब नहीं रहता है। इस तरह निष्क्रियता की उत्पत्ति अगली पीढ़ी के भले के लिये और इस तरह विश्व के बेहतर भविष्य के लिये कोई योगदान नहीं करने के कारण होती है।

जननात्मकता बनाम निष्क्रियता की अवस्था से उत्पन्न अन्तर्द्वन्द्व का जब व्यक्ति सफल समाधान कर लेता है, तो मनोसामाजिक शक्ति 'संरक्षण' तथा ' प्रवर्धन' की उत्पत्ति होती है, जिसमें दूसरों के कल्याण की भावना प्रबल होती है।

8. **सम्पूर्णता बनाम निराशा (Integrity V. Despair)**–मनोसामाजिक विकास की यह अंतिम अवस्था है। वास्तव में यह जीवन की पुनरावलोकन व समाप्ति की अवस्था है। इससे पहले की अवस्था व्यक्ति की उपलब्धियों तथा संततियों के कल्याण के लिये योगदान की अन्तिम अवस्था होती है। उसके बाद व्यक्ति को इस अवस्था में सम्पूर्णता व शांति का अनुभव होता है अथवा निराशा का।

सम्पूर्णता का अर्थ है स्वयं के साथ तथा संसार के साथ शान्तिपूर्ण सम्बन्धों की भावना। कोई अफसोस नहीं न ही कोई आरोप–प्रत्यारोप की भावना। व्यक्ति अपने जीवन का पुनरावलोकन इस अवस्था में करता है। यदि उसने अपनी क्षमताओं के अनुरूप विश्व व समाज के कलयाण के लिये सकारात्मक प्रयास अपने जीवन में किये है, तो उसे एक सम्पूर्णता की अनुभूति होती है।

निराशा नकारात्मक अनुभूतियों का बोध कराती है। जब व्यक्ति यह सोचता है कि उसने जीवन में बहुत से अवसर अपनी कमियों के कारण गँवायें, या वह जीवन में असफल रहा, या यदि उसे फिर से मौका मिले, तो वह कुछ बेहतर करना चाहेगा, तब उसमें निराशा की भावना आती है।

यह अवस्था 50 से ऊपर की अवस्था है। इसमें पुनरावलोकन यदि व्यक्ति

50–55 की आयु के पास कर ले, तो शायद उसे कुछ समय अपने को बेहतर बनाने का मिल जाता है।

इस अवस्था में यदि व्यक्ति सम्पूर्णता व निराशा के मध्य संतुलन बना लेता है, तो उसमें 'विवेक' व 'त्याग' की मनोशक्तियों का विकास हो जाता है। वह उसे आत्मिक शांति मिल जाती है और वह इस संसार की मोहमाया त्यागकर अगली यात्रा के लिये तैयार हो जाता है।

5.3.3 एरिक्सन द्वारा प्रयुक्त प्रमुख पारिभाषिक शब्दावली (Terminology Used by Erikson)– एरिक्सन ने अपने सिद्धान्त के विकास के साथ–साथ प्रयुक्त शब्दावलियों में परिवर्तन किया। एरिक्सन जीवन भर अपने सिद्धान्त का पुनर्मूल्याकंन तथा शोधन करते रहे। फलस्वरूप अनेक स्थानों पर अलग–अलग शब्दावली पाई जाती है। उन्होंने 1950 में Childhood and Soceity पुस्तक में अपने सिद्धान्त को प्रस्तुत किया। 1966 में उनकी सहयोगी तथा पत्नी जोआन एरिक्सन (Joan Erikson) us The Life Cycle Completed: A Reivew में उस सिद्धान्त को सम्पूर्णता प्रदान की।

एरिक्सन ने सर्वप्रथम अपने सिद्धान्त में दो विरोधी भावों के लिये सकारात्मक व नकारात्मक शब्दों का प्रयोग करने के बजाय चिकित्साशास्त्रीय शब्दावली का प्रयोग किया। Syntonic (सिन्टॉनिक) का प्रयोग सकारात्मक तथा Dystonic (डिस्टॉनिक) का प्रयोग नकारात्मक भाव के लिये किया।

एरिक्सन ने सकारात्मक व नकारात्मक भावों की 'अति' के लिये क्रमशः Maladaptation (असंगत अनुकूलन) तथा Malignancy (सांघातिकता) शब्दों का प्रयोग किया।

उनके द्वारा दी गई Maladaptation o Malignancy की तालिका नीचे प्रस्तुत की जा रही है।

तालिका 5.2

Maladaptation (असंगत अनुकूलन) तथा Malignancies (सांघातिकतायें)

क्र.सं.	असंगत अनुकूलन (Maladaptation)	द्वन्द्व (Crisis)	सांघातिकताये (Malignancies)
1.	संवेदिक विकृति (Sensory Distortion)	विश्वास बनाम अविश्वास (Trust V. Mistrust)	निवर्तन (Withdrawal)
2.	आवेग (Impulsivity) या बेशर्म हठ (Shameless willfulness)	स्वायत्तता बनाम शर्म व संदेह (Autonomy V. Shame & Doubt)	दबाव (Compulsion)
3.	निष्ठुरता (Ruthlessness)	पहल बनाम अपराध बोध (Initiative V. Guilt)	प्रावरोध (Inhibition)

4.	सीमित कौशल (Narrow Virtuosity)	अध्यवसाय बनाम अपकर्ष (Industry V. Intefiority)	अकर्मण्यता (Inerti)
5.	दुराग्रह (Fanaticism)	पहचान बनाम भूमिका संभ्रम (Identity V. Role Confusion)	परित्याग (Repudiation)
6.	स्वैरिता (Promiscuity)	घनिष्ठता बनाम अलगाव (Intimacy V. Isolation)	अनन्यना (Exclusivity)
7.	अति प्रसार (Over Extension)	जननात्मकता बनाम निष्क्रियता Generativity V. Stagnation)	अस्वीकृति (Rejectivity)
8.	अहंकार (Presumption)	सम्पूर्णता बनाम निराशा	तिरस्कार
		(Integrity V Despair)	(Disdain)

5.3.4 एरिक्सन के सिद्धान्त के निहितार्थ (Implications of Erikson's Theory)– एरिक्सन के सिद्धान्त जीवन में प्रयोग किये जा सकते हैं। उन्होंने अपने निष्कर्ष जीवन में प्रयोगों के आधार पर दिये है। एरिक्सन के सिद्धान्तों के निहितार्थ निम्न हैं–

- विद्यालय जाने वाली आयु से छोटी आयु वाले बालकों को खेलने–कूदने और अपने को अनेक क्रियाओं में लगाये रखने की स्वतंत्रता होनी चाहिए। इससे उनकी स्वाधीनता का भावना को प्रोत्साहन मिलेगा। किण्डरगार्टेन के स्तर पर अपने आप पहल की हुई क्रियाओं को सबसे अधिक महत्व दिया जाना चाहिये। बालकों में दोष की भावना को पनपने से रोकना चाहिये। अभिभावकों व शिक्षकों को ध्यान रखना चाहिये कि बच्चों में अपने भाई–बहनों तथा सहपाठियों के प्रति ईर्ष्या की भावना ना पनपे।
- प्राथमिक कक्षा के बच्चों को प्रतिद्वन्द्वता की भावना से बचाना चाहिए। अन्यथा, जो मुकाबले में असफल होंगे, उनमें हीनता की भावना पनपने लगेगी। उन्हें ऐसे अवसर प्रदान किये जायें, जिससे वे स्वयं कार्य करके प्रसन्नता प्राप्त करें।
- माध्यमिक कक्षाओं मे किशोर 'पहचान बनाम भूमिका संभ्रम' की अवस्था में होते है। इस आयु में शिक्षकों व अभिभावकों को अपनी अलग पहचान बनाने के लिये प्रोत्साहित करना चाहिये। ऐसा वे किशोर की विशिष्टताओं को जानकर उनको उनकी क्षमतानुसार कार्य करने का अवसर देकर कर सकते हैं। इससे किशोर को अपने व्यक्तित्व की पहचान का अनुभव होगा और उसमें आत्मविश्वास बढ़ेगा। किशोरों को यह पता नहीं होता है कि कौन सा व्यवहार वांछित है। अतः उन्हें इस विषय में सहायता करके कुंठित होने से बचाया जा सकता है।
- युवा–वयस्कावस्था में घनिष्ठता बनाम अलगाव का द्वन्द्ध होता हैं यदि पहले

वाली अवस्थाओं में व्यक्ति संतुलित व्यवहार के साथ विकसित होता है, तो उसमें आत्मविश्वास होता है और वह स्पष्ट रूप से जानता है कि उसे क्या करना है। उसे दूसरे पर विश्वास होता है। वह पहल करने पर विश्वास करता है। अपनी योग्यताओं को जानता व उन पर विश्वास करता है। जिनका व्यक्तित्व सुसमायोजित नहीं होता, उन्हें अनेक संकटों का सामना करना होता है।

अतः एरिक्सन के सिद्धान्त मनुश्य के जीवनकाल की सभी अवस्थाओं पर विचार करते है।

बोध प्रश्न

टिप्पणी–(क)– नीचे दिये गये रिक्त स्थान में अपने उत्तर लिखिये।
(ख)– इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर का मिलान कीजिये।

1. एरिक्सन का सिद्धान्त व्यक्तित्व विकास का कौन सा सिद्धान्त कहलाता है?

....

....

2. एरिक्सन के अनुसार विकास की कितनी अवस्थायें हैं?

....

....

3. एरिक्सन ने सकारात्मक तथा नकारात्मक भावों की 'अति' के लिये किन शब्दों का प्रयोग किया है?

....

....

4. एरिक्सन की बुनियादी नैतिकता (Basic Virtues) से आप क्या समझते हैं?

....

....

5.4 फ्रॉयड का व्यक्तित्व विकास का मनोविश्लेषण सिद्धान्त (Freud's Psycho Analytic Theory of Personality Devlopment)

सिगमण्ड फ्रॉयड (Sigmund Freud) का जन्म 6 मई 1856 को ऑस्ट्रिया के मोरेविया (अब चेक रिपब्लिक) में हुआ था। 1881 में वियना विश्वविद्यालय से उन्हें डाक्टर ऑफ मेडिसिन की उपाधि प्राप्त हुई। वे एक न्यूरोलॉजिस्ट के रूप में कार्यरत हुये। उनके शोधों के परिणामस्वरूप मनोविश्लेषण सिद्धान्त का प्रारम्भ हुआ। उन्हें

'मनोविश्लेषण के पितामह' के नाम से जाना जाता है। उनकी मृत्यु लंदन में 23 सितम्बर 1939 को हुई।

उनका मनोविश्लेषणवादी सिद्धान्त दो आधारभूत तत्वों पर निर्भर है। प्रथम, मनोनियत्तत्ववाद (Psychic Determinism) जिसका अर्थ है मानव का व्यवहार संयोगवष या यादृच्छिक न घटित होकर कुछ मानसिक कारकों के कारण होता है। इन कारकों की व्याख्या 'अचेतन मन' (Unconscious mind) की सहायता से की जा सकती है। द्वितीय व्यक्तित्व के निर्माण में दो अधिनियम–सुख अधिनियम (Pleasure Principle) तथा यथार्थता अधिनियम (Reality Principle) कार्य करते है। इसके अनुसार सुख प्राप्ति की इच्छा तथा वास्तविक परिस्थितियों के मध्य संघर्ष होता रहता है। इन दोनों के मध्य सफल समाधान व्यवहार व व्यक्तित्व को प्रभावित करता है। सुख अधिनियम के अनुसार प्राणी अपनी मूल प्रवृत्तियों जिजीविषा (Life instinct) तथा मुमूर्शा (Death instinct) की संतुष्टि प्राप्त करना चाहता है, जबकि यथार्थ अधिनियम के अनुसार उसे सामाजिक नियमों व बंधनों का पालन करना पड़ता है। हर क्षण सुख अधिनियम लागू नहीं हो सकता। अतः स्वस्थ व्यक्तित्व में इन दोनों अधिनियमों का एक संतुलित, स्थायी व मधुर समन्वय देखने को मिलता है।

फ्रॉयड के अनुसार व्यक्तित्व का निर्माण इड (ID), ईगो (Ego) तथा सुपर ईगो (Super Ego) से होता है। इड अचेतन मन है जिसमें मूल प्रवृत्तियाँ व नैसर्गिक इच्छायें होती है, जो शीघ्र तृप्ति चाहती है। ईगो इड का वह भाग है, जो वाह्य संसार के अनुमान व सम्भावना से परिष्कृत होता है और उसका कालान्तर में प्रभाव भी पड़ता है। यह प्राणी को उद्दीपन करने को तथा उसके ईर्द–गिर्द जमी परत के अंश के रूप में व्याप्त रहता है। सुपरईगो, ईगो का वह पक्ष है, जिसे हम चेतना कहते है। यह आत्मनिरीक्षण की प्रक्रिया को सम्भव बनाता है।

5.4.1 मनोविश्लेषणवादी सिद्धान्त की मुख्य विशिष्टतायें (Main Characteristics of Psychoanalytic Theory)

फ्रॉयड के सिद्धान्त की मुख्य विशिष्टातायें निम्नलिखित हैं–

1. व्यक्ति के जीवन के प्रथम पाँच वर्षों में अर्जित संस्कार उसके व्यक्तित्व के निध ारिक होते हैं। विकास की प्रथम तीन अवस्थायें (जिनका वर्णन इसी इकाई में बाद में किया जायेगा) मुखीय, गुदीय व लैंगिक इस संदर्भ में अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।
2. अभिप्रेरणा के संदर्भ में फ्रॉयड द्वारा वर्णित दो मूल–प्रवषत्तियों (Instincts) जिजीविषा (Life instinct) तथा मुमूर्षा (Death Instinct) की भूमिका व्यक्तित्व

निर्माण में महत्वपूर्ण होती है। व्यक्ति कैसे इन प्रवृत्तियों को संतुष्ट करता है तथा उनकी अभिव्यक्ति के संदर्भ में कैसा आचरण करता है– यह व्यक्तित्व निर्माण में सहायक होता है।

3. व्यक्तित्व के निर्माण में, फ्रॉयड के अनुसार जिजीविशा तथा मुमूर्शा की मूल–प्रवृत्तियों से सम्बन्धित भाव–विरेचन (Catharsis) एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। भावविरेचन से तात्पर्य है मूलप्रवृत्ति का 'आत्म' (self) अथवा वाह्यवस्तु से जुड़ जाना और व्यक्तित्व को प्रभावित करना। जब मूल प्रवषत्ति जिजीविशा आत्म से जुड़ जाती है, तो व्यक्ति अपने आप से प्रेम करने लगता है। इसे फ्रॉयड ने 'नारसीसिस्म' (Narcissism) का नाम दिया, जो अनेक मनोविकारों का कारण होता है।

4. व्यक्ति के मन (Pysche) को तीन स्तरों पर विश्लेषित किया जा सकता है– चेतन (Conscious), अवचेतन (Subconscious) तथा अचेतन (unconscious)। मानव के मस्तिष्क की एक समुद्र से तुलना की जा सकती है। जैसे एक बर्फ की चट्टान समुद्र में पानी की सतह से थोड़ा ऊपर उठी रहती है, उसी तरह मस्तिष्क का चेतन स्तर सबसे ऊपरी सतह होता है। यह मानसिक क्षेत्र का सिर्फ 1/10 भाग होता है। इस 'चेतन' स्तर पर हमारे विचार अवधारणायें मानसिक चित्र आदि संचित रहते हैं। मन का चेतन स्तर व्यक्ति के ज्ञाता, कर्ता या जागरूक स्वरूप द्वारा व्यक्त होता है। 'अवचेतन' स्तर (Subconscious) इस चेतन स्तर के ठीक नीचे होता है। इसमें जीवन से सम्बन्धित सभी जानकारियों सुप्त अवस्था में पड़ी रहती है, जो आवश्यकता पड़ने पर स्मृति द्वारा तुरन्त उपलब्ध कराई जाती है। जीवन के विभिन्न अनुभवों व प्रशिक्षण से प्राप्त सूचनायें इस अवचेतन स्तर में संचित रहती है। इस स्तर से नीचे 'अचेतन स्तर' (Unconscious) होता है, जो हमारे मस्तिष्क का सबसे महत्वपूर्ण भाग होता है। यह वह भाग है जो अज्ञान है और चेतना से दूर है। यह हमारी सभी दमित इच्छाओं, कामनाओं, वासनाओं का संग्रहालय है, जो व्यक्ति के व्यक्तित्व का एक ऐसा भाग है, जिसे वह अपने तक ही सीमित रखना चाहता है। पर कभी कभी ये दमित इच्छायें चेतना अथवा अवचेतना के स्तर पर आने का प्रयास करती हैं। स्वप्न तथा दिवास्वप्न के छद्यवेश में वे ऊपर आने का प्रयास करती है। फ्रॉयड का मानना था कि व्यक्ति का व्यवहार इस अचेतन मन की शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है। व्यक्तियों के मानसिक रोगों तथा असामान्य व्यवहार का कारण इस अचेतन मन में ही पाया जा सकता है।

5. व्यक्तित्व को संगठित करने में व्यक्ति की तीन प्रकार की व्यवस्थाओं का अपूर्व

योगदान होता है– इड, ईगों तथा सुपर ईगों जिसे इद्‌म अहम् तथा पराहम् का नाम भी दिया गया है।

6. अपने यथार्थ के साथ समायोजन करने की दृष्टि से हमारा व्यक्तित्व एक प्रकार की रक्षायुक्ति (defence mechanism) विकसित कर लेता है। यह युक्ति अधिकांशतः अचेतन मन द्वारा संचालित होती है तथा व्यक्ति के ईगों को प्रभावित करने वाले कारकों से उत्पन्न तनावों को कम अथवा दूर करने में सहायक होती है।

5.4.2 व्यक्तित्व का संचरचनात्मक स्वरूप (**Structural Framework of Personality**)

फ्रॉयड ने व्यक्तित्व को इद्‌म, अहम् तथा पराहम् (Id, Ego and Super Ego) का समन्वित स्वरूप माना है। इन सभी व्यवस्थाओं का अपना विशिष्ट तत्व होता है तथा इनकी अपनी क्षमतायें, सीमायें तथा युक्तियाँ होती हैं। ये परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है तथा मनुष्य का व्यवहार इनकी अन्तःक्रिया का परिणाम होता है। मन के तीनों पक्ष–चेतन, अवचेतन व अचेतन इनसे जुड़े रहते है। इद्‌म (Id) का सम्बन्ध अचेतन मन से है। यह व्यक्ति की सम्पूर्ण मनोऊर्जा (Psychie energy) का श्रोत है तथा व्यवहार को अभिप्रेरित करता है। यह जन्म से व्यक्ति में विद्यमान होता है। अहम् (Ego) को ऊर्जा प्रदान करने में इदम् का विशेष महत्व है। यह अंशतः चेतन मन से सम्बद्ध है। जैसे–जैसे व्यक्ति का विकास होता है, 'अहम्' का निर्माण भी होता है। 'पराहम्' का सम्बन्ध व्यक्ति के चेतन, अवचेतन तथा अचेतन–तीनों ही पक्षों से होता है। यह व्यक्ति के अन्तर्विवेक का परिचायक है। इसके अन्तर्गत व्यक्ति के परिवार, समुदाय तथा सामाजिक आचार–संहिता, व्यवहार के प्रतिमान तथा उनसे सम्बन्धित संस्कार महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

5.4.2.1 इदम् (**ID**)–

- इसका सम्बन्ध मन के अचेतन भाग से होता है। यह मनोऊर्जा का भण्डार माना जाता है। इसके अन्तर्गत पूर्वजों से प्राप्त जातीयगुण व विशेषतायें, दमित व अतृप्त इच्छायें तथा वासनायें निवास करती हैं। यह नैतिक–अनैतिक, सत्य–असत्य, उचित–अनुचित, अच्छा–बुरा तथा विवेक में विश्वास नहीं करता है। व्यक्ति की कामवासना (Sexual desires) की तुष्टि के लिये यह सदैव तत्पर रहता है। इदम् सुख अधिनियम द्वारा संचालित होता है।

5.4.2.2 अहम् (**Ego**)–

- अहम् का सम्बन्ध मन के चेतन भाग से होने के साथ ही विचारशील चिन्तन से होता है। अहम् का सम्बन्ध इदम् से होता है। साथ ही यह वाह्य जगत तथा

वास्तविक जीवन से विशेष रूप से सम्बन्धित होता है। अहम् इदम् की सुखवादी प्रवृत्ति तथा पराहम् (नैतिकमन) के मध्य उत्पन्न अन्तर्द्वन्द्ध को समाप्त कर संतुलन स्थापित करने का प्रयास करना है। अहम् का संचालन यथार्थ अधिनियम से होता है। यदि तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो इदम् व अहम् में इदम् एक मूल प्रवृत्ति है तथा अहम् विवेक।

5.4.2.3 पराहम् (Super Ego)–

- सामाजीकरण के परिणामस्वरूप बालक में पराहम् का विकास होता है। पराहम् को हमें नैतिक मन भी कह सकते हैं। इसमें बालक के सामाजिक–सांस्कृतिक परिवेश से अर्जित आदर्शों मूल्यों व नियमों का समावेश रहता है। नैतिक मन ही बालक को अनैतिक व पाशविक इच्छाओं की तृप्ति से रोकता है तथा सामाजिक आदर्शों व मर्यादाओं तथा नैतिक नियमों के पालन के लिए प्रेरित करता है। बालक अपने माता–पिता के व्यवहारों को आत्मसात् करता है तथा उन्हें एक आदर्श व्यवहार का उदाहरण मानने लगता है। पराहम् के अन्तर्गत दो उपव्यवस्थाओं की कल्पना की गई है– अहम् आदर्श की (Ego Ideal), जो उसे अपने ऊपर गर्व का अनुभव कराता है और उसे पुरस्कृत करता है। दूसरी उपव्यवस्था अंतरात्मा की है, जो व्यक्ति में दोषी होने का भाव उत्पन्न करती है और उसे दण्डित करती है। पराहम् के विकसित होने पर व्यक्ति के माँ–बाप द्वारा प्रयुक्त नियन्त्रण का स्थान आत्म–नियंत्रण ले लेता है।

5.4.2.4 इदम्, अहम् व पराहम् में अन्र्तसम्बन्ध (Inter-relation among Id, Ego & Super Ego)–

- व्यक्तित्व के गतिशील स्वरूप को ध्यान में रखते हुए व्यक्ति के इदम्, अहम् व पराहम् के बीच एक तरह के द्वन्द्ध की परिकल्पना की जाती है। इदम् सुख की प्राप्ति के लिये सचेष्ट होता है, जबकि अहम् इसकी इस चेष्टा को स्थगित करने का प्रयास करता है। पराहम् इन दोनों पर अंकुश रखता है, क्योंकि इनकी कार्यशैली में नैतिक शक्ति का अभाव होता है, पराहम् जिसका प्रतीक है।

इस प्रकार व्यक्ति के अहम् को तीन शक्तियाँ अनुशासित रखती हैं – (a) पराहम् के आदेष व निर्देष, (b) इदम् की मूल प्रवृत्तियाँ व माँगें तथा (c) वस्तुगत जगत से सम्बन्धित यथार्थ अधिनियम के अनुसार उस पर लगाये गये दबाव। इसलिये व्यक्ति का अहम् अनेक रक्षा–युक्तियों (defence mechanism) का प्रयोग करता है। इनके द्वारा वह आदेशों व दबावों से उत्पन्न तनावों व असंतोष का निराकरण कर लेता है।

5.4.3 रक्षा युक्तियाँ (Defence Mechanism)–

फ्रॉयड के अनुसार शक्ति का अहम् अपनी चिन्ता का निराकरण या समाधान करने हेतु कई अचेतन युक्तियों का प्रयोग करता है। इन्हें रक्षा–युक्तियों का नाम दिया जाता है। ये युक्तियाँ इदम् से उत्पन्न अवांछनीय वृत्तियों तथा इच्छाओं एवं धमकी भरी प्रताड़नाओं को व्यक्ति के चेतन मन में आने से रोकती है। इन युक्तियों के सम्बन्ध में दो गुण प्रायः पाये जाते हैं। प्रथम वे यथार्थ का निषेधीकरण, मिथ्यापन तथा उसके स्वरूप में विकृति लाने में सहायक होती हैं। द्वितीय वे सदैव अचेतन रूप में व्यक्त होती हैं, जिससे व्यक्ति को इनके बारे में जानकारी नहीं होती है। निम्नलिखित रक्षा युक्तियाँ इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय हैं–

(1) अवदमन (Repression)

(2) प्रक्षेपण (Projection)

(3) तादात्मीकरण (Identification)

(4) प्रतिक्रिया निर्माण (Reaction Formation)

(5) विस्थापन (Displacement)

(6) औचित्य स्थापन (Rationalization)

(7) उदात्तीकरण (Sublimation)

(8) स्थिरण (Fixation)

(9) प्रतिगमन (Regression)

5.4.4 मूलप्रवृत्ति सिद्धान्त (Theory of Instinct)–

फ्रायड के अनुसार मनुष्यों में दो प्रकार की मूल–प्रवृत्तियों पाई जाती हैं– जीवन मूल प्रवृत्ति तथा मृत्यु मूल प्रवृत्ति (Life and Death Instinct) जीवन मूलप्रवृत्ति से ही काम मूलप्रवृत्ति (Sex Instinct) का विकास होता है, जिसे फ्रॉयड ने लिबिडो (Libido) का नाम दिया है। लिबिडो इन्द्रिय–वासना–तृप्ति द्वारा संचालित होती है। फ्रॉयड ने जीवन मूल प्रवृत्ति के लिये इरॉस (Erros) तथा मृत्यु मूलप्रवृत्ति के लिये थेनॉटॉस (Thanatos) शब्द का प्रयोग किया था। जीवन मूलप्रवृत्ति (Erros) में व्यक्ति के विगत में घटित विचार संचित रहते हैं और अंश के रूप में रक्षात्मक तंत्र (Defence mechanism) भी जीवन की मूल–प्रवृत्ति में निहित होता है। फ्रॉयड के अनुसार इरॉस (Erros) संरचनात्मक प्रकृति की होती है और इसके द्वारा निर्माणकारी कार्य संचालित होते है। थेनॉटॉस (Thanatos) विध्वंसकारी प्रवृत्ति होती है और विनाशकारी कार्यों के संदर्भ में क्रियाशील रहती है। इसके द्वारा तनाव व संघर्ष का अन्त होता है और पूर्ण स्वतन्त्रता की ओर व्यक्ति उन्मुख हो जाता है।

ये मूल प्रवृत्तियाँ मानव– व्यवहार का आधार हैं। इनमें निम्नलिखित विशेषतायें पाई जाती हैं–

- ये प्राणी की शारीरिक आवश्यकतायें है, जो व्यवहार में असंतुलन उत्पन्न करती हैं।
- ये व्यक्ति की षारीरिक उत्तेजना (यथा भूख) को दूर करती है।
- शारीरिक उत्तेजना को दूर करने के लिये पदार्थ (जैसे भूख लगने पर भोजन) की प्राप्ति के लिये प्रयास करती हैं।
- इन मूलप्रवृत्तियों का आधार गतिशक्ति (Impetus) है, जो आवश्यकता की तीव्रता के अनुरूप निर्धारित होती है।
- व्यक्ति का सम्पूर्ण व्यवहार जीवन व मृत्यु की मूल प्रवृत्ति के मध्य अंतःक्रिया का परिणाम है। इसे गणितीय सूत्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है–

$$B = L \times D$$

जहाँ B = Behaviour (व्यवहार)

L= Life Instinct (जीवन मूल प्रवृत्ति)

D= Death Instinct (मृत्यु मूल प्रवृत्ति)

5.4.5 व्यक्तित्व विकास का सिद्धान्त (Theory of Personality Development)–

फ्रॉयड ने व्यक्तित्व विकास की व्याख्या दो दृष्टिकोणों के आधार पर की–

(1) प्रौढ़ व्यक्तित्व भिन्न–भिन्न तरह की बाल्यकालीन अनुभूतियों द्वारा नियंत्रित होता है।

(2) प्रत्येक बच्चे में जन्म के समय लैंगिक ऊर्जा विद्यमान रहती है, जो विभिन्न मनोलैंगिक विकास की अवस्थाओं से होकर विकसित होती है। फ्रॉयड के इस दृष्टिकोण को मनोलैगिंक विकास का सिद्धान्त कहा जाता है। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत 5 अवस्थाओं का वर्णन किया गया है। एक अवस्था से दूसरी अवस्था में व्यक्तित्व का विकास तनाव के चार मुख्य स्त्रोतों की अनुक्रिया के परिणामस्वरूप होती है। ये हैं–

(i) शारीरिक वृद्धि की प्रक्रिया (Physiological Growth Process)

(ii) कुंठा (Frustration)

(iii) अंतर्द्वन्द्व (Conflicts)

(iv) खतरे (Threats)

इनके आधार पर फ्रॉयड ने व्यक्तित्व विकास की पाँच अवस्थाओं का वर्णन किया है। फ्रॉयड का मानना है कि यौनेच्छा जीवन की मूल प्रवषत्ति है। सभी शारीरिक सुख, चाहें वे किसी कार्य से प्राप्त हो अथवा किसी अवयव से, प्रकषति में वे यौन सम्बन्धी ही होते हैं। यौनेच्छा सिर्फ वयस्कों की प्रवृत्ति नहीं होती है। बच्चों में भी प्रारम्भ से ही यौनेच्छा होती है। इसे फ्रॉयड ने इन्फैनटाइल सैक्सुएलिटी (Infantile sexuality) का नाम दिया। मनोलैंगिक विकास की निम्न अवस्थायें होती हैं–

1. **मुखीय अवस्था (Oral Stage)**– यह मनोलैंगिक विकास की पहली अवस्था है जिसका प्रसार जन्म से एक वर्ष तक होता है। इस समय यौनसुख का अवयव मुँह होता है। इस आधार पर इस अवस्था को दो उपअवस्थाओं में बाँटा गया है–

(i) **चूषण की अवस्था (Sucking stage)** – यह जन्म से कम से कम 8 माह तक होती है। इसके अन्तर्गत शिशुओं द्वारा की जाने वाली मुँह से सम्बन्धित क्रियायें– यथा सूसना, ओठ चाटना, जीभ निकालना व निगलना सम्मिलित हैं। चूषण की क्रिया से शिशु को लैंगिक सुख की अनुभूति होती है। यह अवस्था पूर्णतया इदम् (Id) द्वारा प्रभावित होती हे और सुखवादी सिद्धान्त (Pleasure Theory) पर आधारित होती है। बच्चे को माँ के स्तन से दुग्धपान करने में आनन्द की अनुभूति होती है। ज्यादा जल्दी स्तनपान बंद करने से शिशु के व्यक्तित्व में असमान्यता उत्पन्न हो जाती है।

(ii) **काटने की अवस्था (Biting Stage)**– यह अवस्था 7–8 माह से लेकर एक वर्ष के अंत तक रहती है। इस अवस्था में षिषु को जो कुछ भी मुख में मिलता है उसे काटना है। माँ के स्तन को, ऊँगली को या 'किसी खिलौने को मुँह में पाकर उसे काटता है। इस आयु में शिशुओं को नई आदतें सिखाई जाती हैं। इसे फ्रॉयड ने 'second major traumatic experience' का नाम दिया और बताया कि यहीं से शिशु का अहम् (ego) इदम् (id) से अलग होने लगता है।

फ्रॉयड ने बताया कि मुखीय अवस्था में कम या अधिक मुख–सम्बन्धी क्रियाओं से प्रौढ़ावस्था में दो तरह के व्यक्तित्व का विकास होता है, जिन्हें अनुवर्ती निष्क्रिय व्यक्तित्व (Oral passive personality) तथा अनुवर्ती आक्रामक व्यक्तित्व (Oal aggressive persoanlity) के नाम से जाना जाता है। प्रथम से बच्चों में आशावादी व्यक्तित्व, दूसरों पर विष्वास, निष्क्रियता व परनिर्भरता के गुण पाये जाते हैं और दूसरे से प्रभुत्वशीलता, शोषण, प्रवृत्ति, परपीड़ा देने की प्रवृत्ति पाई जाती है।

2. **गुदीय अवस्था (Anal Stage)**– यह अवस्था एक वर्ष से प्रारम्भ होकर चार वर्ष की समाप्ति तक रहती है। इस अवस्था में कामोत्तेजना का क्षेत्र (Erogeneous Zone) मुख से हट कर गुदा क्षेत्र में आ जाता है। इस अवस्था की भी हो उपअवस्थायें हैं–

(i) गुदा त्याग की अवस्था (Anal Expulsive Stage)– यह अवस्था एक वर्ष से 2 या 2) वर्श की आयु तक होती है। शिशु मलमूत्र विसर्जन में लैगिंक सुख की अनुभूति करता है। अपनी नाराजगी व प्रतिक्रिया व्यक्त करने के लिये बच्चे इन क्रियाओं द्वारा आनन्द की प्राप्ति करते हैं। इस अवस्था में अहम् के विकास के साथ लैंगिकता (sex) की पहचान भी हो जाती है।

(ii) गुदा धारण की अवस्था (Anal Retensive Stage)– इस अवस्था का प्रसार 2–2) वर्ष से 4 वर्ष तक रहता है। इस अवस्था में बच्चे मलमूत्र रोकने में आनन्द की अनुभूति करते हैं। मलमूत्र रोकने में विफलता से बच्चे सामाजिक निन्दा का पात्र बनते हैं।

फ्रॉयड के अनुसार गुदीय अवस्था में अधिक या कम उत्तेजना होने पर दो प्रकार के व्यक्तित्व का विकास होता है, जिन्हें क्रमशः गुदा आक्रामक (Anal Aggressive) तथा गुदा धारणात्मक (Anal Retensive) व्यक्तित्व के नाम से जाना जाता है। गुदा आक्रामक व्यक्तित्व से क्रूरता, विद्वेष, विनाशिता, क्रमहीनता तथा गुदा धारणात्मक व्यक्तित्व से हठ, जिद्दीपन, कंजूसी, क्रमबद्धता तथा समयनिष्ठा आदि विशेषतायें उत्पन्न होती है। गुदा धारणात्मक अवस्था के अनुभवों का शोधन (Sublimation) होने से बालक भविष्य में चित्रकार, मूर्तिकार व दानी आदि बन सकता है।

3. लैंगिक अवस्था (Phallic Stage)– मनोलैंगिक विकास की यह तीसरी अवस्था है, जिसका प्रसार चार वर्ष से सात वर्ष तक होता है। इस अवस्था में कामोत्तेजना का क्षेत्र (Erogenous Zone) गुदा से स्थानान्तरित होकर जननेन्द्रियों (Genital) में केन्द्रित हो जाता है। इससे बच्चों को लैंगिक भेद का ज्ञान होने लगता है। इस अवस्था में बच्चों में एक विशेष मनोग्रंथि का विकास होता है। बालकों में Oedipus (इडिपस) तथा बालिकाओं में Electra (इलेक्ट्रा) मनोग्रंथियों का विकास होता है। इन्हीं ग्रंथियों के कारण बालक माता के प्रति तथा बालिका पिता के प्रति आकर्षित होते हैं। बालक पिता से तथा बालिका माता से घृणा की भावना अचेतन रूप से रखने लगती है। इस अवस्था में बालकों में अपने जननांग को छूने की प्रवृत्ति होती है। बड़े लोग डराने के लिये उसे छूने पर काट देने की धमकी देते हैं। इसे (Castration anxiety) बंध्याकरण का डर कहा जाता है। बालिकाओं में deprivation (वंचना) तथा Penis envy (शिश्न ईर्ष्या) की भावना उत्पन्न होती है। फ्रॉयड के अनुसार इन अवस्था में बच्चों का अहम् (ego) पूर्ण रूप से विकसित हो जाता है। अतः oedipus व electra मनोग्रंथियों का सकारात्मक समाधान नैतिकता उत्पन्न करता है। नकारात्मक समाधान व्यक्तित्व पर दुष्प्रभाव डालता है। फ्रॉयड के अनुसार इस अवस्था पर जो बालक आबद्ध (fixated) हो जाते हैं, उनमें बड़े होकर उतावलापन, शेखी बघारना

तथा उच्चाकांक्षा के गुण विकसित होते है। बालिकाओं में स्थिरीकरण के कारण बड़े होने पर इष्कबाजी, सम्मोहकता, स्वछन्द संभोगिता आदि के षीलगुण विकसित होते हैं।

4. **अव्यक्तावस्था (Latent Stage)**– यह अवस्था सात वर्ष से लेकर 12 वर्ष तक होती है। इस अवस्था में कामोत्तेजना उदात्तीकृत होकर शिक्षा की ओर उन्मुख हो जाती है। काम भावनायें सामाजिक रूप से षान्त अवस्था में होती है। बालक खेल–कूद, लड़ाई–झगड़े में आनन्द प्राप्त करते है। माता–पिता के प्रति प्रेम की भावना सम्मान में परिवर्तित होने लगती हैं। अचेतन रूप से बालक बालिकाओं में यौन–विरोध (sex antagonism) की प्रवृत्ति प्रबल होती है, जिस कारण बालक–बालिकाओं में झगड़ा होता रहता है।

5. **जननेन्द्रिय अवस्था (Genital Stage)**– फ्रॉयड के मनोलैंगिक विकास के सिद्धान्त की यह पाँचवीं व अन्तिम अवस्था है। इसका प्रसार 13 वर्ष से प्रारम्भ होता है और निरन्तर चलता है। इस आयु तक लैंगिक परिपक्वता आ जाती है तथा सांसारिक आकर्षण के प्रति रूचि काफी गहरी व व्यापक हो जाती है। विपरीत लिंग के सदस्यों के प्रति आकर्षण बढ़ जाता है। सन्तानोन्पत्ति की क्षमता का विकास हो जाता है। इस अवस्था के आरम्भ में कामशक्ति अपनी चरम सीमा पर होती है। इस अवस्था तक आते आते किशोरों में नैतिकता का काफी विकास हो चुका होता है, अतः कामशक्ति की संतुष्टि स्वच्छन्द रूप से उन्हें संभव नहीं दिखती है। इस कारण विपरीत यौन के सदस्यों के साथ मित्रता स्थापित करने का प्रयास किया जाता है। सामाजिक बांछनीयता को ध्यान में रखकर वह आनन्दानुभूति का भी प्रयास करता है। इस अवस्था में बालक प्रतिबन्धों को स्वीकार नहीं करता और आत्मनिर्भरता, स्वतंत्रता आदि की प्रवृत्ति विकसित होती है। इस अवस्था के प्रारम्भिक काल में किशोर समलिंगी मित्रों के साथ रहते हैं, पर बाद में विषमलिंगी के साथ मित्रता करना पसन्द करते हैं।

फ्रॉयड ने अपने अनुभवों के आधार पर इन अवस्थाओं से सम्बन्धित कुछ विशेष निष्कर्ष दिये हैं, जो निम्नवत् हैं–

- विकास की विभिन्न अवस्थायें सार्वभौमिक रूप से प्रदर्शित होती है।
- प्रत्येक अवस्था में व्यवहार में उत्तरोत्तर सुधार होता है और विकास के नवीन प्रतिमान प्रदर्शित होते हैं।
- विकासात्मक परिवर्तन अचानक नहीं, क्रमिक रूप से प्रदर्शित होते हैं।
- प्रत्येक व्यक्ति को विकास की सभी अवस्थाओं से गुजरना होता है।
- विकास की परिस्थितियों में अन्तर होने के कारण बच्चों के विकास स्तर

अलग–अलग होते हैं।

5.4.6 फ्रॉयड के मनोविश्लेषण सिद्धान्त का मूल्यांकन–

फ्रॉयड का सिद्धान्त मनोविज्ञान के क्षेत्र में एक मील का पत्थर है। उनकी उपलब्धियों की तुलना डार्विन के आविष्कार से की गई है। पर, उनके सिद्धान्तों की आलोचना भी की गई है। निम्न कारणों से उनकी आलोचना की गई है–

1. उनका सिद्धान्त मनुष्यों को स्वार्थी, सुख प्राप्ति के पीछे दौड़ता हुआ और पशुवत् मानता है, जबकि मनुष्य मानवीय गुणों से सम्पन्न सामाजिक प्राणी है।
2. फ्रॉयड ने प्रायः एक अध्ययन के आधार पर सामान्यीकरण करने का प्रयास किया है।
3. यह जीवन में लिंग की भूमिका पर जरूरत से ज्यादा जोर देता है।
4. फ्रॉयड ने व्यवहार के निर्धारण में अचेतन की भूमिका को ज्यादा महत्व दिया है।
5. यह सिद्धान्त जीवन दिशा के निर्धारण में प्रारम्भिक बाल्यावस्था के अनुभवों की भूमिका को अतिरंजित (exaggerate) करता है।

इन आलोचनाओं का अर्थ यह नहीं है कि फ्रॉयड का कोई योगदान शिक्षा क्षेत्र में नहीं है। फ्रॉयड का शिक्षा क्षेत्र को योगदान निम्नलिखित है–

1. फ्रॉयड के मनोविश्लेषण सिद्धान्त ने व्यवहार के अध्ययन के लिये एक अच्छी विधि प्रस्तुत की है।
2. मानसिक रोगों तथा असामान्य व्यवहार के निदान के लिये उन्होंने एक अच्छा उपचार प्रस्तुत किया है।
3. बाल्यावस्था के अनुभवों को महत्व देकर फ्रॉयड ने बचपन में एक अच्छी शिक्षा व स्वस्थ वातावरण के महत्व को रेखांकित किया है।
4. फ्रॉयड के अचेतन की अवधारणा ने कुसमायोजित व्यवहार के कारणों को समझने में सहायता प्रदान की है।
5. फ्रॉयड ने सर्वप्रथम मानवजीवन में यौन के महत्व को स्पष्ट किया। इसके फलस्वरूप बच्चों को यौन–षिक्षा देने की आवष्यकता अनुभव की गई।
6. फ्रॉयड के मनोविश्लेषण सिद्धान्त ने विद्यालयों में उचित पाठ्यक्रम सहगामी गतिविधियों तथा उचित रूचियों के निर्माण की व्यवस्था पर जोर दिया जिसमें छात्रों की दमित इच्छाओं तथा ऊर्जा की प्रकटीकरण का अवसर मिले।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मनोविश्लेषण ने मनोविज्ञान के क्षेत्र में

क्रान्ति ला दी। आत्मा व मन को त्याग कर मनोविज्ञान चेतना का विज्ञान बन गया और अपने को नये सिरे से परिभषित कर डाला। मानसिक रोगों के उपचार में मनोविज्ञान की उपयोगिता इसी सिद्धान्त का परिणाम है।

बोध प्रश्न

टिप्पणी–(क)– नीचे दिये गये रिक्त स्थान में अपने उत्तर लिखिये।

(ख)– इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर का मिलान कीजिये।

5. व्यक्तित्व का निर्माण फ्रॉयड के अनुसार किन तत्वों से होता है?

....

....

6. फ्रॉयड ने मूलप्रवृत्तियों के लिये किन षब्दों का प्रयोग किया?

....

....

7. व्यक्तित्व विकास की अवस्थाओं के नाम लिखिये।

....

....

5.5 अभ्यास के प्रश्न

1. एरिक्सन के सिद्धान्त की महत्वपूर्ण उपकल्पनाओं पर प्रकाश डालिये।
2. एरिक्सन द्वारा दी गयी विकास की अवस्थाओं की व्याख्या कीजिये।
3. एरिक्सन द्वारा दिये गये विकास की अवस्थाओं में द्वन्द्वों के असंगत अनुकूलन व सांघातिकताओं पर टिप्पणी लिखिये।
4. एरिक्सन के सिद्धान्तों का क्या जीवन में उपयोग किया जा सकता है?
5. फ्रॉयड के मनोविश्लेषणवादी सिद्धान्त की मुख्य विशिष्टतायें बताइये।
6. फ्रॉयड के अनुसार व्यक्तित्व के संरचनात्मक स्वरूप की व्याख्या कीजिए।
7. फ्रॉयड द्वारा दी गई रक्षा–युक्तियों पर टिप्पणी लिखिये।
8. फ्रॉयड द्वारा दी गई व्यक्तित्व विकास की अवस्थाओं का वर्णन कीजिए।
9. फ्रॉयड के सिद्धान्त का मूल्यांकन कीजिए।

5.6 सारांश

प्रस्तुत इकाई में व्यक्तित्व विकास के दो प्रमुख सिद्धान्तों मनोसामाजिक तथा मनोविश्लेषण पर चर्चा की गई है। मनोसामाजिक सिद्धान्त के प्रणेता ऐरिक्सन तथा मनोविश्लेषण के प्रणेता फ्रॉयड है।

एरिक्सन ने अपने सिद्धान्त में सामाजिक कारकों व अनुभूतियों को महत्वपूर्ण माना है। उन्होंने 'प्रकृति' से ज्यादा 'पोषण' को महत्व दिया है। उन्होंने आठ प्रकार के मानसिक संघर्षों का वर्णन किया, जो व्यक्ति के जीवन की निश्चित अवस्थाओं में केन्द्रित होते हैं। प्रत्येक अवस्था में घटित होने का एक निश्चित क्रम होता है, जिसमें जैविक परिपक्वता तथा सामाजिक व ऐतिहासिक बलों की अन्तःक्रिया के फलस्वरूप व्यक्तित्व का विकास होता है। प्रत्येक अवस्था में दो विरोधी भावों के मध्य द्वन्द्व होता है। इनमें एक भाव सकारात्मक तथा दूसरा नकारात्मक होता है। प्रत्येक अवस्था में इस द्वन्द्व का समाधान व्यक्ति को स्वयं करना होता है। इस समाधान के फलस्वरूप व्यक्ति में बुनियादी नैतिकता की मनोसामाजिक शक्ति उत्पन्न होती हैं। सकारात्मक या नकारात्मक– किसी भी भाव की 'अति' व्यक्ति के विकास में अवरोध पैदा करती है। एरिक्सन ने विकास में व्यवहारिक संभावनाओं को ध्यान में रखा है। द्वन्द्व की अवस्थायें अधिव्याप्त हैं सुस्पष्ट विभाजित नहीं है। परिवर्तन सतन् प्रक्रिया के रूप में होता है। उनका मानना था कि विकास की एक अवस्था के अनुभव (अच्छे अथवा बुरे) आगामी विकास को प्रभावित करते है। इस इकाई में एरिक्सन द्वारा प्रयुक्त शब्दावलियों का वर्णन हैं। एरिक्सन का सिद्धान्त शिक्षा क्षेत्र के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

फ्रॉयड एक न्यूरोलॉजिस्ट थे। उन्हें 'मनोविश्लेषण के पितामह' के नाम से जाना जाता है। मनोविश्लेषणवादी सिद्धान्त दो आधारभूत तत्वों पर निर्भर है' (1) मानव का व्यवहार मानसिक कारकों पर निर्भर होता है। (2) व्यक्तित्व के निर्माण में सुख अधिनियम तथा यथार्थता अधिनियम मिलकर काम करते है। फ्रॉयड के अनुसार व्यक्तित्व का निर्माण इदम्, अहम् तथा पराहम् से मिलकर होता है। व्यक्ति के मन को तीन स्तरों पर विश्लेषित किया जा सकता है– चेतन, अवचेतन तथा अचेतन। व्यक्ति के जीवन के प्रथम पाँच वर्षों में अर्जित अनुभव उसके व्यक्तित्व के निर्धारक होते हैं। फ्रॉयड ने जिजीविषा व मुमूर्षा की दो मूल प्रवृत्तियों का वर्णन किया है। अपने यथार्थ के साथ समायोजन करने की दृष्टि से हमारा व्यक्तित्व रक्षा–युक्तियाँ विकसित कर लेना है। ये अचेतन मन द्वारा संचालित होती है तथा तनावों को दूर करने में सहायता करती हैं। इस इकाई में व्यक्तित्व विकास की पाँच अवस्थाओं का वर्णन है, जो इस प्रकार हैं– मुखीय, गुदीय, लैंगिक, अव्यक्तावस्था तथा जननेन्द्रिय अवस्था! फ्रॉयड के सिद्धान्त में कमियाँ हैं पर उनका शिक्षा के क्षेत्र में उपयोग है।

5.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. मनोसामाजिक
2. आठ
3. (Maladaptation (असंगत अनुकूलन) तथा Malignancy (सांघानिकत)
4. एरिक्सन के अनुसार प्रत्येक अवस्था में द्वन्द्व के समाधान के फलस्वरूप व्यक्ति में एक मनोसामाजिक षक्ति उत्पन्न होती है, जिसे बुनियादी नैतिकता कहते हैं।
5. इदम्, अहम्, पराहम्
6. इरॉस (Erros) तथा थेनॉटॉस (Thanatos)
7. * मुखीय अवस्था
   * गुदीय अवस्था
   * लैंगिक अवस्था
   * अव्यक्तावस्था अवस्था
   * जननेन्द्रिय अवस्था

5.8 संदर्भ ग्रन्थ

1. सिंह, आर0एन0 (2015) *आधुनिक विकासात्मक मनोविज्ञान,* अग्रवाल पब्लिकेशन, आगरा।
2. सिंह, आर0पी0, उपाध्याय, जे0 व सिंह आर0 (2009) *विकासात्मक मनोविज्ञान,* मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।
3. माथुर, एस0एस0 (2014), *शिक्षा मनोविज्ञान,* अग्रवाल पब्लिकेशन्स, आगरा।
4. David B-Stevenson (1996) Freud's Psychosexual Stages of Development (on line: Brown University) retrieved 9th July 2015 from http:www.victorianweb.org.
5. Erikson's Psychosocial Development Theory retrieved 9th July 2015 from http:www.businessball. com/self/personaldevelopment.
6. Mangal, S.K. (2007), *Advance Educational Psychology*, Prentice Hall of India Pvt. Ltd. New Delhi.

इकाई 6 – विकास के जैव–पारिस्थितिक (ब्रीफॉनब्रेनर) तथा समग्र सिद्धान्त (स्टाइनर) Bio Ecological Theory (Bronfenbrenner) and Holistic Theory of Development (Steiner)

संरचना

6.1 प्रस्तावना

6.2 उद्देश्य

6.3 ब्रीफ्रॉनब्रेनर का विकास का जैव पारिस्थितिक सिद्धान्त

 6.3.1 सिद्धान्त का मूल प्रारूप

 6.3.2 ब्रीफ्रॉनब्रेनर के सिद्धान्त का विकास

 6.3.3 प्रक्रिया, व्यक्ति, संदर्भ व समय की अवधारणा

 6.3.4 शोधपरक निहितार्थ

6.4 स्टाइनर का समग्र विकास का सिद्धान्त

 6.4.1 स्टाइनर के सिद्धान्त व प्रयोग

  6.4.1.1 विकास की अवस्थायें

  6.4.1.2 पाठ्यक्रम

6.5 अभ्यास के प्रश्न

6.6. सारांश

6.7 बोधप्रश्नों के उत्तर

6.8 संदर्भ –ग्रन्थ

6.1 प्रस्तावना

द्वितीय खण्ड में हमने विकास के सैद्धान्तिक उपागमों के अन्तर्गत अभी तक संज्ञानात्मक व सामाजिक संज्ञानात्मक सिद्धान्तों तथा मनोसामाजिक व मनोविश्लेषण सिद्धान्तों का अध्ययन किया है। इसके अन्तर्गत पियाजे, वाइगोत्स्की, ब्रूनर, बैण्डुरा, एरिक्सन तथा फ्रॉयड के सिद्धान्तो का अध्ययन किया है। इस इकाई में हम ब्रीफ्रॉनब्रेनर के जैव–पारिस्थितिक सिद्धान्त तथा स्टाइनर के समग्र विकास का सिद्धान्त का अध्ययन करेंगे।

ब्रीफॉनब्रेनर ने अपने सिद्धान्त में बालक के विकास में वातावरण के योगदान को अत्यन्त महत्वपूर्ण माना है। उन्होंने बालक के वातावरण के समीपस्थ से लेकर दूरस्थ तक पाँच स्तरों को बालक के व्यक्तित्व के विकास के लिये प्रभावपरक माना है। ब्रीफॉनब्रेनर रूसी मनोवैज्ञानिक वाइगोत्स्की तथा जर्मन मनोवैज्ञानिक लेविन से प्रभावित थे। इस इकाई में हम उनके मौलिक सिद्धान्त, उसका विकास, PPCT की अवधारणा तथा शोध के लिये इसके निहितार्थ पर चर्चा करेंगे।

स्टाइनर ने विकास के समग्र रूप पर जोर दिया। उन्होंने एक ऐसे विद्यालय की कल्पना की, जहाँ बालक अपनी आन्तरिक क्षमताओं का सर्वोत्तम विकास कर सके। उनकी शिक्षा पद्धति में बालक को अपनी पहचान, जीवन का अर्थ व उद्देश्य समुदाय के संदर्भ में प्राप्त करना होता है। उनकी शिक्षा में बालक स्वअनुभवों से कार्य करके सीखता है। कुछ नया करने की उत्सुकता व खुशी विद्यालयी वातावरण में कुंठित नहीं की जाती है। उन्होंने न केवल ऐसे समग्र विकास की कल्पना की, अपितु अपने विद्यालयों, जिन्हें Steiner /Waldorf School कहा जाता है, के माध्यम से जीवन्त भी किया। उनके सिद्धान्तों का व्यावहारिक स्वरूप इन विद्यालयों में देखा जा सकता है।

6.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई का अध्ययन करने के उपरानत आप–

- ब्रीफॉनब्रेनर के जैव पारिस्थितिक सिद्धान्त के प्रारम्भिक स्वरूप का प्रत्यास्मरण कर सकेंगे।
- ब्रीफॉनब्रेनर के मौलिक सिद्धान्त के विकास में विभिन्न मनोवैज्ञानिकों के प्रभावों का उल्लेख कर सकेंगे।
- ब्रीफॉनब्रेनर के पारिस्थितिक तंत्र के PPCT स्तर को विश्लेषित कर सकेंगे।
- ब्रीफॉनब्रेनर के सिद्धान्तों के शोधपरक निहितार्थ लिख सकेंगे।
- स्टाइनर के सिद्धान्त के अन्तर्गत समग्र विकास का अर्थ समझ सकेंगे।
- स्टाइनर की विकास की तीन अवस्थाओं में अन्तर कर सकेंगे।
- वॉलडॉर्फ विद्यालयों के पाठ्यक्रम, मूल्यांकन पद्धति, वातावरण आदि का विवरण दे सकेंगे।

6.3 ब्रीफॉनब्रेनर का विकास का जैव–पारिस्थितिक सिद्धान्त (Bio-Ecological Theory of Development)

मानव विकास में जैव–पारिस्थितिक प्रारूप वंशानुक्रम व वातावरण की अन्तःक्रिया

का सैद्धान्तिक प्रारूप है। यह प्रारूप सर्वप्रथम यूरी ब्रीफॉनब्रेनर (Urie Bronfenbrenner) तथा स्टीफल जे0 सेसी (Sephen J. Ceci) ने 1994 में ब्रीफॉनब्रेनर के मौलिक सिद्धान्त प्रारूप 'पारिस्थितिक तंत्र सिद्धान्त' को विकसित कर प्रस्तुत किया।

ब्रीफॉनब्रेनर का जन्म 29 अप्रैल 1917 में मास्को (रूस) में हुआ था। बचपन में ही वे अपने माता–पिता के साथ अमेरिका चले आये। उन्होंने कॉर्नेल, हार्वार्ड तथा मिशिगन विश्वविद्यालयों में अध्ययन किया। उन्होंने कॉर्नेल विश्वविद्यालय में अध्यापन भी किया। 88 वर्ष की आयु में 25 सितम्बर 2005 को Ithaca (न्यूयॉर्क) में उनका देहान्त हुआ। ब्रीफॉनब्रेनर ने जैव–पारिस्थितिक सिद्धान्त का विकास इस तथ्य को संज्ञान में लेने के बाद किया कि मानव–विकास के सिद्धान्त ज्यादातर वातावरण को महत्व देते है, व्यक्ति को नहीं।

उन्होंने एक ऐसे प्रारूप को प्रस्तुत किया, जो न केवल बच्चों के संदर्भ में अपितु परिपक्वता प्राप्त करते वयस्कों के संदर्भ में भी प्रयोग किया जा सकता है। इस प्रकार यह विकास का एक आजीवन उपागम कहा जा सकता है। इस प्रारूप में व्यक्ति के विकास तथा उसके वातावरण के मध्य परस्पर अंतःक्रिया के महत्व को समझने का प्रयास किया जाता है। यह अंतःक्रिया दोनों को प्रभावित करती है– व्यक्ति को भी तथा उसके वातावरण को भी। इस प्रारूप का दूसरा महत्वपूर्ण पक्ष है विकासात्मक मनोविज्ञान के क्षेत्र में किये जाने वाले षोधों को एक नई विधि से परिचित कराना।

6.3.1 सिद्धान्त का मूल प्रारूप (Original Model of the Theory)–

ब्रीफॉनब्रेनर ने अपने सिद्धान्त के मूल प्रारूप का नाम 'पारिस्थितिक तंत्र सिद्धान्त' रखा था। इस प्रारूप के माध्यम से उन्होंने व्यक्ति के विकास को उसके वातावरण के अन्तर्गत समझने की आवश्यकता पर जोर डाला। वातावरण के सम्बन्ध में उन्होंने चार पारिस्थितिक तंत्रों (ecological systems) को प्रस्तुत किया–

1. **माइक्रोसिस्टम (Microsystem) (सूक्ष्मतंत्र)**– माइक्रोसिस्टम अथवा सूक्ष्मतंत्र ब्रीफॉनब्रेनर के प्रारूप की आंतरिक पर्त है। यह व्यक्ति से सबसे करीब से सम्बन्धित होती है। इसके अन्तर्गत व्यक्ति के अन्तःवैयक्तिक सम्बन्ध तथा वातावरण के साथ प्रत्यक्ष अन्तःक्रिया आती है। इस वातावरण का क्षेत्र बालक के परिवार के व्यक्ति अथवा उसके मित्र तथा विद्यालय का परिवेश होता है। इनके साथ बालक प्रत्यक्ष रूप से अन्तःक्रिया करता है।

2. **मेसोसिस्टम (Mesosystem) (मध्यतंत्र)**– इस पारिस्थतिक तंत्र के अन्तर्गत सूक्ष्मतंत्र के विभिन्न पक्षों के मध्य होने वाली अंतःक्रिया आती है। यथा बालक के परिवार तथा बालक के विद्यालय के मध्य सम्बन्ध मध्यतंत्र के अन्तर्गत आते हैं। ये

दोनों प्रत्यक्ष रूप से अन्तःक्रिया कर सकते हैं जो बालक के व्यवहार को प्रभावित करती है।

3. **एक्सोसिस्टम (Exosystem) (वाह्यतंत्र)**– यह पारिस्थितक तंत्र प्रत्यक्ष रूप से व्यक्तियों को प्रभावित नहीं करता है, अपितु सूक्ष्मतंत्र की संरचनाओं के विभिन्न पक्षों को प्रभावित करता है। यथा, बालक के परिवार में आर्थिक समस्यायें, माता–पिता की नौकरी छूट जाना आदि बालक को प्रभावित करते हैं, पर प्रत्यक्ष रूप से नहीं।

4. **मैक्रोसिस्टम (Macrosystem) (वृहत्तंत्र)**– यह ब्रीफॉनब्रेनर के प्रारूप की सबसे बाहरी पर्त है। इस पारिस्थतिक तंत्र के अन्तर्गत सांस्कृतिक व सामाजिक आदर्श, विश्वास व मान्यतायें आती हैं, जो व्यक्ति के वातावरण को प्रभावित करती हैं। यथा, सांस्कृतिक मान्यतायें या राजनैतिक कानून वृहत्तंत्र का हिस्सा होते हें और व्यक्ति को प्रभावित करते हैं।

ब्रीफॉनब्रेनर ने बताया कि व्यक्ति लगातार इन तंत्रों के साथ अन्तःक्रिया करते रहते हैं। इसके फलस्वरूप व्यक्ति तथा वातावरण लगातार एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। इस मूल प्रारूप को प्रस्तुत करने के बाद ब्रीफॉनब्रेनर ने अनुभव किया कि इसमें अपने स्वयं के विकास में व्यक्ति की भूमिका पर कोई ध्यान नहीं दिया गया है। अतः उसने अपने प्रारूप को विकसित करने का प्रयास किया।

6.3.2 ब्रीफॉनब्रेनर के सिद्धान्त का विकास (Evolution of Bronfenbrenner's Theory)–

ब्रीफॉनब्रेनर ने 1970 के पूरे दशक तथा 1980 के दशक के प्रारम्भ में अपने सिद्धान्त से सम्बन्धित नये विचारों की विवेचना अनेक व्याख्यानों तथा प्रस्तुतियों के माध्यम से मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय के समक्ष की। 1986 में उन्होंने अपने नये सिद्धान्त का प्रकाशन किया और उसे जैव–पारिस्थितिक तंत्र सिद्धान्त (Bio-ecological System Theory) का नाम दिया।

ब्रीफॉनब्रेनर अपने सिद्धान्तों का निर्धारण करने में कई मनोवैज्ञानिकों से प्रभावित हुये। इनमें प्रमुख वाइगोत्स्की, लेविन व स्टीफन जे सेसी थे। वाइगोत्स्की ने बताया कि अधिगम हमेशा सामाजिक संदर्भ में होता है और उससे अलग नहीं किया जा सकता है। साथ ही यह प्रक्रिया बालक के विकास का अभिन्न अंग है। लेविस सामाजिक मनोविज्ञान के संस्थापक माने जाते हैं। उन्होंने सर्वप्रथम उपकल्पनाओं की सत्यता जाँचने के लिये सिद्धान्त व प्रयोग का इस्तेमाल किया। उनके पारिस्थितिक तंत्र प्रारूप ने स्थितिपरक व निकटस्थ कारणों पर जोर दिया। उनका मानना था कि व्यवहार व्यक्ति का वातावरण के साथ अन्तःक्रिया का परिणाम है, जो उसके पूर्व अनुभवों से प्रभावित होती है।

ब्रीफॉनब्रेनर पर सबसे ज्यादा प्रभाव स्टीफन जे0 सेसी (Stephen J. Ceci) का पड़ा, जिसके साथ उन्होंने 1994 में एक लेख लिखा, जिसका नाम था "Nature-Nurture Reconceptualized in Developmental Perspective: A Bioecological Theory" सेसी एक विकासात्मक मनोवैज्ञानिक थे। सेसी ने निकटस्थ प्रक्रियाओं के फलस्वरूप पारिस्थितिक, जैविक व संज्ञानात्मक तत्वों के मध्य साहचर्य के प्रतिमानों का पूर्वानुमान लगाने का प्रयास किया। ब्रीफॉनब्रेनर व सेसी ने मिलकर जैव परिस्थितिक प्रारूप का प्रकाशन किया, जिसने विकासात्मक प्रक्रियाओं के समझने के लिये एक रूपरेखा प्रस्तुत की।

ब्रीफॉनब्रेनर के सिद्धान्त का विकास धीरे–धीरे हुआ। 1979 में उन्होंने 'The Ecology of Human Development' का प्रकाशन किया। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के पीछे यह तथ्य था कि विकास में संदर्भ (Context) को कोई स्थान नहीं दिया जाता था। उनका मानना था कि जिस वातावरण में बालक रहता है तथा अन्तःक्रिया करता है, वह उसके विकास को प्रभावित करता है, पर वातावरण के संदर्भ को कहीं भी संज्ञान में नहीं लिया जाता है। अतः उन्होंने विकास को पारिस्थितिक (वातावरण) संदर्भ में देखने पर जोर दिया। जैसे–एक बालक जब घर पर माँ बाप के साथ रहता है, या किसी नौकरानी अथवा आया के साथ रहता है, अथवा किसी क्रेश (daycare) में रहता है, तो वह अलग–अलग वातावरण में रहता है। इसकी वजह से उसका विकास प्रभावित होता है। ब्रीफॉनब्रेनर के सुझावों को तत्कालीन शोधार्थियों ने संज्ञान में लिया और 1980 के दशक में शोधार्थियों ने वातावरण के संदर्भ (context) को ध्यान में रखा।

पर, इसके परिणामस्वरूप 80 के दशक के मध्य तक अनेक ऐसे शोध हुये जो सिर्फ और सिर्फ 'संदर्भ' पर ध्यान दे रहे थे। इस कारण विकास पक्ष की उपेक्षा होने लगी। अतः ब्रीफॉनब्रेनर ने एक नये प्रारूप का प्रतिपादन किया। इस सिद्धान्त में उन्होंने पारिस्थितिक तंत्र सिद्धान्त के अनेक तत्वों यथा, पारिस्थितिक वैधता तथा पारिस्थितिक प्रयोगों को त्याग दिया। ब्रीफॉनब्रेनर ने स्वयं अपने सिद्धान्त की स्वयं आलोचना की और उसे बराबर विकसित करने का प्रयास करते रहे। उन्होंने मानव विकास के विभिन्न तत्वों का विश्लेषण किया और अपने सिद्धान्त में बदलाव किया।

6.3.3 प्रक्रिया–व्यक्ति–सन्दर्भ–समय की अवधारणा (Concept of Process-Person-Context-Time /PPCT)

ब्रीफॉनब्रेनर ने अपने सिद्धान्त में क्रोनोसिस्टम (समय) की अवधारणा को जोड़ा, जिसका अर्थ है कि कैसे व्यक्ति व वातावरण समय के साथ परिवर्तित होते जाते हैं। उन्होंने प्रक्रियाओं तथा जैव व्यक्ति की भूमिका पर ज्यादा जोर डाला।

PPCT के अन्तर्गत चार अवधारणायें हैं। इनके मध्य अन्तःक्रिया इस जैव पारिस्थितिक सिद्धान्त का आधार है। प्रक्रिया–व्यक्ति–संदर्भ–समय (PPCT) की व्याख्या निम्नलिखित है–

1. **प्रक्रिया (Process)**– ब्रीफॉनब्रेनर ने निकटस्थ प्रक्रियाओं (Proximal processes) को विकास के लिये प्राथमिक प्रक्रिया के रूप में स्वीकार किया है। निकटस्थ प्रक्रियाओं से उनका तात्पर्य व्यक्ति व वातावरण के मध्य नियमित रूप से होने वाली अन्तःक्रिया से है, जो विकास प्रक्रिया का एक भाग है। इस अन्तःक्रिया से हमारा तात्पर्य समूह तथा एकल क्रियाओं से नहीं है। यथा जब बच्चे दूसरे बच्चों के साथ खेलकर अथवा अकेले कोई पुस्तक पढ़ कर अपने संसार के विषय में धारणायें बनाते हैं और उसमें अपना स्थान समझते हैं, तब इसे निकटस्थ प्रक्रिया नहीं कहते हैं। निकटस्थ प्रक्रियायें व्यक्ति तथा संदर्भ पर आधारित होती है और अलग तरह से कार्य करती हैं।

ब्रीफॉनब्रेनर ने निकटस्थ प्रक्रियाओं को जैव पारिस्थितिक प्रारूप में महत्वपूर्ण स्थान दिया और उनका प्रयोग अपने प्रारूप के दो प्रस्तावों में किया–

प्रारूप I– मानव विकास एक क्रियाशील, विकासपरक, मनोजैविक प्राणी मनुष्य तथा निकटस्थ वातावरण के व्यक्तियों, वस्तुओं तथा प्रतीकों के मध्य एक पारस्परिक और प्रगतिशील जटिल अन्तःक्रिया के माध्यम से होता है। इस अन्तःक्रिया को प्रभावी होने के लिये नियमित रूपसे लम्बे समय तक होते रहना चाहिए। ऐसी स्थायी अन्तःक्रिया को निकटस्थ प्रक्रिया कहा जाता है।

प्रारूप II– इन निकटस्थ प्रक्रियाओं के रूप, शक्तियाँ, विषयवस्तु तथा दिशायें नियमित रूप से परिवर्तित होती रहती हैं। निम्न तत्वों के मध्य अन्तःक्रियायें इन्हें सम्मिलित रूप से प्रभावित करती हैं–

1. विकासशील व्यक्ति की विशेषतायें।
2. निकटस्थ तथा दूर का वह वातावरण जिनमें प्रक्रियायें घटित हो रही हैं।
3. विकास के परिणामों की प्रकृति।
4. व्यक्ति के जीवनपथ में घटित होने वाली सामाजिक नियमिततायें व बदलाव तथा
5. इतिहास का वह काल जिसमें व्यक्ति रहा हो।

   इस प्रकार प्रक्रियायें ब्रीफॉनब्रेनर के प्रारूप में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं।

2. **व्यक्ति (Person)**– ब्रीफॉनब्रेनर ने सामाजिक अन्तःक्रिया में व्यक्तियों के व्यक्तिगत

गुणों के प्रभाव को स्वीकार किया है। उन्होंने तीन व्यक्तिगत गुणों को रेखांकित किया, जो व्यक्ति के जीवनपथ में निकटस्थ प्रक्रियाओं को महत्वपूर्ण ढंग से प्रभावित कर सकते हें। ये निम्नवत् हैं–

(i) **माँग सम्बन्धी गुण (Demand Characteristics)**– ये गुण प्रक्रिया को गति प्रदान करते है और 'व्यक्तिगत उद्दीपक' गुणों का कार्य करत हैं। यथा उम्र, लिंग तथा शारीरिक आकृति। एक कम उम्र का सुन्दर व्यक्ति दूसरों पर प्रभाव डालने में जल्दी सक्षम होता है।

(ii) **साधन सम्बन्धी गुण (Resources Characteristics)**–इन गुणों की पहचान तुरन्त संभव नहीं होती है। इनके अन्तर्गत मानसिक तथा सांवेगिक साधन आते हैं। यथा, बुद्धि, पूर्व अनुभव, कौषल, भौतिक साधन– घर, षिक्षा तथा परवाह करने वाले संगी–साथी आदि।

(iii) **आवेग सम्बन्धी गुण (Froce Characteristics)**– इन गुणों का सम्बन्ध अभिप्रेरणा, दृढ़ता तथा प्रकृति में बदलाव से है। ब्रीफॉनब्रेनर ने शोधों में पाया कि जहाँ बच्चों के लिये एक से साधन उपलब्ध है, वहाँ भी उनके विकास की दषा अलग–अलग पाई गयी है। इसका कारण उनके आवेगों में भिन्नता होना है। कुछ बच्चे कठिनाई के समय दृढ़ रहकर सफलता प्राप्त करने का प्रयास करते हैं, कुछ पीछे हट जाते हैं। ब्रीफॉनब्रेनर ने इस तरह के व्यवहार का कारण वातावरण (प्रक्रिया) का व्यक्तिगत गुणों को प्रभावित करना बताया है। पर, उनका मानना है कि व्यक्तिगत गुण भी वातावरण को परिवर्तित करने में सक्षम है।

3. **सन्दर्भ (Context)**– 'संदर्भ' से तात्पर्य यहाँ ब्रीफॉनब्रेनर के मूल प्रारूप पारिस्थितिक तंत्र सिद्धान्त में प्रयुक्त चार सहसम्बन्धित तंत्र –माइक्रोसिस्टम, मेसोसिस्टम, एक्सोसिस्टम, मैक्रोसिस्टम– 'तथा क्रोनोसिस्टम (Chronosystem) से है।

जैसी पहले चर्चा की जा चुकी है, सूक्ष्मतंत्र घर व विद्यालय के वातावरण से सम्बन्धित है। मध्यतंत्र सूक्ष्मतंत्र की इकाइयों के मध्य सम्बन्ध से सम्बन्धित है। वाह्यतंत्र उन घटनाओं का वर्णन करता जो अप्रत्यक्ष रूप से विकास को प्रभावित करती हैं (यथा–अभिभावक का रोज देर रात तक घर लौटना)। वृहततंत्र उन समूहों, जो मूल्यों व विश्वास में भागीदार होते हैं, की विशेषता होता है। क्रोनोसिस्टम या समयतंत्र उन ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन करता है, जो पारिस्थितिक तंत्र के सभी स्तरों को प्रभावित करती है।

चित्र सं0 6.1

ब्रीफॉनब्रेनर का पारिस्थितिक तंत्र सिद्धान्त

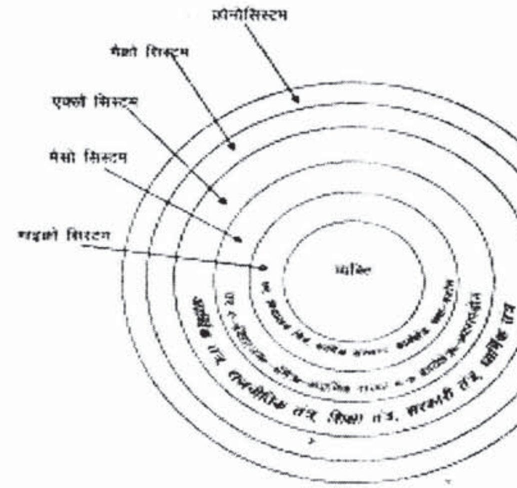

4. **समय (Time)**– इस विकास के प्रारूप में समय का एक महत्वपूर्ण स्थान है। इसमें भी तीन स्तर निर्मित किये गये हैं– Micro, Meso तथा Macro (सूक्ष्म, मध्य तथा वृहत्) सूक्ष्म समय निकटस्थ प्रक्रिया के विशिष्ट प्रसंगों की घटनाओं को इंगित करता है। मध्य समय वह अवधि बताता है जिसमें व्यक्ति के वातावरण में प्रक्रिया घटित होती है। यथा–कितने दिन, हफ्ते अथवा वर्ष। वृहत्–समय अथवा Chronosystem संस्कृति में बदलाव की ओर इंगित करता है। समय का प्रभाव पीढ़ियों के मध्य तथा व्यक्ति के जीवनकाल में निकटस्थ प्रक्रिया में स्पष्ट देखा जा सकता है।

इस प्रकार जैव पारिस्थितिक सिद्धान्त व्यक्ति के विकास को वातावरण के संदर्भ में समझने के महत्व को रेखांकित करता है। यह वातावरण परस्पर एक–दूसरे को प्रभावित करते हैं। इस सिद्धान्त का वास्तविक जीवन में प्रयोग विकासात्मक शोध के क्षेत्र में किया जा रहा है।

6.3.4 ब्रीफॉनब्रेनर का मूल्यांकन (Evaluation of Bronfenbrenner)–

ब्रीफॉनब्रेनर ने मानव विकास के सिद्धान्तों के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने वातावरण के महत्व को नये संदर्भ में परिभाषित किया। वातावरण के आन्तरिक से लेकर वाह्यतम स्तरों तक का प्रभाव व्यक्ति पर कैसे पड़ता है–उन्होंने अपने प्रारूप में स्पष्ट किया।

उनका सबसे महत्वपूर्ण योगदान शोध प्रक्रिया के क्षेत्र में है। इससे पहले विकासात्मक शोध में 'अपरिचित स्थितियों में बच्चों के अपरिचित व्यवहार का अत्यन्त सीमित समय में' अध्ययन किया जाता है। पहली बार ब्रीफॉनब्रेनर ने बताया कि विकासात्मक शोध में बच्चों के व्यवहार का अध्ययन वातावरण के अनेक पारिस्थितिक

तंत्रों के संदर्भ में किया जाना चाहिये, जिससे, कौन सी प्रक्रिया विकास को बढ़ावा देती है और कौन सी अवरूद्ध करती है, यह जानकारी हो सके।

ब्रीफॉनब्रेनर ने शोध की पुरानी विधि, जिसमें प्राक्कल्पना (Hypothesis) की सत्यता की जाँच की जाती है, को बदलने का प्रयास किया। उन्होंने इसके बदले में 'खोज विधि' का प्रयोग करने पर जोर दिया। कौन सी अन्तःक्रिया विकास को प्रोत्साहित करती है और कौन सी अवरूद्ध?– इसके लिये प्राक्कल्पना बना कर उसकी सत्यता जाँचने की जरूरत नहीं है, इसके लिये प्राकृतिक परिस्थितियों में जाकर शोध करना आवश्यक है।

ब्रीफॉनब्रेनर ने इस कार्य के लिये दीर्घकालिक (Longitudinal) शोध की आवश्यकता पर जोर डाला। इस तरह के शोध में PPCT का प्रारूप प्रयुक्त होता है।

इस तरह ब्रीफॉनब्रेनर ने विकासात्मक मनोविज्ञान के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण कार्य किया है।

बोध प्रश्न–

टिप्पणी–(क)– नीचे दिये गये रिक्त स्थान में अपने उत्तर लिखिये।

(ख)– इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर का मिलान कीजिये।

1. ब्रीफॉनब्रेनर के सिद्धान्त के मूल प्रारूप को किस नाम से जाना जाता है?

....

....

....

2. पारिस्थितिक तंत्रों के नाम बताइये।

....

....

....

3. PPCT से आप क्या समझते हैं?

....

....

....

6.4 स्टाइनर का समग्र विकास का सिद्धान्त (Steiner's Theory of Holistic Development)

रूडोल्फ जोसेफ लोरेन्स स्टाइनर का जन्म 25 फरवरी 1861 में ऑस्ट्रिया–हंगरी में हुआ था। वे एक दार्शनिक, समाजसुधारक व शिल्पकार थे। वे आध्यात्म में रूचि रखते थे और उन्होंने एक आध्यात्मिक आन्दोलन का प्रारम्भ किया। उन्होंने आध्यात्म व विज्ञान को एक साथ जोड़ने का प्रयास किया। अपने कार्यकारी जीवन के तृतीय काल में उन्होंने अपने विचारों पर आधारित 'कुछ व्यावहारिक संस्थाओं की स्थापना की, जिसमें वे अपने विचारों को मूर्त रूप से प्रस्तुत कर सके। उन्होंने नैतिक वैयक्तिता पर जोर दिया। उनका विचार था कि मानवीय ज्ञान प्राप्ति की कोई सीमा नहीं है। वे 'थियोसॉफिकल सोसाइटी' से भी कुछ समय के लिये जुड़े। 1918 में जब रूस व जर्मनी क्रांति से जूझ रहे थे और सामाजिक ढाँचा टूटने की कगार पर था, उन्होंने "The Threefold State" (पुस्तक) के माध्यम से भविष्य का मार्ग दिखाया। उनका मानना था कि समाज के सांस्कृतिक क्षेत्र में स्वतंत्रता का विकास किया जाये, राजनीति व कानूनों के क्षेत्र में समानता का व्यवहार हो तथा आर्थिक क्षेत्र में वैश्विक भ्रातृत्व को स्वीकार किया जाये। इस तरह समाज के ढाँचे को बचाया जा सकता है। उनकी मृत्यु 30 मार्च 1925 में स्विट्जरलैण्ड में हुई।

स्टाइनर का शिक्षा के क्षेत्र में सबसे बड़ा योगदान उनके वॉलडॉर्फ विद्यालय (Woldorf Schools) हैं। इन विद्यालयों में उन्होंने बालकों के समग्र विकास की संकल्पना की। स्टाइनर का दर्शन मनुष्यों को एक नश्वर शरीरवाला, एक विकास करती हुई अन्तरात्मा तथा एक शाश्वत जीवात्मा मानता है, जो आध्यात्मिक संसार से आया है और उसे वहीं वापस जाना है। अतः उसके मन, शरीर व आत्मा का विकास किया जाना चाहिये। उनका मानना था कि बच्चों को स्वतंत्र और स्वशासित वयस्क बनने का अवसर दिया जाना चाहिए।

उन्होंने बालक के विकास को तीन अवस्थाओं में बाँटा है और प्रत्येक अवस्था के लिये शिक्षण की भिन्न पद्धति की व्यवस्था की है। उनकी शिक्षा का उद्देश्य उनके शब्दों में–

"Our highest endeavour must be to develop free human beings who are able of themselves to impart purpose & direction to their lives"

"हमारा सर्वोच्च प्रयास ऐसे स्वतंत्र मनुष्यों का विकास होना चाहिए, जो अपने जीवन को उद्देश्य व दिशा देने में स्वयं सक्षम हों।" (स्टाइनर)

विकास की प्रत्येक अवस्था करीब 7 साल तक चलती है। उनके शिक्षण का उद्देश्य प्रत्येक व्यक्ति के शारीरिक, व्यवहारिक, संवेगात्मक, संज्ञानात्मक, सामाजिक व

आध्यात्मिक पक्ष को जाग्रत करना है। यह सर्जनात्मक तथा विश्लेषणात्मक चिन्तन का पोषण करने का प्रयास करता है। इस प्रकार बालक का समग्र विकास शिक्षा का उद्देश्य है।

6.4.1 विकास की अवस्थायें (Stages of Development)– स्टाइनर ने विकास की अवस्थाओं के अनुसार बालकों के षिक्षण की व्यवस्था की है।

1. **प्रीस्कूल तथा किन्डरगार्टन– जन्म से 6–7 वर्ष तक (Pre School and Kindergarten- Birth to 6/7 years)–** वाल्डॉर्फ विद्यालयों में इस अवस्था में छात्रों को वातावरण के साथ स्वक्रिया द्वारा सीखने पर जोर दिया जाता है। बालक इस वातावरण में प्रायोगिक कार्यों की नकल करके सीखते हैं। सीखने में वे सचेतन नहीं रहते । बच्चे काल्पनिक खेलों के माध्यम से, उदाहरण द्वारा सीखते हैं। यह अधिगम अनुभव द्वारा होता है। शिक्षा के पाठ्यक्रम का उद्देश्य है बालक में इस भावना का संचार कि 'दुनिया अच्छी है।'

वाल्डार्फ के प्रीस्कूल में एक नियमित दैनिक–चर्या का पालन होता है, जो रोजमर्रा, साप्ताहिक मासिक व मौसम के अनुसार लयबद्ध होता है। बाहर खेलने का समय भी इस दिनचर्या का अंग होता है। कक्षाकक्ष घर की तरह होते हैं, जिनमें साध ारण व प्राकृतिक वस्तुओं को स्थान दिया जाता है। खेल–खिलौने जिनका प्रयोग किया जाता है। प्राकृतिक पदार्थों से निर्मित होते हैं और बच्चे की कल्पना को बढ़ाने में सहयक होते है। इन विद्यालयों में मौसम के अनुसार उत्सव मनाये जाते हैं, जिससे बच्चों को उनका ज्ञान हो सके। इन विद्यालयों में ज्यादातर किन्डरगार्टेन व छोटी कक्षाओं में TV तथा Computer का प्रयोग नहीं किया जाता है। इसके अनेक कारण हैं– (1) बच्चों के विकास की जरूरतों में ये बाधा डालते हैं। (2) इनके प्रयोग से बच्चों की क्रियाशीलता कम होती है। (3) इनकी विषयवस्तु बच्चों के कल्पना का प्रयोग करने से रोकती है। इस अवस्था में बच्चों को पढ़ना, लिखना तथा अन्य औपचारिक शिक्षा के विषयों से दूर रखा जाता है। स्टाइनर का मानना था कि बहुत कम उम्र से छात्रों को बौद्धिक क्रियाओं में संलग्न करने से उनकी वृद्धि व विकास कुंठित होता है।

2. **बुनियादी शिक्षाः 6/7 से 14 वर्ष (Elementary Education: 6/7 to 14)–** बुनियादी शिक्षा 7 से 14 वर्ष की आयु के बालकों के लिये हैं। इस समय बच्चों के संवेगात्मक विकास तथा कल्पनाशक्ति के विकास पर जोर दिया जाता है। इस अवस्था में बालकों को विषयवस्तु के साथ सम्बद्ध करने के लिये कलात्मक कार्य, कहानी–कथन, दृष्य–कला, नाटक, गीतपरक कार्य, गायन व वादन आदि विधियों का प्रयोग किया जाता है।

मूल पाठ्यक्रम में भाषा, कला, पौराणिक कथायें, इतिहास, भूगोल, भू–विज्ञान,

अलजेब्रा, ज्यमिति, जीवविज्ञान, भौतिक विज्ञान, रसायन–विज्ञान, खगोल विज्ञान तथा पोशाहार विज्ञान आदि पढ़ाये जाते है। कक्षा का प्रारम्भ गाने बजाने, कविता आदि से शुरू होता है। उसके बाद 1.30 से 2 घंटे तक किसी एक विचार पर संज्ञानात्मक विकास की दृष्टि से पाठ का शिक्षण होता है। एक विचार पर करीब एक माह तक विचार–विमर्श होता है। इस अवस्था में शिक्षक एक आदर्श प्रतीक की भाँति होता है, जिसका छात्र अनुकरण कर सके। इस अवधि में शिक्षक छात्र के साथ आधिकारिक नहीं, प्रेमपृ सम्बन्ध बनाते है। इस काल में पुस्तकों का कम प्रयोग होता है। इस अवस्था का उद्देश्य है छात्रों में इस भावना का विकास करना कि 'संसार सुन्दर है।' बुनियादी शिक्षा छात्र अपनी गति से प्राप्त करता है। उस पर कुछ थोपा नहीं जाता है। यह माना जाता है कि जब वह तैयार होगा तो सिद्धान्त को भी ग्रहण कर लेगा तथा कौशल की प्राप्ति भी कर लेगा। इस स्तर पर छात्रों में प्रतिस्पर्धा के स्थान पर सहयोग पर बल दिया जाता है। खेलों में भी प्रतिस्पर्धा इस स्तर पर नहीं आयोजित की जाती है। अक्षरों का ज्ञान चि त्र में दिये गये आकार के माध्यम से कराया जाता है।

प्रत्येक कक्षा एक परिवार की तरह सामाजिक समूह के रूप में रहती है। जिस सभी सदस्य एक–दूसरे को गहराई से जानते हैं। मुख्य विषयों का शिक्षण कक्षा प्रभारी शिक्षक करता है। उसका प्रमुख कार्य एक आदर्श प्रतीक का रूप धारण करना है, जिसका छात्र अनुकरण कर सकें। कई वर्षों तक ये शिक्षक इन्हीं छात्रों साथ सम्बद्ध रहते हैं।

प्रारम्भ में एक प्रभारी शिक्षक 8 वर्षों तक छात्रों के साथ रहता था पर अब इसमें परिवर्तन हुआ है। अब विभिन्न विषयों के लिये विभिन्न विशेषज्ञ शिक्षकों को रखा जाता है। इस आयु में छात्रों को स्वतंत्र विचार तथा वर्णनात्मक चर्चा करने के मौके व सुविध ाायें उपलब्ध कराई जानी चाहिए।

स्टाइनर का मानना था कि छात्रों के संज्ञानात्मक संवेगात्मक व व्यवहार सम्बंध ी विचकास आपस में सहसम्बद्ध होते हैं। बाल्डॉर्फ विद्यालयें में छात्रों को विभिन्न सम् में शैक्षिक योग्यताओं के आधार पर नहीं बाँटा जाता है। उन्हें उनकी प्रकृति (Temperame के आधार पर बाँटा जाता है। उन्होंने बुनियादी शिक्षा में निम्न चार प्रकृति वाले छात्र को उनकी भिन्न आवश्यकताओं के अनुसार अलग–अलग तरह से शिक्षण करने प्रावधान किया–

- अवसादपूर्ण (Melancholie)
- आशावादी (Sanguino)
- निरूत्साही (Phlegmatic)

2 क्रोधी (Choleric)

कक्षा में छात्रों को उनकी प्रकृति के अनुसार बैठने तथा क्रियाओं में भाग लेने का अवसर दिया जाता है पर, यह ऊपर से दिखता नहीं है। स्टाइनर का मानना था कि शिक्षकों को भी अपनी प्रकृति का ज्ञान होना चाहिए ओर उन्हें कक्षा में सकारात्मक ढंग से काम करने को प्रस्तुत रहना चाहिये। अक्सर छात्रों में दो तरह की प्रकृति का मिश्रण पाया जाता है। अतः शिक्षकों को इसका भी ध्यान रखना चाहिए।

3. **माध्यमिक शिक्षा (14 वर्ष से ऊपर)**– इस स्तर पर प्रत्येक विषय के विशेषज्ञ शिक्षक अध्यापन करते हैं। इस स्तर पर अकादमिक विषय ज्यादा महत्वपूर्ण होते हैं। पर छात्र इसके साथ कला, संगीत व हस्तकला आदि का भी अध्ययन करते है। इस स्तर का पाठ्यक्रम छात्रों के बौद्धिक अवबोध, स्वतंत्र निर्णय, नैतिक आदर्श (जैसे सामाजिक दायित्व आदि), अमूर्त चिन्तन व सैद्धान्तिक निर्णय की क्षमताओं का पोषण करने का प्रयास करता है।

इस स्तर पर छात्रों को स्वचिन्तन व स्वनिर्णय से अधिगम करना पड़ता है। इस स्तर के शिक्षण का उद्देश्य है छात्रों में इस भावना का संचार कि 'संसार वास्तविक है।' इस स्तर के शिक्षण का दूरगामी उद्देश्य है, छात्रों को एक ऐसा आधार देना, जिससे वे एक स्वतंत्र, नैतिक दायित्वों से युक्त, सत्यनिष्ठ व्यक्ति के रूप में विकसित हो सकें। स्टाइनर की शिक्षण पद्धति में छात्रों का मूल्यांकन उनके शैक्षणिक व व्यक्तिगत विकास के संदर्भ में किया जाता है। परीक्षायें सिर्फ कॉलेज में प्रवेश के समय ली जाती है। छात्रों को जब तक वे 14–15 वर्ष के नहीं हो जाते, कोई ग्रेड (जैसे A,B,C) नहीं दिया जाता है। इसका कारण है कि शिक्षा सिर्फ अकादमिक विषयों में विशेषज्ञता तक सीमित नहीं है, यह छात्र के समग्र विकास का आकलन है और समग्र विकास का आंकलन 'ग्रेड' में संभव नहीं है। छात्रों को बुनियादी अथवा माध्यमिक शिक्षा में साधारणतया फेल नहीं किया जाता है।

6.4.2 पाठ्यक्रम (Curriculum)–विद्यालयों के पाठ्यक्रम चक्रीय पाठ्यक्रम होते हैं। इनमें बहुआयामी बुद्धि की अवधारणा सम्मिलित है। 12 वर्ष के पाठ्यक्रम में छात्र भिन्न–भिन्न ललित कलायें तथा व्यवहारिक कलायें सीखते हैं। बुनियादी शिक्षा के स्तर पर छात्र, चित्रकारी करना, रेखाचित्र बनाना, मूर्ति–शिल्प, बुनाई, क्रोशिया आदि सीखते है। इन अनुभवों के बाद वे सिलाई, काष्ठ व पत्थर शिल्प, धातु–कार्य, किताबों की जिल्द बनाना, गुड़िया बनाना आदि सीखते हैं। इन हस्तशिल्पों के अलावा छात्र

वाद्ययंत्र बजाना, गायन कला आदि सीखते हैं।

इन विद्यालयों में कुछ विषय विशिष्ट हैं– Eurythmy(यूरिद्मी), पाककला, खेती, वातावरण सम्बन्धी तथा वाह्य शिक्षा (Outdoor Education)। यूरिद्मी एक प्रकार की नृत्यनाटिका का स्वरूप है, जो छात्रों को एकीकरण व सामंजस्य भावना का अनुभव कराता है। इन विद्यालयों में प्रतिस्पर्धा विहीन खेलों का आयोजन होता है। इसके अलावा दो विदेशी भाषाओं का ज्ञान दिया जाता है। विज्ञान के अध्ययन में छात्रों को पाठ्यपुस्तक के माध्यम से ज्ञान देने के बजाय वैज्ञानिक सिद्धान्तों को देखकर अपने शब्दों व रेखाचित्रों में व्यक्त करने का अवसर दिया जाता है। इस तरह खोज आधारित अधिगम पर जोर दिया जाता है।

स्टाइनर मानवीय अन्तःक्रिया को बच्चों के अधिगम व विकास का आधार मानते थे, अतः इन विद्यालयों में किशोरावस्था के पूर्व सूचना प्रौद्योगिकी का प्रयोग नहीं किया जाता है। आश्चर्य की बात तो यह है कि इन विद्यालयों में सूचना प्रौद्योगिकी क्षेत्र के अनेक महत्वपूर्ण व्यक्तियों के बच्चे इसी कारण से पढ़ते हैं।

स्टाइनर की शिक्षा योजना में आध्यात्मिकता का पुट पूरे पाठ्यक्रम में है। किसी विशेष धार्मिक संगठन या भावना का पक्ष न लेते हुये विभिन्न धर्मों के आदर्श प्रतीकों का प्रयोग छात्रों की कल्पना तथा नैतिकता को उभारने के लिये किया गया है। शिक्षा एक ऐसी क्रिया है, जो व्यक्ति के दैविक सम्बन्ध को पोषित करती है और इस अर्थ में शिक्षा धार्मिक क्रिया है। पर, यह धर्म अध्यात्म के संदर्भ में हैं। किसी धार्मिक सम्प्रदाय के संदर्भ में नहीं है। इन विद्यालयों का उद्देश्य सामाजिक पुननिर्माण है, जिससे छात्रों में सामाजिक दायित्व की भावना का विकास हो। शोधों में यह पाया गया है कि वॉलडोर्फ विद्यालयों के छात्र सामाजिक व नैतिक प्रश्नों से सम्बद्ध होते हैं और उनमें अन्य विद्यालयों के छात्रों से ज्यादा सकारात्मक प्रवृत्ति पाई जाती है। वे ज्यादा क्रियाशील व आत्मविश्वासी और अपने भविष्य के निर्माण में सक्षम पाये गये।

इस प्रकार स्टाइनर ने छात्र के समग्र–बौद्धिक, व्यावहारिक तथा कलात्मक –विकास की न केवल कल्पना की अपितु उसे व्यवहार में प्रस्तुत करने के लिये वॉलडॉर्फ विद्यालयों की स्थापना की।

बोध प्रश्न–

टिप्पणी–(क)– नीचे दिये गये रिक्त स्थान में अपने उत्तर लिखिये।

(ख)– इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर का मिलान कीजिये।

4. स्टाइनर ने किन विद्यालयों की स्थापना की?

....

....

5. स्टाइनर ने विकास की कितनी अवस्थायें व आयु काल माना है?

....

....

6. स्टाइनर ने किन प्रकषति वाले छात्रों का वर्णन किया है?

....

....

6.5 अभ्यास के प्रश्न

1. ब्रीफॉनब्रेनर के जैव–पारिस्थितिक सिद्धान्त का वर्णन कीजिये।
2. ब्रीफॉनब्रेनर के प्रमुख पारिस्थितिक तंत्रों पर टिप्पणी लिखिये।
3. ब्रीफॉनब्रेनर का शोध प्रक्रिया के क्षेत्र में क्या योगदान है?
4. स्टाइनर के अनुसार विकास की अवस्थाओं का वर्णन कीजिये।
5. वॉलडॉर्फ विद्यालयों के पाठ्यक्रम पर प्रकाश डालें।

6.6 सारांश

प्रस्तुत इकाई में ब्रीफॉनब्रेनर के विकास के जैव–पारिस्थितिक सिद्धान्त तथा स्टाइनर के समग्र विकास के सिद्धान्त पर चर्चा की गई है।

ब्रीफॉनब्रेनर ने जैव पारिस्थितिक सिद्धान्त में वातावरण व व्यक्ति–दोनों को समान महत्व देते हुये उनकी अन्तःक्रिया द्वारा विकास को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। उन्होंने PPCT की संकल्पना के माध्यम से विकास का ढॉचा प्रस्तुत किया है। प्रक्रिया (Process) के सन्दर्भ में निकटस्थ प्रक्रिया महत्वपूर्ण है। व्यक्ति (Person) के सन्दर्भ में उसके तीन गुणों– मांग, साधन व आवेग सम्बन्धी– को रेखांकित किया जो निकटस्थ प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं। सन्दर्भ (Context) में पाँच

पारिस्थितिक तंत्र आते हैं सूक्ष्मतंत्र, मध्यतंत्र, वाह्यतंत्र व वृहत्तंत्र तथा समयतंत्र। समय के अन्तर्गत भी तीन स्तर हैं– सूक्ष्म, मध्य तथा वृहत्।

स्टाइनर ने समग्र विकास की कल्पना मन, शरीर व आत्मा के विकास के संदर्भ में की है। शिक्षा के क्षेत्र में उनका सबसे महत्वपूर्ण योगदान वॉलडॉर्फ विद्यालयों की स्थापना है। उन्होंने बालक के विकास को तीन अवस्थाओं में बांटा है– (1) प्रीस्कूल व किन्डरगार्टन (2) बुनियादी शिक्षा, तथा (3) माध्यमिक शिक्षा। उनके पाठ्यक्रम में बौद्धिक, कलात्मक व नैतिक विकास का प्रावधान है।

6.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. पारिस्थितिक तंत्र सिद्धान्त
2. माइक्रोसिस्टम, मेसोसिस्टम, एक्सोसिस्टम, मैक्रोसिस्टम, क्रोनोस्टिम
3. Process person Context व Time (प्रक्रिया, व्यक्ति, संदर्भ व समय)
4. वॉलडॉर्फ
5. तीन –(1) जन्म से 6/7 वर्ष तक
   (2) 7 से 14 वर्ष तक
   (3) 14 वर्ष से ऊपर
6. चार–अवसादपूर्ण, आशावादी, निरूत्साही, क्रोधी

6.8 संदर्भ ग्रन्थ

1. Heiner Ullrich, (2000) Rudoff Steiner retrieved 4th Aug. 2015 from http://www.ibe.unesco.org/publications/thinkers pdf/ steinere. pdf.
2. Waldorf education retrieved 4th Aug. 2015 from en.m. wikipedia.org.

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

B.Ed.SE-01
मानव वृद्धि एवं विकास

खण्ड

3

प्रारम्भिक वर्ष (जन्म से 8 वर्ष तक)

इकाई -7 5

जन्मपूर्व गर्भकालीन तथा नवजात शिशु विकास

इकाई -8 23

विकास में मील के पत्थर

इकाई -9 57

पूर्व बाल्यावस्था को प्रभावित करने वाले वातावरण के कारक

संरक्षक एवं मार्गदर्शक

प्रो0 एम0 पी0 दुबे	कुलपति, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

विशेषज्ञ समिति

प्रो0 एस0पी0 गुप्ता	पूर्व निदेशक, शिक्षा विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
प्रो0 के0एस0मिश्रा	आचार्य, शिक्षा शास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
प्रो0 अखिलेश चौबे	पूर्व आचार्य, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ
प्रो0 विद्या अग्रवाल	आचार्य, शिक्षा शास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
प्रो0 प्रतिभा उपाध्याय	आचार्य, शिक्षा शास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

लेखक

डा0 उमा टण्डन	एसोसियएट प्रोफेसर, डी0बी0एस0 कालेज, कानपुर (इकाई-1 से 9)
डा0 अर्पिता सिंह	असि. प्रोफेसर, एच.एन.मिश्रा कालेज आफ एजूकेशन, कानपुर (इकाई- 10,11,12)
डा0 सुधांशु सिन्हा	असि. प्रोफेसर, टी.डी. कालेज, जौनपुर (इकाई- 13,14,15)

सम्पादक

प्रो0 सुजाता रघुवंश	आचार्य, शिक्षा शास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद

परिमापक

प्रो0प्रदीप कुमार पाण्डेय	प्रभारी निदेशक, शिक्षा विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

समन्वयक

डॉ0 रंजना श्रीवास्तव	प्रवक्ता, शिक्षा विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

प्रकाशक

डॉ० जी० एस० शुक्ल	कुलसचिव, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

ISBN-UP-978-93-83328-03-1

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठ्यसामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

नोट : पाठ्य सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आकड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय उत्तरदायी नहीं है।

प्रकाशन -उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

प्रकाशक ; कुलसचिव, उ.प्र. राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

मुद्रक : चन्द्रकला युनिवर्सल प्रा. लि., 42/7 जवाहर लाल नेहरू रोड, प्रयागराज 211002

B.Ed.SE-01 : मानव वृद्धि एवं विकास

खण्ड–एक मानव विकास के उपागम

इकाई–1 वृद्धि व विकास की अवधारणाएँ व सिद्धान्त

इकाई–2 मानव विकास की अवस्थाएँ

इकाई–3 विकास के आयाम

खण्ड–दो विकास के सैद्धान्तिक उपागम

इकाई–4 संज्ञानात्मक व सामाजिक–संज्ञानात्मक सिद्धान्त

इकाई–5 मनोसामाजिक सिद्धान्त (एरिक्सन) तथा मनोविश्लेषण सिद्धान्त (फ्रॉयड)

इकाई–6 विकास के जैव–पारिस्थितिक (ब्रीफॉनब्रेनर)तथा समग्र सिद्धान्त (स्टाइनर)

खण्ड–तीन प्रारम्भिक वर्ष (जन्म से 8 वर्ष तक)

इकाई–7 जन्मपूर्व गर्भकालीन तथा नवजात शिशु विकास

इकाई–8 विकास में मील के पत्थर

इकाई–9 पूर्व बाल्यावस्था को प्रभावित करने वाले वातावरण के कारक

खण्ड–चार मध्य बाल्यावस्था से किशोरावस्था (9 वर्ष से 18 वर्ष)

इकाई–10 शारीरिक, सामाजिक, संवेगात्मक, संज्ञानात्मक,सृजनात्मक व नैतिक पक्षों से सम्बन्धित उदीयमान योग्यतायें

इकाई–11 तरुण अवस्था, लिंग एवं विकास से सम्बन्धित समस्यायें

इकाई–12 विकसित होते हुए बालक पर वातावरण (सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक) का प्रभाव

खण्ड–पॉच प्रौढ़ावस्था का संक्रमणकाल

इकाई–13 मनोवैज्ञानिक कुशलता, आत्म–पहचान का निर्माण एवं स्वप्रत्यय

इकाई–14 प्रौढ़ावस्था का संक्रमणकाल–भूमिका एवं उत्तरदायित्व

इकाई–15 जीवन कौशल और वृत्ति चयन

खण्ड – 3 प्रारम्भिक वर्ष (जन्म से 8 वर्ष तक)

खण्ड परिचय

इस खण्ड में तीन इकाई हैं – 1. जन्म पूर्व तथा नवजात शिशु विकास, 2. विकास में मील के पत्थर तथा 3. पूर्व बाल्यावस्था को प्रभावित करने वाले वातावरण के कारक ।

सातवीं इकाई में गर्भकालीन विकास की तीन अवस्थाओं – डिम्बावस्था, भ्रूणावस्था तथा गर्भस्थ शिशु की अवस्थाओं को वर्णन किया गया है। इस अवस्था में गर्भकालीन विकास के निर्धारक हैं – पोषक तत्व, गर्भकालीन बीमारियाँ, मादक द्रव्यों का प्रभाव, गर्भकालीन मानसिक दशायें, माता–पिता की आयु का प्रभाव। नवजात शिशु की अवधि जन्म से दो सप्ताह तक रहती है। उसकी विशेषताओं शारीरिक विकास, क्रियायें, क्रन्दन, संवेदनशीलता व संवेगों की चर्चा इस इकाई में की गई है।

आठवीं इकाई विकास के मील के पत्थर से सम्बन्धित हैं । जन्म के उपरान्त कौशल व क्षमताओं के अर्जन को Milestone अथवा महत्वपूर्ण घटनायें कहा जाता है। कौशलों का अर्जन एक निश्चित समयावधि में किया जाना चाहिए। इस इकाई में जन्म से लेकर पूर्व बाल्यावस्था की आयु तक शारीरिक, गतिपरक, संज्ञानात्मक भाषाई तथा सामाजिक व सांवेगिक क्षेत्र में होने वाले विकास सम्बन्धी Milestone का विवरण दिया गया है।

नवीं इकाई में पूर्व बाल्यावस्था को प्रभावित करने वाले वातावरण के कारकों से सम्बन्धित है। वातावरण दो प्रकार के होते हैं। आन्तरिक व वाह्य। आन्तरिक वातावरण गर्भ का वातावरण है, जो वृद्धि को प्रभावित करता है। वाह्य वातावरण के अन्तर्गत चार वातावरण, विकास को प्रभावित करते हैं – घर का, पास–पड़ोस, विद्यालय तथा समाज का। इन सभी में अनेक कारक यथा–आवास, माता पिता की आय, शिक्षा, शिशु पालन की विधि, खेलने के स्थान की उपलब्धता, शिक्षक की प्रवृत्ति, मित्र समूह समाज का बंद अथवा खुला वातावरण बालक के विकास को प्रभावित करते हैं। इन सभी कारकों की सम्मिलित अन्तःक्रिया बालक के विकास को निर्धारित करती है।

इकाई–7 जन्मपूर्व गर्भकालीन तथा नवजात शिशु विकास (Prenatal Birth and Neonatal Development)

संरचना

7.1 प्रस्तावना

7.2 उद्देश्य

7.3 गर्भकालीन विकास

7.3.1 डिम्बावस्था

7.3.2 भ्रूणावस्था

7.3.3 गर्भस्थ शिशु की अवस्था

7.3.4 असामान्य विकास पर प्रभाव डालने वाले तत्व

7.3.5 गर्भकालीन शारीरिक विकास के निर्धारण

7.4 नवजात शिशु की विशेषतायें

7.4.1 नवजात शिशु का शारीरिक विकास

7.4.2 नवजात शिशु की क्रियायें

7.4.3 नवजात शिशु का क्रन्दन

7.4.4 नवजात शिशु की संवेदनशीलता

7.4.5 नवजात शिशु के संवेग

7.5 अभ्यास के प्रश्न

7.6 सारांश

7.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

7.8 संदर्भ ग्रन्थ

7.1 प्रस्तावना

मानव जीवन के लिये जन्मपूर्वकाल अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। मानव जीवन का प्रारम्भ शुक्राणु के साथ अण्ड निषेचित होने से होता है। निषेचित अण्ड सर्वप्रथम दो कोषों में विभाजित होता है, जिसमें से प्रत्येक कोष पुनः दो–दो कोषों में विभाजित हो जाता है। पुनः नये कोष दो कोषों में विभाजित हो जाते है। यह प्रक्रिया अत्यन्त

तीव्र गति से चलती है। इस प्रकार के बने कोषों से कुछ कोष प्रजनन कोष (Germ cell) बन जाते हैं, जबकि अन्य शरीर कोष (Body cells) बन जाते हैं। शरीर कोषों से ही मॉसपेशियाँ, स्नायुओं तथा शरीर के अन्य अंगों का निर्माण होता है। निषेचन से जन्म तक के समय को जन्मपूर्व या गर्भकाल (Pre-Natal Period) कहते है।

जन्म के पश्चात् 15 दिन तक के काल को नवजात–शिशु काल (Neo-Natal Period) कहते है। प्रस्तुत इकाई में जन्मपूर्व विकास की विभिन्न अवस्थाओं, गर्भकालीन विकास को प्रभावित करने वाले तत्वों आदि पर हम चर्चा करेंगे। नवजात शिशु की विभिन्न विशेषताओं, शारीरिक विकास, क्रियायें, क्रन्दन, संवेदनशीलता, संवेग, वैयक्तिता आदि पर भी इस इकाई में हम चर्चा करेंगे।

7.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप–

- गर्भकालीन विकास की विभिन्न अवस्थाओं की व्याख्या कर सकेंगे।
- डिम्बावस्था, भ्रूणावस्था के महत्व को रेखांकित कर सकेंगे।
- गर्भावस्था में असामान्य विकास पर प्रभाव डालने वाले तत्वों को सूची बना सकेंगे।
- गर्भकालीन शारीरिक विकास के निर्धारकों को पहचान सकेंगे।
- नवजात शिशु के शारीरिक विकास की विशेषताओं का प्रत्यास्मरण कर सकेंगे।
- नवजात शिशु की सामान्य व विशिष्ट क्रियाओं का उल्लेख कर सकेंगे।
- नवजात शिशु की संवेदनशीलता का अनुमान लगा सकेंगे।
- नवजात शिशु में प्रमुख संवेगों के नाम बता सकेंगे।
- नवजात शिशु की विशिष्टताओं को लिख सकेंगे।

7.3. गर्भकालीन विकास (Pre Natal Development)

मानव जीवन गर्भाधान प्रक्रिया के परिणामस्वरूप गर्भ में जीव के विकास से प्रारम्भ होता है। जन्मपूर्व गर्भकालीन विकास का काल 10 चन्द्रमास/9 कैलेण्डरमास/40 सप्ताह अथवा 280 दिन का होता है। परन्तु इस अवधि में कुछ अन्तर भी हो सकता है। 180 से 334 दिन तक का जन्मपूर्व गर्भकाल होने का उदाहरण उपलब्ध है। जन्मपूर्व काल के 280 दिनों में निषेचित अण्ड (Fertilised egg) का आकार लगभग 50 हजार

गुना हो जाता है। इसका भार एक ग्राम के पाँच हजारवें भाग के बढ़कर लगभग 3 किग्रा0 हो जाता है, अर्थात् जन्म के समय इसका भार लगभग दस अरब गुना हो जाता है। यह विकास की तीव्र गति का द्योतक है। यह विकास व्यस्थित व पूर्वानुमानगम्य भी होता है। इस अवधि के विकास को तीन अवस्थाओं में बाँटा जाता है–

- डिम्बावस्था / बीजावस्था (Ovum/Germinal Stage)
- भ्रूणावस्था / पिण्डावस्था (Embryonic Stage)
- गर्भस्थ शिशु की अवस्था (Fetus Stage)

7.3.1 डिम्बावस्था (Ovum Stage)

गर्भाधान के बाद जो डिम्ब बनता है, उसे अण्डाणु या डिम्बाणु कहते हैं। नवजीवन का यह प्रारम्भ होता है। गर्भाधानके समय 23 जोड़े (Pair) गुणसूत्रों (chromosomes) का संवाहन नवीन जीव में होता है। डिम्बावस्था गर्भावस्था से दो सप्ताह के अंत तक रहती है। 23 जोड़े गुणसूत्रों में 50,000 से 120,000 के बीच जीन्स पाये जाते हैं। इन्हीं के द्वारा जीव की विभिन्न शारीरिक व मानसिक विशेषताओं का निर्धारण होता है। यद्यपि कोशिका विभाजन शीघ्र ही प्रारम्भ हो जाता है, परन्तु व्यवहारिक दृष्टि से अण्डाणु का आकार अपरिवर्तित लगता है, क्योंकि इसे किसी स्त्रोत से पोषक तत्व नहीं मिलता है लगभग 7–8 दिन तक डिम्बाणु गर्भाशय में ही तैरता रहता है और दसवें दिन के आसपास वह गर्भाशय की दीवार से चिपक जाता है। निषेचित अंड अपने स्पर्श अंगों (Feeler) को गर्भाशय की दीवार में चुभोकर गर्भाशय की सतह की रक्त नलिकाओं (Blood Vessels) से अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है। इस प्रकार उसे पोषण का एक स्त्रोत प्राप्त हो जाता है। निषेचित अण्ड **द्वारा** गर्भाशय की दीवार से सम्बन्ध जोड़ने की प्रक्रिया आरोपण (Implantation) कहलाती है। इस प्रकार वह आरोपण के बाद परजीवी (Parasite) हो जाता है। चिपकने के बाद पोषक तत्व माँ के गर्भाशय से प्राप्त होने लगता है।

चित्र सं0 7.1 : एक निषेचित डिम्बाणु का दो कोशिकाओं में विभाजन (Division of a Fertilized Egg in Two Cells)

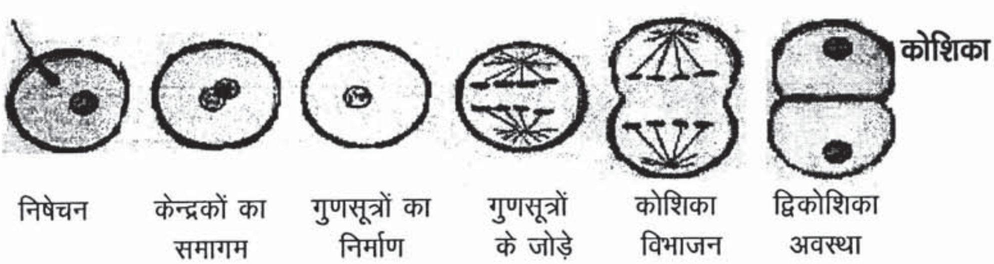

डिम्बावस्था तीन कारणों से महत्वपूर्ण है–

- गर्भाशय की दीवारें में अवस्थापित होने से पहले ही डिम्ब की मृत्यु हो सकती है।
- संभव है कि निरोपण ही न हो पाये।
- डिम्ब गर्भाशय के बजाय गर्भनाल की दीवार से ही अनुबन्धित हो जाये (Tubal Pregnancy)।

गर्भाशय में अवस्थापित होने तक यदि डिम्ब का पीतक (Yolk), जो कि उसका भोजन होता है, समाप्त हो जाता है, तो डिम्ब की मृत्यु हो जाती है।

जब माता की पिट्यूट्री ग्रंथि तथा अंडाशय की क्रियाओं के बीच असंतुलन होता है, तब अंडाशय की दीवारें डिम्ब के आरोपण के लिये तैयार नहीं होती हैं और निरोपण नहीं हो पाता है।

कभी–कभी निषेचित अण्ड का आरोपण गर्भाशय के बजाय गलत स्थान, जैसे फैलोपियन ट्यूब, में हो जाता है, जहाँ उसे पर्याप्त पोषण नहीं मिल पाता, तब वह या तो स्वयं मृत हो जाता है अथवा शल्यक्रिया द्वारा उसे निकालना पड़ता है।

अतः निषेचित डिम्ब का जीवन उपर्युक्त तीन बातों पर निर्भर करता है–

- पोषण के लिये अण्ड में पर्याप्त मात्रा में पीतक (ल्वसा) का होना, जिससे डिम्ब क्रियाशील रहे।
- माता की थायरॉयड व पिट्यूट्री ग्रंथियों के मध्य उचित संतुलन, जिससे गर्भाशय की दीवारें संयुक्त कोष को स्वीकार करने के लिये तैयार हो।
- निषेचित डिम्ब गर्भाशय में उचित स्थान पर आरोपित (Implant) हो, जिससे उसे माता से विकास के लिये पर्याप्त पोषण मिल सके।

7.3.2 भ्रूणावस्था (Embryonic Stage)

इस अवधि का प्रसार दूसरे सप्ताह के अन्त से द्वितीय माह तक माना जाता है। यह तेजी से होने वाले परिवर्तनों की अवस्था है। छः सप्ताह की छोटी सी अवधि में भ्रूण एक कोशिका पुंज से विकसित होकर एक छोटे से व्यक्ति का आकार ले लेता है। इस समय तक शरीर के सभी वाह्य व आंतरिक अवयव बन जाते हैं। विकास विकासात्मक दिशा के अनुसार ऊपर से नीचे अर्थात् सिर से प्रारम्भ होकर पैरों की ओर अंत में होता है। भ्रूणावस्था के बाद नये अंगों का निर्माण नहीं होता है। सिर्फ पूर्व निर्मित अंगों के वास्तविक आकार व उनकी क्रिया में परिवर्तन होता है।

कोशिकाओं की बाहरी परत निरोपण के बाद अन्दरूनी परत से अलग हो जाती

है और सहायक उपकरणों–अपरा, नाभिनाल व गर्भझिल्ली– में विकसित हो जाती है। ये जन्म तक भ्रूण को पोषण देकर उसकी रक्षा करते हैं।

अपरा (Placenta)– यह वहाँ विकसित होती है, जहाँ निरोपण के समय निषेचित डिम्ब गर्भाशय की दीवार में अवस्थापित होता है। यह गोल वृत्ताकार (Pie-shaped) संरचना होती है और अन्त में एक इंच मोटी व आठ से दस इंच व्यास की हो जाती है।

नाभिनाल (Umblical Cord)– अपरा से नाभिनाल विकसित होती है। नाभिनाल एक ओर अपरा से तथा दूसरी ओर भ्रूण के पेट से जुड़ी हुई नली होती है। यह रस्सी की शक्ल की होती है और इसमें रूधिर वाहिकायें होती हैं। यह 10 से 20 इंच लम्बी और 1/2 इंच व्यासवाली संरचना होती है।

कोष (Sac)– यह चार झिल्लियों से बना होता है और अपरा से जुड़ा होता है। इसके अन्दर पानी जैसा एक द्रव (Amniotic Fluid) भरा होता है, जिसमें भ्रूण विकसित होता है। इस द्रव का कार्य जन्मतक भ्रूण की रक्षा करना तथा जन्मपूर्व पर्यावरण के ताप को स्थिर रखना होता है।

माता का रक्त गर्भाशय की दीवार की धमनियों से अपरा (Placenta) में आता है। इसके माध्यम से ऑक्सीजन, पानी व खाद्य–सामग्री माता के रक्तप्रवाह से नाभिनाल होते हुये भ्रूण तक पहुँचते हैं और उसे पोषण देते हैं। भ्रूण के शरीर के दूषित पदार्थ नाभिनाल द्वारा अपरा से छन कर माता के रक्त–प्रवाह में मिलते हैं और उनके उत्सर्गी अंगों द्वारा बाहर निकाल दिये जाते हैं। भ्रूण का अपना अलग परिसंचरण तंत्र (Circulatory System) होता है, पर पोषण व दूषित पदार्थों के उत्सर्जन के लिये उसे अपरा पर ही निर्भर होना पड़ता है। माता व भ्रूण के रक्त प्रवाह में कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है, यह अपरा के माध्यम से ही सम्बन्धित होते हैं।

जन्म के ठीक पहले, वह कोष, जिसमें भ्रूण का विकास होता है, फट जाता है और उसका द्रव प्रसवमार्ग को चिकना कर देता है। जन्म के कुछ समय बाद कोश, नाभिनाल तथा अपरा माता के गर्भ से बाहर निकल जाते हैं क्योंकि बच्चे के जन्म के साथ इनकी उपयोगिता समाप्त हो जाती है।

भ्रूण का निर्माण तीन परतों से होता है– बाहरी परत (Ectoderm), मध्य परन (Mesoderm) तथा आन्तरिक परत (Endoderm)। वाह्य परत से त्वचा, बाल, नाखून, दाँत, संवेदन कोश (Sensory cells) तथा समस्त स्नायु मंडल (Nervous System) विकसित होता है। मध्य परत से त्वचा की आंतरिक परत, मांसपेशियाँ (Muscles), रक्त संचार व मल–मूत्र विसर्जन अंग (Circulatory and Excretory

Organs) विकसित होते हैं। आंतरिक परत से पाचन तंत्र, श्वसन तंत्र, हृदय, लार–ग्रंथियाँ, थायरॉयड ग्रंन्थियाँ आदि विकसित होती हैं।

भ्रूणावस्था के अंत तक भ्रूण का आकार डेढ़ से दो इंच तक का हो जाता है तथा उसका भार 2/3 औंस हो जाता है। इस काल में वृद्धि की गति जीवनकाल की सभी अवस्थाओं की वृद्धि की गति से कहीं ज्यादा होती है। इस समय भ्रूण की आकृति स्पष्टतया मनुष्य की होती है, पर उसके शरीर के अंगों का अनुपात प्रौढ़ से एकदम अलग होता है।

भ्रूणावस्था दो कारणों से महत्वपूर्ण है–

- कुपोषण, सांवेगिक आघातों, गिरने, अत्यधिक शारीरिक गतिशीलता, ग्रंथियों के कार्यों में व्यवधान अथवा अन्य कारणों से भ्रूण गर्भाशय की दीवार से अलग हो जाता है। परिणामस्वरूप स्वतः गर्भपात (Miscarriage) हो जाता है। इसके अलावा माता में विटामिन 'ई' की कमी, गंभीर रोग–जैसे– न्यूमोनिया, चेचक, डिप्थीरिया, जर्मन खसरा, मधुमेह आदि से भी गर्भपात की सम्भावना प्रबल हो जाती है।

- जब कोई वाह्य कारक विकास की गति को बदल देता है तब मानवीय भ्रूण के विभिन्न अंगों की वृद्धि का क्रम बदल जाता है और असामान्यतायें पैदा हो जाती हैं। यदि माता को गर्भावस्था के तीसरे–चौथे मास जर्मन खसरा हो जाये तो बच्चे में अंधापन, बहरापन, हृदय विकृति अथवा मानसिक दुर्बलता के रोग होने की संभावना रहती है। गर्भावस्था में गहन एक्सरे या रेडियम द्वारा किरणीयन चिकित्सा का भी भ्रूण पर दुष्प्रभाव पड़ता है।

7.3.3 गर्भस्थ शिशु की अवस्था (Fetus Stage)

इस अवस्था का प्रसार गर्भाधान के नवें सप्ताह से लेकन जन्म तक होता है। यह अवस्था निर्माण की नहीं, वृद्धि व विकास की अवस्था होती है। यद्यपि पिछली दोनों अवस्थाओं की तुलना में इस अवस्था का प्रसार ज्यादा दिनों तक रहता है, पर विकास की गति इस अवस्था में पहले की अवस्थाओं की तुलना में धीमी होती है। इस समय शिशु की लम्बाई व भार में वृद्धि होती है। उसके शरीर के अधिकांश भाग में मुलायम ऊन जैसे बाल होते हैं, जो गर्भलोम कहलाते है तथा जन्म के कुछ समय बाद झड़ जाते हैं। गर्भस्थ शिशु में मुख्य रूप से निम्न विकास होते हैं–

1. भार व लम्बाई में विकास–गिलबर्ट ने गर्भस्थ शिशु की आयु, भार व लम्बाई को

निम्न प्रकार व्यक्त किया है–

तालिका सं0 7.1 : गर्भस्थ शिशु का भार व लम्बाई

आयु	भार	लम्बाई
12 सप्ताह	3/4 औंस	$3^{1/2}$ इंच
20 सप्ताह	9–10 औंस	10 इंच
32 सप्ताह	4–5 पौंड	16–18 इंच
40 सप्ताह	$7–7^{1/2}$ पौंड	20 इंच

2. विभिन्न अंगों व तंत्रों का विकास –

इस अवस्था में शिशु के मुख, नाक, कान, गला, दाँतों के जबड़ों में बहुत परिवर्तन होता है, जिससे चेहरा चौड़ा हो जाता है। चौथे–पाँचवे माह में गर्भस्थ शिशु के शरीर पर झुरियाँ चर्बी की कमी से पड़ जाती हैं। सिर के बाल छोटे व हल्के रंग के हो जाते हैं। जन्म के समय गर्भस्थ शिशु का शरीर लाल होता है। इसका कारण शिशु का रक्तवाहिनी नाड़ियों से घिरा होना होता है।

इस अवस्था में गर्भस्थ शिशु के आन्तरिक अवयवों का विकास होता है। इस समय स्नायुमंडल, रक्तसंचार मण्डल, श्वसन प्रणाली और पाचन ग्रंथियो आदि का विकास होता है। तीसरे माह के अंत में मांसपेशियों का विकास प्रारम्भ होता है। कुछ गर्भस्थ शिशु ज्यादा सक्रिय होते हैं। प्रारम्भ में मस्तिष्क काफी सक्रिय रहता है। बाद में मस्तिष्क व पैर की सक्रियता समान हो जाती है।

3. ज्ञानेन्द्रियों का विकास–इस संदर्भ में प्रेयर, बरनार्ड, गैल्स तथा कारमीकल ने अनेक परीक्षणों के बाद निम्न निष्कर्ष दिये हैं–

- गर्भस्थ शिशु में संवेदनशीलता का विकास सिर से प्रारम्भ होता है और बाद में सारे शरीर में व्याप्त हो जाता है।
- इस समय शिशु को पीड़ा की अनुभूति नहीं होती है।
- तीसरे मास में स्वादन्द्रियों का विकास प्रारम्भ हो जाता है।
- जन्म के पूर्व शिशु को गंध की अनुभूति नहीं होती है।
- दूसरे–तीसरे माह से नेत्रेन्द्रियों का विकास प्रारम्भ हो जाता है, पर जन्म के पूर्व नेत्रों में किसी प्रकार की प्रतिक्रिया नहीं होती है।
- शिशु गर्म की अपेक्षा ठण्डे ताप के प्रति प्रतिक्रिया अधिक करता है।

- श्रवणेन्द्रिय का विकास जन्म से पूर्व हो जाता है, पर जन्म के समय शिशु के क्रन्दन व श्वसन से श्रवण शक्ति का आगमन होता है।
- संतुलन शक्ति का विकास भ्रूणावस्था से ही प्रारम्भ हो जाता है।
- भ्रूण की क्रियाशीलता में वैयक्तिक भिन्नता होती है।

जब गर्भस्थ शिशु 28 हफ्ते का हो जाता है, तो उसमें जीवन–क्षमता (Vitality) आ जाती है। इस समय उसका स्नायुमण्डल इतना विकसित हो जाता है कि यदि उसका जन्म भी हो जाये, तो उचित संरक्षण से वह जीवित रह सकता है। सामान्य रूप से जीवन क्षमता तभी आती है जब गर्भस्थ शिशु का वजन 1 किग्रा0 का हो जाता है।

7.3.4 असामान्य विकास पर प्रभाव डालने वाले तत्व (Factors Affecting Abnormal Development)-

कभी–कभी गर्भस्थ शिशु का सामान्य विकास नहीं होता है। कुछ शिशुओं की आकृति विकृत हो जाती है, एक टाँग या दो मुँह हो जाते हैं आदि। गर्भस्थ शिशु के विकास की अनियमितताओं के निम्नलिखित कारण हैं–

1. **दूषित पित्रैक (Genes)-** यदि वंशानुक्रम में गड़बड़ी है, तो शिशु की रचना सामान्य नहीं होगी।
2. **दूषित वातावरण**–यदि गर्भस्थ शिशु का घरेलू व सामाजिक परिवेश दूषित है, तो उसका सामान्य विकास कठिन होता है।
3. **माँ का स्वास्थ्य–** यदि माँ रूग्ण है, तो गर्भस्थ शिशु के स्वास्थ्य पर इसका असर पड़ता है। यदि माँ किसी संक्रामक रोग से ग्रसित है, तो गर्भस्थ शिशु के विकास में असामान्यता हो सकती है। नींद की गोलियों के सेवन से गर्भस्थ शिशु की आकृति विकृत हो सकती है। यदि माँ को खसरा या रूबेला हो जाये विशेषकर गर्भावस्था के चौथे–पाँचवें महीने, तो गर्भस्थ शिशु के बहरे, अंधे, बुद्धिहीन होने या गर्भ में ही मृत्यु की संभावना हो जाती है।

7.3.5 गर्भकालीन शारीरिक विकास के निर्धारक (Determinants of Prenatal Physical Development)-

गर्भकाल में शिशु के संतुलित या असंतुलित विकस का कारण कुछ विशिष्ट कारक होते हैं। उनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं–

1. **पोशक तत्व–** गर्भावस्था में शिशु को माँ से ही पोषण मिलता है। यदि माँ को संतुलित आहार मिलता है, तो शिशु का विकास उचित होता है। यदि माँ के आहार में पोषक तत्वों की कमी हो, तो शिशु दुर्बल होता है। पर, आवश्यकता

से अधिक पोषक तत्वों का उपयोग शिशु में मोटापा बढ़ाता है, जा माँ के लिये कष्टदायी होता है। इस काल में माँ को विटामिन 'A' तथा 'D' का सेवन करना चाहिये, जिससे शिशु की दृष्टि क्षमता तथा हड्डियाँ उचित रूप से विकसित हों। विटामिनों व पोषक तत्वों के अभाव में शिशु का शारीरिक विकास अवरूद्ध हो सकता है।

2. **गर्भकालीन बीमारियाँ** (Prental Diseases)**–** गर्भकाल में माँ को शारीरिक अथवा मानसिक बीमारियाँ यदि लम्बे समय तक चलें, तो शिशु के विकास पर असर पड़ता है। कभी–कभी इससे गर्भपात हो जाता है अथवा समयपूर्व जन्म (Premature delivery) हो जाती है। कोई भी ऐसी बीमारी, जिसमें लम्बे समय तक दवा का सेवन करना हो, जैसे TB, शिशु के लिये हानिकारक है। गर्भावस्था में दवा का प्रयोग कम से कम और यदि आवश्यक हो तो डॉक्टर की सलाह पर ही करना चाहिए।

3. **मादक द्रव्यों का प्रभाव (Effect of Intoxicating Material)–** गर्भकाल में माँ को मादक द्रव्यों का प्रयोग नहीं करना चाहिये। गर्भस्थ शिशु की वृद्धि पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता है। न केवल शारीरिक अपितु मानसिक वृद्धि भी प्रभावित होती है। सिम्पसन (1957) ने बताया कि धूम्रपान (Smoking) रक्तचाप तथा हृदय गति को प्रभावित करता है। गोल्डस्टीन (1971) ने अपने अध्ययन में निष्कर्ष दिया कि अधिक धूमपान करने वाली माँओं के बच्चों की ऊँचाई प्रायः कम होती है।

4. **माँ की गर्भकालीन मानसिक दशायें (Mother's Prenatal Mental Condition)–** गर्भकाल में माँ की मानसिक दशा शिशु को प्रभावित करती है। जहाँ माँ सुख का अनुभव करती है और बच्चे के आगमन का स्वागत करती हैं, वहाँ शिशु का शारीरिक व मानसिक विकास संतुलित होता है। जहाँ गर्भकाल में माँ मानसिक तनावों, उलझनों व दोषों से ग्रस्त होती है, वहाँ शिशु की सक्रियता प्रभावित होती है। वुडवर्थ (1948) व हरलॉक (1950) के अनुसार सांवेगित उलझनों व तनाव का संवाहन गर्भस्थ शिशु में होता है। यह भी पाया गया है कि उच्चचिन्ता वाली महिलाओं के शिशु रोते ज्यादा हैं। (अटिन्जर व साइमन्स 1964)।

6. **माता–पिता की आयु का प्रभाव (Effect of Parent's Age)–** बच्चे की शारीरिक व मानसिक वृद्धियों पर माता–पिता की शारीरिक व मानसिक आयु का प्रभाव पड़ता है। शारीरिक व मानसिक रूप से परिपक्व माता–पिता के शिशु जन्म के समय स्वस्थ रहते हैं व उनकी वृद्धि तीव्र गति से होती है। कम

उम्र के माता–पिता बच्चों के विकास में उतना योगदान नहीं दे पाते। स्टीकल (1931) ने निष्कर्ष दिया कि परिपक्वता की आयु में उत्पन्न बच्चे अधिक तीव्र बुद्धि के होते हैं, जबकि कम उम्र में उत्पन्न बच्चों की मानसिक योग्यता कम होती है तथा शारीरिक वृद्धि भी संतोषजनक नहीं होती है।

बोध प्रश्न

टिप्पणी – (क) नीचे दिये गये रिक्त स्थान में अपने उत्तर लिखिये।
(ख) इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर का मिलान कीजिए।

1. गर्भकालीन विकास को किन अवस्थाओं में बाँटा गया है?

....

....

2. भ्रूण को पोषण किस माध्यम से प्राप्त होता है?

....

....

3. गर्भकालीन शारीरिक, विकास के कौन–कौन से निर्धारक है?

....

....

7.4 नवजात शिशु की विशेषतायें (Characteristics of Neonate)

लगभग 280 दिन बाद गर्भस्थ शिशु इस पृथ्वी पर आता है। नवजात शिशु की अवधि जन्म से दो सप्ताह तक रहती है। जन्म के बाद से पहले 30 मिनट तक पूर्व नवजात शिशु अवस्था तथा 30 मिनट के दो सप्ताह तक नवजात शिशु अवस्था कहते हैं। नवजात शिशु में तीन विशेषतायें होती हैं, जिनका विवरण निम्न है–

1. **शारीरिक आकृति (Physical Appearance)–**

- **शारीरिक माप (Physical size)–** जन्म के समय शिशु का वजन 2.5 से 4.6 कि0ग्रा0 (5.5–10 पौण्ड) तथा लम्बाई 45 से 55 सेमी0 (18–22 इंच) तक होती है। उनके सिर की परिधि (Circumference) 32.6 से 37.2 सेमी0 होती है। (नेल्सन टेक्स्टबुक ऑफ पीडियेट्रिक्स)। प्रायः बालकों की लम्बाई बालिकाओं से अधिक होती है। (Meredith, 1975)। शारीरिक आकार पर अनेक कारकों का

प्रभाव पड़ता है, जैसे– अपरिपक्व जन्म, माँ का स्वास्थ्य, शिशु का लिंग, जन्मक्रम, गर्भस्थ शिशु की क्रियायें, माता–पिता का आर्थिक स्तर।

- **शारीरिक अनुपात (Physical Proportion)–** नवजात शिशु का शारीरिक अनुपात प्रौढ़ों से अलग होता है। नवजात शिशु में सिर की लम्बाई शरीर की लम्बाई का 1/4 होती है, जबकि वयस्कों में यह अनुपात 1/7 होता है। **शिशु** में खोपड़ी (Cranium) तथा चेहरे का अनुपात 8:1 होता है, जबकि वयस्कों में 1:2 होता है (Baum & Searls, 1971)
- **शारीरिक आकार (Body Form) –** नवजात शिशु का चेहरा चौड़ा व छोटा, जबड़े अविकसित व नाक चौरस होती है। सिर बड़ा होता है, तुलना में हाथ, पैर व धड़ का आकार छोटा होता है। पेट लम्बा तथा बाहर निकला व कन्ध ो छोटे होते हैं।
- **माँसपेशियाँ (Muscels)–** नवजात शिशु की माँसपेशियाँ, छोटी, मुलायम व अनियन्त्रित होती हैं। भुजा व हाथों की अपेक्षा पैर व गर्दन की मांसपेशियाँ कम विकसित होती हैं। (Meredith 1975, Palti & Alder 1975)

2. **असमर्थता (Helplessness)–** प्रत्येक नवजात शिशु योग्यताओं की दृष्टि से असहाय व असमर्थ होता है। इससे सम्बन्धित पाँच क्षेत्र होते हैं–

- **शारीरिक सन्तुलन की समस्या (Problem of Homestatis)–** नवजात शिशु में तापमान, रासायनिक संतुलन, श्वसन व निद्रा आदि को नियंत्रित करने की क्षमतायें, अविकसित होती हैं। उनमें स्वायत्त तंत्रिका तंत्र (Independent Nervous System) का पूर्ण विकास अभी तक नहीं हुआ होता है, अतः उपर्युक्त समस्यायें होती हैं, (Ashton, 1973)
- **पेशीय क्रियाओं का समस्यायें (Problem of Motor Activities)–** नवजात शिशु अपनी शारीरिक गतियों (Body Movements) को नियंत्रित नहीं कर पाते। जैसे जिधर झुकते हैं, उधर लुढ़क जाते हैं।
- **संप्रेषण की समस्या (Problem of Commnunication)–** शिशुओं में असमर्थता का कारण उनकी अविकसित ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। कुछ ज्ञानेन्द्रियों का विकास कम (जैसे दृष्टि) तथा कुछ का ज्यादा (जैसे स्वाद/गन्ध) होता है।
- **अधिगम योग्यता का अभाव (Lack of Learning Ability)–** नवजात शिशु का मस्तिष्क व तंत्रिका तंत्र अविकसित होता है, अतः उनमें सीखने की योग्यता, संवेगों– भय–क्रोध–चिन्ता आदि– का प्रदर्शन नहीं हो पाता। अतः उन्हें समायोजन की समस्या होती है।

3. **नवजात शिशु की वैयक्तिता (Individuality of Neonate)-** नवजात शिशु की तीसरी विशेषता उसका व्यक्तित्व होता है। कोई भी शिशु, यहाँ तक कि यमज (Twins) भी एक समान नहीं होते। उनमें कुछ न कुछ अन्तर होता ही है। प्रत्येक शिशु अपनी वंशानुक्रम से प्राप्त विशिष्टताओं के साथ जन्म लेता है और कालान्तर में उनके प्रभाव दिखाई पड़ने लगता है। इन भिन्नताओं के कारण उनका व्यक्तित्व एक दूसरे से अलग होता है। वातावरण के साथ अन्तःक्रिया से भी उनके व्यक्तित्व में बदलाव आता है। (Richman, 1972)

7.4.1 नवजात शिशु का शारीरिक विकास–

नवजात शिशु के सम्बन्ध में उसकी शारीरिक माप, आकार अनुपात तथा मांसपेशियाँ (जिनका विवरण 7.4 नवजात शिशु की विशेषताओं मे दिया है) के अलावा कुछ अन्य शारीरिक विशिष्टतायें है जो निम्न हैं–

- **आँखें (Eyes)-** जन्म के समय आँखे हल्के भूरे रंग की होती है तथा जन्म के कुछ दिनों बाद आँखों का रंग बदल कर कोई स्थायी रंग हो जाता है– काला, नीला आदि। आँखे आकार की दृष्टि से परिपक्व लगती हैं, पर इनकी गतियों पर शिशु का नियंत्रण नहीं होता। दोनों आँखों में समन्वय नहीं होता। शिशु एक आँख से एक ओर तथा दूसरी से दूसरी ओर देखता सा लगता है।
- **गदर्न (Neck)-** नवजात शिशु की गर्दन बहुत छोटी होती है। सिर बड़ा होने के कारण छोटी गर्दन दिखाई नहीं देती है।
- **बाल (Hair)-** नवजात शिशु के बाल रेशम जैसे मुलायम होते हैं। शिशुओं में जन्म के समय सिर पर बहुत ज्यादा बाल नहीं होते हैं। उनके पीठ व कंधों पर भी मुलायम बाल होते हैं, जो कुछ सप्ताह बाद झड़ जाते हैं।
- **हड्डियाँ (Bones)-** शिशु की हड्डियाँ लचीली, कोमल व कार्टिलेज की बनी होती है।
- **त्वचा (Skin)-** जन्म के समय बालक की त्वचा लाल या गुलाबी रंग की होती है। लगभग 15 दिन बाद त्वचा का रंग स्थायी होने लगता है।
- **दाँत (Teeth)-** जन्म के समय शिशुओं में दाँत नहीं होते।
- **ष्वसन क्रिया (Respiration)-** जन्म के समय शिशु क्रन्दन करता है। उसके रोने से उसके फेफड़े फूल जाते हैं और श्वसन क्रिया आरम्भ हो जाती है। (C.A. Smith, 1963) अतः शिशु के जीवन के लिये रोना आवश्यक है। (Nelson 1993) जन्म के तुरन्त बाद प्रत्येक मिनट में 35 से 50 तक श्वसन गति होती है। एक सप्ताह के अंत तक यह 35 रह जाती है। जब शिशु जगता है तो

श्वसन गति कम (32 प्रति मिनट) तथा जब रोता है तो श्वसन गति तेज (133 प्रति मिनट) हो जाती है।

- **हृदय की धड़कन** (Heart Beat)– नवजात शिशु के हृदय का आकार छोटा होता है। अतः हृदय की धड़कने अधिक होती हैं। (120 से 160 प्रति मिनट Nelson 1993 के अनुसार)। यह रक्तचाप सामान्य बनाये रखने में सहायता करती है।
- **तापमान** (Temperature)– नवजात शिशुओं का तापमान वयस्कों से अधिक होता है। यह परिवर्तनशील भी अधिक होता है। नवजात शिशुओं का तापमान 98.2^0 से 99^0F तक सामान्य माना जाता है।
- **नाड़ी की गति** (Pulse Rate)– जन्म के समय शिशु की नाड़ी गति 130 से 150 प्रति मिनट तक रहती है, पर कुछ दिन बाद यह कम होकर 77 तक आ जाती है। सोते समय शिशुओं की नाड़ी गति 123 Beats प्रति मिनट तथा रोने पर 218 ठमंजे प्रति मिनट तक हो जाती है।
- **चूसने सम्बन्धी सहजक्रिया गतियाँ** (Reflex Sucking Movements)– जब नवजात शिशु भूखा होता है, अथवा उसे होंठ छुये जाते हैं, तो उसमें चूसने की सहजक्रिया होती है। अध्ययन (B.Spock, 1964) से यह पता चला कि स्तनपान करने वाले शिशुओं में चूसने की क्रियायें अन्य बच्चों से ज्यादा होती है।
- **भूख सम्बन्धी सहज गतियाँ** (Hunger Reflex)– भूख लगने पर शिशु रोता है और मुँह के पास वाली वस्तु को चूसने का प्रयास करता है। जन्म के समय उसमें भूख की सहज क्रिया नहीं होती है। जन्म के बाद पहले सप्ताह में भूख अनियमित अन्तराल पर लगती है। उसके बाद उसे 5 घंटे में भूख लगती है। (Nelson 1993)। शिशु मल–मूत्र त्याग दूध पीने के 1/2 घंटे के अन्दर करता है। 24 घंटे में शिशु लगभग 5 से 7 बार मल–मूत्र त्याग करता है। जिस समय वह मल–मूत्र त्याग करता है, वह चुप रहता है। (Halvessor, 1940)
- **नींद** (Sleep)– नवजात शिशु 15 से 20 घंटे सोता है, पर लगातार नहीं। वह लगभग दो–दो घंटे की नींद लेता है। आयु बढ़ने के साथ नींद का अन्तराल व समय भी बढ़ जाता है। भूख लगने पर, दर्द होने पर तथा आन्तरिक कष्ट होने पर उसकी नींद खुल जाती है।

7.4.2 नवजात शिशु की क्रियायें (Activities of Neonate)-

नवजात शिशु की क्रियायें अनायास तथा अर्थहीन प्रकृति की होती है। उनकी क्रियायें दो प्रकार की होती हैं–

- **व्यापक क्रियायें** (Mass Activities)- ये वे क्रियायें हैं, जिनमें उनका सम्पूर्ण शरीर सम्बन्धित रहता है। यदि बालक के एक अंग को स्पर्श किया जाये, तो वह सम्पूर्ण शरीर से अनुक्रिया करता है। पहले पाँच दिन तथा प्रातःकाल ये अनुक्रियायें अधिक मात्रा में होती हैं। शिशु की गतियाँ उसके चेहरे व हाथ–पैरों में अधिक होती है। गर्भस्थ जो शिशु ज्यादा सक्रिय होते हैं, जन्म के उपरान्त भी उनमें ज्यादा सक्रियता पाई जाती है। (Sontag, 1946)। भूख में पीड़ा में, अधिक प्रकाश अथवा अधिक अंधेरे स्थान में उसकी व्यापक क्रियायें (Mass activities) बढ़ जाती है। वातावरण के तापक्रम का प्रभाव भी इन क्रियाओं पर पड़ता है।
- **विशिष्ट क्रियायें** (Specific Activities)- इनके अन्तर्गत सहज क्रियायें (Reflexes) तथा सामान्यीकृत अनुक्रियायें (Generalised Response) आते हैं।

सहज क्रियायें वे क्रियायें है, जो शिशु विशिष्ट संवेदनात्मक उद्दीपक के प्रति एक निश्चित ढंग से करता है। इन क्रियाओं में परिवर्तन नहीं होता है। इसके अन्तर्गत आती हैं–

- प्रकाश के अनुसार आँख की पुतली का घटना–बढ़ना
- पाँव के तलवे पर स्पर्ष से पैर की उंगलियों का फैलना
- मॉसपेशियों का स्पर्श से आकुंचन
- चूसने सम्बन्धी क्रियायें
- छींकना, श्वास लेना, हृदय–धड़कन आदि सहज क्रियायें

सामान्यीकृत अनुक्रियायें वे हैं, जिनमें शरीर के एक से अधिक भाग सम्मिलित होते हैं। यथा–आँखों का कभी खुलना–कभी बंद होना, अंगूठा चूसना, मुट्ठी खोलना बंद करना, हाथ–पैरों की गतियाँ आदि।

7.4.3 नवजात शिशु का क्रन्दन (Cry of the Neonate)-

नवजात शिशु का क्रन्दन जन्म के साथ या तुरन्त बाद होता है। यह शिशु की सहज क्रिया होती है। शिशु का क्रन्दन अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि इससे उसके फेफड़े फूलते हैं तथा श्वास क्रिया प्रारम्भ होती है। इससे रक्त को ऑक्सीजन प्राप्त होने लगती है।

जन्म के 24 घंटे में क्रन्दन का अर्थ बदल जाता है। रोते समय शिशु के हाथ पैर चलते हैं, मुठ्ठी बंद होती व खुलती है। उसमें सक्रियता आती है।

शिशुओं के क्रन्दन के कई कारण होते हैं– शोरगुल, प्रकाश, उल्टी होना, गर्मी लगना, भूख, स्नान के कारण आदि (Aldrich 1947)। यह भी पाया गया कि सिजेरियन शिशु सामान्य रूप से जन्में शिशुओं से कम रोते हैं (M.E.Fries 1941)। शिशु के क्रन्दन का कारण या तो शारीरिक होता है या वातावरण से सम्बन्धित।

7.4.4 नवजात शिशु की संवेदनशीलता (Sensitivities of Neonate)-

नवजात शिशुओं की संवेदनशीलता का अध्ययन अत्यन्त कठिन है। पर स्पर्श संवेदना को देखा जा सकता है।

दृष्टि के सम्बन्ध में जन्म के समय आँख का रेटिना पूर्ण रूप से परिपक्व नहीं होता है। जन्म के समय शिशु आंशिक रूप से 'कलर ब्लाइण्ड' (Colour Blind) होता है। जन्म के सातवें दिन से शिशु रंगों के प्रति अनुक्रिया करते हैं। स्मिथ (1936) के अनुसार बालिकायें, बालकों की अपेक्षा रंग उद्दीपकों के प्रति अधिक अनुक्रिया करती हैं। 'जन्म के प्रथम दिन शिशु बहुत पास की वस्तु को देख सकता है। पहले सप्ताह के अंत तक वह पास की वस्तु को देख सकता है, परन्तु एक माह का शिशु कुछ दूर से उद्दीपकों को भी देख सकता है' (हरलॉक 1968)।

श्रवण के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिकों में मतभेद है कि शिशु कब से सुनना प्रारम्भ करते हैं। यह सत्य है कि जन्म के समय श्रवण ज्ञानेन्द्रिय अन्य ज्ञानेन्द्रियों की अपेक्षा कम विकसित होती है। कुछ का विचार है कि जन्म के दस मिनट में ही बच्चा सुनने लगता है कुछ के विचार से जन्म के कुछ दिन तक वह बिल्कुल नहीं सुनता है। इस विषय में 'You Tube' की Site पर पिछले साल एक वीडियों आया था, जिसमें गर्भ में शिशु माँ के लोरी गाने पर ताली बजाता हुआ दिखाया जा रहा है। इससे यह भान होता है कि शिशु गर्भ में ही सुनने लगते हैं। भारत में महाभारत में अभिमन्यु के माँ के गर्भ में चक्रव्यूह में घुसने का मार्ग सुनकर बाद में उसका प्रयोग करने का दृष्टान्त मिलता है।

स्वाद के संदर्भ में शिशु मीठी वस्तुओं को पसन्द करते हैं और खट्टी नमकीन व कड़वी वस्तुओं के प्रति नकारात्मक अनुक्रिया करते हैं। स्वाद के सम्बन्ध में शिशुओं में वैयक्तिक भिन्नता पाई जाती है। (Pratt 1954)

गन्ध की संवेदनशीलता जन्म के समय काफी विकसित होती है। पर इसमें भी वैयक्तिक भिन्नतायें पाई जाती है।

त्वचा सम्बन्धी संवेदनशीलता बालक में जन्म के समय ही पाई जाती है।

दबाव, ताप व पीड़ा का अनुभव शिशु प्रारम्भ से ही करने लगते हैं। शरीर में कुछ अंग ज्यादा संवेदनशील होते हैं। होंठ, हथेली व पैर के तलवे में संवेदना अधिक पाई जाती है। ताप उद्दीपकों की अपेक्षा शीत उद्दीपकों के प्रति शिशु अधिक अनुक्रिया करते हैं। पलक, माथेपर, नाक की झिल्ली में भी संवेदना ज्यादा पाई जाती है।

7.4.5 नवजात शिशु के संवेग (Emotions of Neonate)–

नवजात शिशुओं में जन्म के समय या कुछ बाद तीन प्रकार के संवेग पाये जाते है। (Watson 1925) उनके अनुसार ये संवेग विशिष्ट उद्दीपकों के द्वारा शिशुओं में उत्पन्न किये जा सकते हैं। ये प्रमुख संवेग हैं–

- भय
- क्रोध व
- प्रेम

कुछ मनोवैज्ञानिकों का मानना है कि नवजात शिशुओं में निश्चित संवेगात्मक प्रतिमान नहीं पाये जाते हैं। संवेगात्मक अनुक्रिया के नाम पर वे सुखात्मक व असुखात्मक अनुक्रियायें ही करते हैं। सुखात्मक की अपेक्षा असुखात्मक अनुक्रियायें ज्यादा स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त करते हैं। जब शिशु को स्तनपान कराया जाये अथवा प्यार से गोद में उठाया जाये, तो वह सुखात्मक अनुक्रिया करता है। उसे गलत तरीके से उठाने पर, पेट न भरने पर, स्तनपान से हटा देने पर वह असुखात्मक अनुक्रिया करता है।

बोध प्रश्न

टिप्पणी – (क) नीचे दिये गये रिक्त स्थान में अपने उत्तर लिखिये।

(ख) इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर का मिलान कीजिए।

4. नवजात शिशु की क्या विशेषताये होती हैं?

....

....

5. नवजात शिशु की ह्रदय की धड़कन किस गति से चलती है?

....

....

6. नवजात शिशु में कौन से संवेग पाये जाते हैं?

....

....

7.5 अभ्यास के प्रश्न

1. डिम्बावस्था पर टिप्पणी लिखिये।
2. भ्रूणावस्था में पोषण कहाँ से प्राप्त होता है? भ्रूणावस्था क्यों महत्वपूर्ण है?
3. गर्भस्थ शिशु की अवस्था का वर्णन कीजिये।
4. नवजात शिशु की विशेषताओं पर प्रकाश डालिये।
5. क्या नवजात शिशु में संवेदना का अनुभव होता है? दृष्टि, श्रवण व त्वचा के संदर्भ में अपने विचार प्रस्तुत करें।

7.6 सारांश

गर्भ में जीव का जन्म गर्भाधान प्रक्रिया के फलस्वरूप होता है। इस अवस्था में विकास की गति अत्यन्त तीव्र होती है। यह विकास व्यवस्थित व पूर्वानुमानगम्य होता है। गर्भकालीन विकास तीन अवस्थाओं के माध्यम से होता है– डिम्बावस्था, भ्रूणावस्था व गर्भस्थ शिशु की अवस्था। डिम्बावस्था गर्भाधान से दो सप्ताह के अंत तक रहती है। भ्रूणावस्था दूसरे सप्ताह के अन्त से दो माह तक रहती है। इस समय भ्रूण कोशिकापुंज से विकसित होकर एक मानव का आकार ले लेता है। भ्रूणावस्था के बाद नये अंगों का निर्माण नहीं होता है। गर्भस्थ शिशु की अवस्था में विकास तीव्र गति से होता है। गर्भकालीन विकास के निर्धारक हैं–पोषक तत्व, गर्भकालीन बीमारियाँ, मादक द्रव्यों का प्रभाव, गर्भकालीन मानसिक दशायें, माता–पिता की आयु।

नवजात शिशु की अवधि जन्म से दो सप्ताह तक रहती है। नवजात शिशु की तीन विशेषतायें होती हैं – (1) शारीरिक आकृति, माप, अनुपात, आकार, मांसपेशियाँ आदि। (2) असमर्थता तथा (3) वैयक्तिता। इसके अलावा इस इकाई में नवजात शिशु के शारीरिक विकास, क्रियायें, क्रन्दन, संवेदनशीलता तथा संवेगों पर भी चर्चा की गई है।

7.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. डिम्बावस्था, भ्रूणावस्था व गर्भास्थ शिशु की अवस्था।
2. अपरा, नाभिनाल व कोश
3. पोषक तत्व, गर्भकालीन बीमारियाँ, मादक द्रव्यों का प्रभाव, गर्भकालीन मानसिक दशायें, आयु का प्रभाव।
4. शारीरिक आकृति, असमर्थता तथा वैयक्तिता

5. 120 से 160 प्रति मिनट
6. भय, क्रोध व प्रेम

7.8 सन्दर्भ –ग्रन्थ

1. गुप्ता एस0पी0 व गुप्ता, अलका (2013), उच्चतर शिक्षा मनोविज्ञान, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद।
2. सिंह आर0एन0 (2015), आधुनिक विकासात्मक मनोविज्ञान, अग्रवाल पब्लिकेशन, आगरा।
3. सिंह आर0पी0, उपाध्याय जे0 व सिंह आर0 (2009), विकासात्मक मनोविज्ञान, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।
4. श्रीवास्तव, डी0एन0, वर्मा प्रीति व सिंह आशा (2014), बाल मनोविज्ञानः बाल विकास, अग्रवाल पब्लिकेशन्स, आगरा।
5. Richard E. Behrman (1993), *Nelson Textbook of Pediatrics*, Pocket Companian, W.B. Saunders, Comapny.

इकाई –8 विकास में मील के पत्थर (Milestanes in Development)

संरचना

8.1 प्रस्तावना

8.2 उद्देश्य

8.3 विकास में मील के पत्थर का अर्थ

8.4 विकास के विभिन्न क्षेत्र

8.5 शैशवावस्थ की शारीरिक विशेषतायें

8.6 सूक्ष्म गतिपरक विकास

8.7 सकल गतिपरक विकास

8.8 आयु के अनुसार विकास में मील के पत्थर

8.9 अभ्यास के प्रश्न

8.10 सांराश

8.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

8.12 संदर्भ ग्रन्थ

8.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में हमने जन्मपूर्व गर्भकालीन तथा नवजात शिशु के विकास पर चर्चा की थी। हमने यह भी देखा था कि जन्म के बाद शिशु निश्चित समयसीमा में कुछ विशिष्ट योग्यताओं को प्राप्त कर लेते हैं, जैसे बैठना, खड़े होना आदि। इन योग्यताओं को ही विकास में मील के पत्थर कहा जाता है। इस इकाई में हम पूर्व बाल्यावस्था में बच्चों द्वारा प्राप्त की जाने वाली इन योग्यताओं, जिन्हें अंग्रेजी में Developmental Milestones कहते हैं, पर चर्चा करेंगे। मानव विकास के विभिन्न क्षेत्र हैं, यथा शारीरिक, गतिपरक, संज्ञानात्मक, भाषाई, सामाजिक आदि। इन सभी क्षेत्रों से सम्बन्धित महत्वपूर्ण योग्यताओं के विशय में हम इस इकाई में अध्ययन करेंगे।

8.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप–

- विकास के संदर्भ में मील के पत्थर का अर्थ प्रत्यास्मरण कर सकेंगे।
- विकास के विभिन्न क्षेत्रों का उदाहरण दे सकेंगे।
- शैशवावस्था की शारीरिक विशिष्टताओं की सूची बना सकेंगे।
- सूक्ष्म गतिपरक विकास व सकल गतिपरक विकास में अन्तर बता सकेंगे।
- आयु के अनुसार विकास से सम्बन्धित संज्ञानात्मक मील के पत्थरों को पहचान सकेंगे।
- आयु के अनुसार विकास से सम्बन्धित सामाजिक मील के पत्थरों के उदाहरण दे सकेंगे।
- सामाजिक, संज्ञानात्मक व भाषाई योग्यताओं के उदाहरण दे सकेंगे।

8.3 विकास में मील के पत्थर का अर्थ (Meaning of Developmental Milestones)

आम बोलचाल की भाषा में एक तय दूरी के उपरान्त सड़क पर लगे हुये पत्थर को मील का पत्थर कहा जाता है। यह पत्थर दो निश्चित स्थानों के बीच की तय दूरी को 1 किमी0 अथवा 1 मील की इकाई से नापता है। मानव–विकास के संदर्भ में इसका प्रयोग जीवन की एक महत्वपूर्ण घटना के संदर्भ में किया जाता है। विकास के संदर्भ में प्रत्येक मील का पत्थर जीवन में एक नये अध्याय का प्रारम्भ करता है। जब शिशु विकास पथ पर एक योग्यता अर्जित करता है, तो वह मील का पत्थर या Development Milestone कहलाता है। यह जीवन की एक महत्वपूर्ण घटना होती है। जैसे बच्चा जब पलटना सीखता है अथवा जब घुटनों से चलना सीखता है, तो वह उसके विकास में एक महत्वपूर्ण घटना होती है।

Milestones का एक विशिष्ट गुण होता है उनका सिलसिलेवार होना। अर्थात् क्रम के अनुसार विकास होता है। जब तक एक योग्यता की प्राप्ति नहीं हो, दूसरी योग्यता की प्राप्ति नहीं होगी। जैसे शिशु पहले पेट के बल पलटेगा, फिर घुटनों के बल चलेगा। ऐसा नहीं हो सकता कि शिशु पहले घुटनों के बल चले, फिर पलटना सीखे।

Milestones का दूसरा विशिष्ट गुण होता है कि उनके बारे में पूर्वानुमान लगाया जा सकता है। यथा–यह कहा जा सकता है कि एक सामान्य शिशु 6 माह की आयु तक पहले सहारे से, फिर अपने आप बैठने लगेगा। यदि शिशु निश्चित समयावधि में वह योग्यता नहीं प्राप्त करता है, तो उसके दुष्परिणाम होते हैं तथा विकास की गति मंद हो जाती है।

Milestones की तीसरी विशेषता है कि इनका सम्बन्ध मस्तिष्क (Brain) के

विकास के साथ होता है। यह एक तथ्य है कि जन्म के समय हमारा मस्तिष्क पूर्णतया विकसित नहीं होता। शिशु के मस्तिष्क का वजन वयस्क व्यक्ति के मस्तिष्क के वजन का 1/4 होता है। जैसे–जैसे मस्तिष्क का विकास होता है, बालक नये–नये कौशलों का अर्जन करता है।

Milestones की चौथी विशेषता है कि इनकी प्राप्ति में वैयक्तिक भिन्नता होती है। इसका अर्थ है वंशानुक्रम से प्राप्त गुणों के आधार पर कोई शिशु किसी योग्यता को औरों से जल्दी प्राप्त करता है। जल्दी का अर्थ है, सामान्य बालक को जो योग्यता विशिष्ट समयावधि में प्राप्त करनी चाहिये, उससे पहले उस योग्यता को प्राप्त करना। जैसे कुछ शिशु 10 माह की आयु से ही पकड़ कर चलना प्रारम्भ कर देते हैं जबकि सामान्य बालक के लिये इस कौशल की प्राप्ति की आयु 1 वर्ष मानी जाती है।

Milestones की पाँचवी विशेषता है कि इनकी प्राप्ति के साथ शिशु/बालक पहले से जटिल कार्य करने की योग्यता प्राप्त करता है। संज्ञानात्मक विकास के संदर्भ में इसका विशेष महत्व है। विकास वृद्धि से अलग है। वृद्धि में सिर्फ आकार में बढ़ोत्तरी होती है, पर विकास में क्षमताओं में बढ़ोत्तरी होती है।

8.4 विकास सम्बन्धित विभिन्न कौशल क्षेत्र (Development Related Skill Fields)

मानव विकास पथ पर प्राणी अनेक योग्यताओं व कौशलों को अर्जित करता है। वृद्धि की प्रक्रिया परिपक्वता पर समाप्त हो जाती है, पर, जो मूल योग्यताओं व क्षमताओं का अर्जन बालक कर लेता है, उन्हीं में उच्च स्तर की प्राप्ति व्यक्ति करता है। जितने उच्च स्तर की प्राप्ति व्यक्ति करता है, उतने जटिल कार्यों को करने में वह सक्षम होता है। जन्म के उपरान्त जिन कौशलों का अर्जन शिशु करता है वे मुख्यतया निम्न क्षेत्रों से सम्बन्धित हैं–

- शारीरिक
- गतिपरक
- भाषाई
- संज्ञानात्मक
- सामाजिक व सांवेगिक

शारीरिक विकास में सिर व छाती का माप, श्वासगति, त्वचा, रूदन, आदि से सम्बन्धित जानकारियाँ आती हैं। गतिपरक विकास के अन्तर्गत शिशु की पलटने, बैठने, घुटनों चलने, खड़े होने, चलने आदि की योग्यतायें आती हैं। भाषाई योग्यता

में अक्षरों, शब्दों व वाक्यों का प्रयोग, वाणी की स्पष्टता आदि आते हैं। संज्ञानात्मक योग्यतायें 1 वर्ष की आयु के पश्चात् आती हैं। सामाजिक सजगता का प्रारम्भ भी 1 वर्ष की आयु से होने लगता है, जब शिशु घरवालों के अलावा नये लोगों से मिलना पसन्द करने लगता है। संवेगों का विकास दो वर्ष की आयु से बच्चों में परिलक्षित होने लगता है।

8.5 शैशवास्था की शारीरिक विशेषतायें

शैशवावस्था में जन्म से 2 वर्ष तक की आयु में, शिशु की ऊँचाई, लम्बाई में वृद्धि की दर, सामान्य भार, भारवृद्धि की दर, श्वसन गति आदि महत्वपूर्ण होते हैं। नीचे प्रस्तुत चार्ट इनसे सम्बन्धित Developmental Milestones प्रस्तुत कर रहा है–

तालिका सं0 8.1

शारीरिक विशिष्टताओं का विवरण

आयु	औसत लम्बाई (cm में)	लम्बाई में वृद्धि की दर	औसत भार	भार वृद्धि दर	श्वसन प्रति मिनट
1–4 माह	50–70 cm	2.5 cm प्रतिमाह	4 से 8 किग्रा0	100–200 ग्रा0 प्रति सप्ताह	30–40
4– 8 माह	70–75 cm	1.3 cm प्रतिमाह	जन्म भार का दुगुना	500 ग्राम प्रतिमाह	25–50
8से 12	पहले जन्मदिन पर जन्म की लम्बाई से 1.5 गुना	1.3 cm प्रतिमाह	पहले जन्मदिन पर जन्म भार का करीब तीन गुना	500 ग्रा0 प्रति माह	20–45
12 से 24 माह	80–90 cm	5 से 8 सेमी0 प्रति वर्ष	9 से 13 किग्रा0	1 30–250 ग्राम प्रति माह	22–40
2 वर्ष	85–95 cm	7 से 13 सेमी0 प्रतिवर्श	जन्म भार का करीब चार गुना	1 किग्रा0 प्रतिवर्ष	20–35

यदि शिशु का वजन व लम्बाई औसत दर से नहीं बढ़ रहा है, तो डॉक्टर को

दिखाना चाहिये। इस औसत से थोड़ा–बहुत हेर–फेर शिशुओं में हो सकता है, क्योंकि प्रत्येक शिशु विशिष्ट है और अपनी गति से ही विकसित होता है। इस तालिका का प्रयोग सिर्फ संदर्भ के लिये है।

तालिका सं0 8.2

सामान्य ह्रदय गति तालिका

आयु	सामान्य त्ंदहम
0–3 माह	100.150
3–6 माह	90.120
6–12 माह	80.120
1 से 3 वर्ष	70.110
3 से 6 वर्ष	65.110
6 से 12 वर्ष	60.95
12 वर्ष से ऊपर	55.85

तालिका सं0 8.3

सामान्य तापमान आयु के अनुसार

आयु	मुँह से	मल मार्ग से	बगल से	कान से
0–2 वर्ष		97.9– 100.4°C	94.5– 99.1°C	97.5– 100.4°C
3–10 वर्ष	95.9 to 99.5	97.9– 100.4°C	96.6– 98.0°C	97.0– 100.0°C

8.6 सूक्ष्म गतिपरक विकास (Fine Motor Skill Development)

गतिपरक विकास मांसपेशियों से सम्बन्धित होता है। सूक्ष्म गतिपरक कौशल का अर्थ छोटी मांसपेशियों को प्रयोग करने की क्षमता से होता है। हाथ व उंगलियों

में छोटी मांसपेशियाँ होती है। इनका प्रयोग करने की क्षमता से बालक छोटी वस्तुयें उठा सकता है। यथा एक चम्मच को पकड़ सकता है, एक क्रेयॉन का प्रयोग चित्र बनाने में कर सकता है और एक किताब के पन्ने पलट सकता है। इस प्रकार उंगलियों व अंगूठे के समन्वय से छोटे–छोटे कार्य करने की क्षमता प्राप्त होती है। इससे सम्बन्धित चार्ट जन्म से पूर्व शैशवावस्था तक सूक्ष्म गतिपरक विकास के Milestones प्रस्तुत करता है–

तालिका सं0 8.4

सूक्ष्म गतिपरक विकास का विवरण	
आयु	योग्यतायें
0–3 माह	हाथ प्रायः बंद, यदि हाथों में वस्तु रखी जाये, तो हाथों से सहज क्रिया के रूप में उसे पकड़ने लगेगा।
2–4 माह	वस्तुओं के पास पहुँचने का प्रयास, पर सटीक नहीं
3–3½ माह	प्रायः दोनों हाथ एक साथ बांधना
3½-4 माह	देखकर उद्देश्यपूर्ण पहुँच का प्रयास
3–7 माह	छोटी वस्तुयें हाथ में पकड़ना
4–8 माह	वस्तुओं को एक हाथ से दूसरे में पकड़ना, मध्यम आकार की वस्तुओं को उठाना
4–10 माह	सही सही आगे तथा बगल की वस्तु तक पहुँचना
5–9 माह	छोटी वस्तुयें झुक कर उठाना
7–9 माह	जानबूझकर वस्तुओं को छोड़ना व गिराना
7–12 माह	अंगूठे व उंगलियों के प्रयोग से वस्तु उठाना
10 माह	उंगली से संकेत करना अथवा ठेलना
12–18 माह	क्रेयॉन को पूरे हाथ से पकड़ना, अंगूठा ऊपर की ओर रखना
2 वर्ष	क्रेयॉन को अंगूठे व सभी उंगलियों से पकड़ना, आगे की बाँह मोड़ना (कोहनी से) जिससे अंगूठा नीचे की ओर संकेत करे, चम्मच का खड़ी अवस्था (Upright position) में प्रयोग, लम्बवत् (vertical) रेखा बनाना

2½–3 वर्ष	बड़े मोतियों को धागे में डालना, कैंची से कागज काटना, क्षैतिज (Horizontal) रेखा बनाना, प्लेडो (playdoh) से साँप की आकृति बनाना, 4 क्यूब से बनी ट्रेन की आकृति की नकल करना
3–3½ वर्ष	छोटे पजल (Puzzles) खिलौने को हल करना, 9 छोटे ब्लॉक की मीनार (Tower) बनाना, कपड़े पहनना व उतारना पर Zip आगे–पीछे व बायें–दायें में उलझना
3½–4 वर्ष	छेद में Peg डालना, छोटे मोतियों की माला बनाना, पेन्सिल अंगूठे व दो उंगलियों में पकड़ना, लिखने, रंगने व चित्र बनाने में पूरी बाँह का प्रयोग 2 करना
4 से 4½ वर्ष	कैंची से सीधी रेखा व वृत्त को काटना, बटन व zip लगाना, क्रॉस(+) बनाना अर्थात् क्षेतिज व लम्बवत् रेखाओं का एक साथ प्रयोग करना
4½–5 वर्ष	कागज को आधा करके मोड़ना जिससे किनारे मिले रहें, ताले में चाभी डालना और खोलना, बिन्दुओं को जोड़कर आकृति बनाना, वर्ग की आकृति की नकल करना
5 वर्ष	जूते के फीते बाँधना, कैंची से चित्र व आकार को सही काट लेना, भोथरे चाकू से खाना फैलाना, त्रिकोण की नकल करना, सिर्फ अंगूठे व उंगलियों की सहायता से रंगना, लिखना, चित्र बनाना, अक्षरों की नकल करना
5½–6 वर्ष	दोनों हाथों के समन्वय से छोटी जटिल आकृति को काटना, कुछ अक्षर स्मृति से लिख पाना

इस प्रकार 6 वर्ष की आयु तक बालक में सूक्ष्म गतिपरक योग्यताओं का विकास हो जाता है। वह अच्छी तरह अपने आप कपड़े पहन सकता, लिख सकता व खा सकता है। इस आयु तक लिखने तथा काटने के लिये आवश्यक निपुणता, उभयपक्षी समन्वय, आँखों व हाथों का समन्वय बालक को प्राप्त हो जाता है। इस आयु तक इन क्षमताओं की आधारशिला रख दी जाती है। इनमें विकास तो जीवन भर होता रहता है। यही कारण है कि इस आयु में बच्चों को खिलौने, खेल व अन्य क्रियाओं की आवश्यकता होती है। इनके माध्यम से वे पूर्व बाल्यावस्था में अपनी इन क्षमताओं को विकसित कर सकते है।

8.7 सकल गतिपरक विकास (Gross Motor Skill Development)

सकल गतिपरक विकास बच्चे के बड़ी मांसपेशियों के प्रयोग की क्षमता से सम्बद्ध है। सकल गतिपरक क्षमतायें सम्पूर्ण शरीर की गतियों से सम्बन्धित होती है। इनकी सहायता से रोजमर्रा के कार्यों का सम्पादन संभव होता है। इस क्षमता को प्राप्त कर बालक खड़ा होता है, चलता है, दौड़ता है और सीधा बैठ पाता है। इसमें आँख व हाथों के समन्वय की भी आवश्यकता होती है। गेंद के साथ खेलने में हाथ–पैर–आँखों–सबके समन्वय की आवश्यकता होती है। विकास की अवस्थायें आपस में सम्बद्ध हैं। जब तक पहली अवस्था का विकास नही होगा, दूसरी अवस्था का विकास प्रारम्भ नहीं हो सकता। निम्न तालिका में सकल गतिपरक विकास विभिन्न आयु अवस्था में प्रस्तुत किया जा रहा है।

तालिका सं0 8.5

सकल गतिपरक विकास का विवरण

आयु	विकास के Milestones
0–6 माह	• पेट के बात से पलट कर पीठ के बल तथा पीठ के बल से पलट कर पेट के बल घूमना। • पहले सहारे से फिर स्वतंत्र रूप से बैठना
6–12 माह	• पेट के बल आगे खिसकना • बिना सहायता के बैठना • हाथ व पैरों के बल रेंगना • कभी बैठना, कभी पेट के बल लेटना, कभी चौपाये की तरह स्थित होना • अपने को खींच कर खड़ा करना • फर्नीचर पकड़ कर चलना • 2–3 कदम बिना सहायता के चलना • बड़ों की नकल कर बॉल फेंकना
18 माह	• बैठना, रेंगना (Crawl), चलना

	• पैर फैलाकर चलना, पर पहले से कुछ नियंत्रण ज्यादा • बॉल को पैर से लुढ़काना
2 वर्ष	• प्रवाह से चलना तथा किनारों पर मुड़ना • दौड़ना प्रारम्भ • चलते–चलते खिलौने को खींच पाना • स्वतंत्र रूप से फर्नीचर पर चढ़ना व उतरना • सीढ़ियों पर सहायता से चढ़ना–उतरना • जमीन पर गिरे खिलौने बिना स्वयं गिरे उठा लेना
3 वर्ष	• एक पैर पर खड़े होने की नकल करना • दो अंगों का चालन एक साथ करने की नकल करना (यथा–दोनों हाथ ऊपर उठाना) • सीढ़ियाँ चढ़ना • साइकिल चलाना • दोनों पैरों से ऊपर चढ़ना व नीचे उतरना • दोनों पैरों से उछलना • एड़ी या अंगूठे पर चलना • उछल कर पकड़ना
4 वर्ष	• 5 सेकेण्ड तक एक पैर पर खड़े रहना • बॉल को सामने मारना • बॉल को बाहों के ऊपर से फेंकना • उछलती हुई गेंद को पकड़ना • बाधाओं के चारों ओर दौड़ना • एक रेखा पर चलना • एक पैर पर उछलना • किसी वस्तु के ऊपर से उछल कर दोनों पैरों से जमीन पर

	आना
5 वर्ष	• कोई वस्तु हाथ में पकड़ कर सीढ़ियाँ चढ़ना • एड़ी या पंजे पर पीछे की ओर चलना • 10 बार बिना गिरे आगे कूदना • देखकर आगे की ओर रस्सी कूदना • 5 सेकण्ड तक एक डंडे से लटकना • बॉल फेंकते हुये आगे चलना • सिर्फ हाथों से एक छोटी गेंद को पकड़ना
6 वर्ष	• पंजों पर हलके से दौड़ना • Balance beam पर संतुलन करते हुये चलना • रस्सी कूदना • 2 मीटर तक कूदते हुये जाना • फेंकने व पकड़ने की योग्यता में परिपक्वता • कूदने में परिपक्वता

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 6 वर्ष की आयु तक बालक का नियन्त्रण अपने अवयवों पर हो जाता है। इस आयु में बच्चों को सक्रिय रखना अत्यन्त आवश्यक है। वे जितना ज्यादा अभ्यास करेंगे, उतना ही सकल गतिपरक क्षमताओं का विकास होगा।

बोध प्रश्न

टिप्पणी – (क) नीचे दिये गये रिक्त स्थान में अपने उत्तर लिखिये।
(ख) इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर का मिलान कीजिए।

1. विकास के संदर्भ में Milestone का क्या अर्थ है?

....

....

2. Milestones किन क्षेत्रों से सम्बन्धित है?

....

....

3. जन्म से 3 माह में सामान्य हृदय गति कितनी होती है?

....

....

4. किस आयु में बच्चे जूते के फीते बाँध सकते हैं?

....

....

5. किस आयु में बच्चे स्वतत्र रूप से सीढ़ी चढ़ सकते हैं?

....

....

8.8 आयु के अनुसार विकास में मील के पत्थर (Age-wise Developmental Milestones)

Milestones के दृष्टिकोण से जन्म से प्रथम वर्ष बहुत महत्वपूर्ण है। इस आयु में बच्चे बहुत तेजी से विकसित होते हैं। प्रत्येक माह कुछ नई गतिविधियाँ व क्षमतायें बच्चे में परिलक्षित होती हैं। आयु के अनुसार Milestones का विवरण निम्नलिखित है–

8.8.1 1 से 4 माह –

I. शारीरिक विकास के Milestones

- सिर, छाती व पेट एक से माप के होते हैं।
- सिर का व्यास 2 सेमी0 प्रत्येक माह 2 माह तक तथा 1.5 सेमी0 प्रत्येक माह तीसरे व चौथे महीने में बढ़ता है। यह वर्द्धि मस्तिष्क वृद्धि की परिचायक होती है।
- पेट की मांसपेशियों की सहायता से साँस लेता है।
- मस्तिष्क का पीछे वाला तथा आगे वाला भाग (Posterior fontanelle and Anterior forntanelle) अभी जुड़ा नहीं होता है।

- त्वचा संवेदनशील होती है और जल्दी ही उत्तेजित हो जाती है।
- पैर सीधे नहीं धनुषाकार से होते है।
- क्रन्दन के साथ आँसू भी आ जाते हैं।
- मसूड़े लाल होते हैं।
- चौथे माह तक बालक दोनों आँखों के समन्वय से देखने लगता है। (Binocular vision)
- प्यार भरे शारीरिक स्पर्श के प्रति प्रतिक्रिया देने लगता है।
- भूख, प्यास व तकलीफ व्यक्त करने लगता है।
- दृष्टि क्षमता अभी कमजोर रहती है। वस्तुओं पर दृष्टि केन्द्रित कर प्रतिकृति नहीं बना पाता।

II. गतिपरक विकास के Milestones

- चूसने (Sucking) तथा Rooting (उद्दीपक की तरफ मुँह घुमाना, यथा—माँ की ओर मुँह घुमा कर चूसने की क्रिया करना) की सहज क्रियायें विकसित रहती है।
- जीभ का संचालन व निगलने की क्रिया अपरिपक्व होती है।
- पकड़ने की सहज क्रिया होती है।
- Landau Reflex 2-2½ मास में विकसित होता है। इसका अर्थ है जब बालक को अधोमुख (Prone) स्थिति में रखा जाये, तो सिर सीधा रहता है तथा पैर पूरे फैले रहते है।
- पकड़ने के लिये पूरे हाथ का प्रयोग करता है। हाथ पक़ड़ने पर भी वे खुली अवस्था में ही रहते हैं।
- गतियाँ बड़ी व झटके से होती है।
- उलटा लिटाने पर सिर व ऊपर का शरीर उठाता है।
- सीधा लेटने पर (Supine position) सिर दोनों तरफ घुमाता है। सिर शरीर की सीध में ऊपर नहीं उठा पाता है।
- शरीर का ऊपरी भाग ज्यादा सक्रिय रहता, अपने हाथ चेहरे के ऊपर लाकर बाँध सकता है, हाथ हिलाता है, वस्तुओं तक पहुँचने का प्रयास करता है।

8.8.2 4 से 8 माह

I शारीरिक विकास के Milestones

- सिर, छाती का व्यास एक समान होता है।
- सिर का व्यास प्रतिमाह 1 सेमी0 की दर से 6 से 7 माह तक बढ़ता है, फिर 0.5 सेमी0 की दर से प्रतिमाह बढ़ता है। सिर के व्यास में नियमित वृद्धि स्वस्थ मस्तिष्क विकास की द्योतक है।
- मस्तिष्क का पिछला भाग (Posterics fontanelle) इस समय तक बंद हो जाता है या हो रहा होता है।
- साँस अभी भी पेट से लेता है। श्वसन गति क्रियाशीलता पर निर्भर करती है। यह बच्चों में अलग–अलग होती है।
- दाँत आना शुरू हो जाते हैं। पहले नीचे व ऊपर के सामने के दाँत (Incisors) आते हैं। इस समय मसूड़े लाल व सूज जाते हैं। बच्चा लार गिराने लगता है। कोई भी वस्तु मुँह में रखकर काटने या चबाने लगता है।
- पैर अभी भी धनुषाकार लगते हैं, जो बच्चे की वृद्धि के साथ ठीक हो जाते हैं।
- जाँघों, बाँहों के ऊपरी हिस्से व गर्दन में चर्बी आने लगती है।
- आँखों का वास्तविक रंग आ जाता है।

II गतिपरक विकास

- सहज क्रियाओं में परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है।
- आँख झपकाने की सहज क्रिया बच्चे में आ जाती है।
- चूसने की क्रिया स्वैच्छिक हो जाती है।
- एकाएक नीचे करने पर बच्चे हाथ फैलाकर अपना संतुलन बनाने का प्रयास करते हैं।
- निगलने की सहजक्रिया आ जाती है।
- उंगलियों व अंगूठे के प्रयोग द्वारा वस्तु पकड़ने लगना (Pincer Grip)
- पहले वस्तु पकड़ने को दोनों हाथें का प्रयोग करता है। बाद में सिर्फ एक हाथ से पकड़ने लगता है।
- एक हाथ की वस्तु दूसरे हाथ में ले सकता है। पूरे हाथ से वस्तु पकड़ता है। (Palmer grasp)
- वस्तुओं का पकड़ता, हिलाता व उस पर प्रहार भी करता है। सब वस्तुयें मुँह में रखता है।

- बोतल पकड़ लेता है।
- अकेले अपने हाथों के सहारे सिर सीधा व पीठ सीधी करके बैठ पाता है।
- घुटनों व हाथों के बल उठकर झूलता है। पर अभी आगे नहीं बढ़ता है।
- पीठ के बल लेटने पर सिर उठा लेता है।
- पलटने लगता है।
- पेट के बल रहने पर कभी–कभी पीछे खिसक जाता है।
- 7वें माह में गिरी वस्तुओं को ढूंढ़ने लगता है।
- 'Peek-a-boo' (छुपम–छुपाई) जैसे खेल खेलता है।
- 'ना' का अर्थ नहीं जानता। 'खतरे' का भान भी नहीं होता।

8.8.3 8 से 12 माह

I शारीरिक विकास

- श्वसन गति क्रियाओं के अनुसार अलग–अलग होती है।
- शरीर के तापमान को वातावरण की दशायें, मौसम, क्रियाशीलता तथा कपड़े प्रभावित करते हैं।
- सिर व छाती का व्यास एक समान रहता है।
- मस्तिष्क का आगे का हिस्सा (Anterior tontanelle) बंद होना प्रारम्भ हो जाता है।
- अभी भी पेट से ही साँस लेता है।
- इस समय दाँतों की संख्या बढ़ जाती है। पर, कुछ बच्चों में दाँत देर से भी निकलते हैं।
- टाँगों व पैरों की अपेक्षा बाहें व हथेलियाँ ज्यादा विकसित होती हैं।
- पैर अभी भी थोड़े धनुषाकार दिखते हैं।
- गर्दन, जाँघों व ऊपरी बाहों पर चर्बी की परत रहती है।
- पाँव सपाट होते हैं, उनमें चाप (Curve) नहीं होता।
- आँखों में द्विनेत्रीय समन्वय (Binocular coordination) आ जाता है।
- इस आयु में बच्चे 4 से 6 मीटर दूर की वस्तुयें देख कर उधर संकेत कर सकते हैं।

II गतिपरक विकास

- एक हाथ से खिलौने या वस्तु को पकड़ सकता है।
- वस्तुओं को एक हाथ से दूसरे हाथ में बदल कर ले सकता है।
- वस्तुओं को उंगली से ठेलकर छानबीन करने का प्रयास करता है।
- अंगूठे व उंगली से छांटी वस्तुयें, खिलौने या भोजन को उठाने का प्रयास करता है।
- वस्तुओं को गड्डी में लगा सकता है और एक–दूसरे के अन्दर भी डाल सकता है। यथा–बड़े डिब्बे में छोटे को डालना।
- वस्तुओं को गिराकर या फेंक कर छोड़ता है, जानबूझकर नियत स्थान पर अभी नहीं रख पाता है।
- खड़े होने का प्रयास करता।
- फर्नीचर की सहायता से अकेले खड़े हो सकता है। चलने में बाधा डालने वाली वस्तुओं, जैसे खिलौना, के बगल से चलता है।
- बैठने में संतुलित रहता व बिना गिरे अपनी स्थिति बदल सकता है।
- हाथ–पैरों पर रेंगता (creep) है।
- घुटनों के बाद चलने लगता है।
- वयस्कों की सहायता से उनका हाथ पकड़ कर चल लेता है। कुछ बच्चे बिना सहायता के भी इस समय तक चलने लगते हैं।
- अपने आस–पास लोगों को, वस्तुओं को तथा क्रियाओं को देखने लगता है।
- दूर दिखने वाले खिलौनों को पाने की चेष्टा करता है।
- उल्टी तरफ से भी वस्तुओं को पहचान लेता है।
- जान बूझकर वस्तुये गिराता है इसे दोहराता है और ध्यान से देखता है।
- कुछ क्रियायें देखकर नकल करता है, जैसे ड्रम बजाना।
- इस समय तक बच्चे अपने भावों को अभिव्यक्त करने का प्रयास करने लगते हैं।

III संज्ञानात्मक विकास

- आवाज के प्रति प्रतिक्रिया व्यक्त करता है।
- नयी जगह वातावरण को ध्यान से देखता है।

- वस्तुओं से ज्यादा देर तक लोगों को देखता है।
- लोगों के बीच फर्क समझने लगता है। अनजान व्यक्तियों को देखकर घूरता है या रोने लगता है।
- सरल निर्देशों का पालन करता है।
- शीशे में स्वयं को देखकर उसे थपकी देता है।
- 'ना–ना' कहने पर जो कार्य करता है उसे बंदकर देता है।
- कार्यों व हाव–भाव की नकल करता है।

IV सामाजिक व संवेगात्मक विकास

- आँखों से सम्पर्क स्थापित करता है।
- स्वतः मुस्कराता है।
- लोगों का ध्यान अपनी तरफ चाहता है।
- शीशे में प्रतिबिम्ब देख कर मुस्कुराता है।
- अनजाने लोगों से अलग व्यवहार करता है।
- 'ना' कहने पर सुनता है।
- खेलों में सहयोग करता है।
- दूसरों को अपने खिलौने दिखाना है।
- दूसरों के सरल कार्यों की नकल करता है।

V भाषाई विकास

- अपना नाम पहचानता है।
- कुछ जरूरत होने पर रोने के बजाय गले से आवाज करता है।
- नये शब्द ध्यान से सुनता है।
- जाने हुये शब्दों की नकल का प्रयास करना। जैसे बाय–बाय।
- कुछ कहने पर वह क्रिया करता है। जैसे 'खाओ' से खाना उठा लेता है।
- किसी वस्तु के बारे में पूछने पर, उसको देखता है। जैसे 'बॉल' कहने पर उसे देखता है।
- संगीत सुनकर साथ में आवाजें निकालता है।
- वस्तुओं के नाम पहचानता है। जैसे–चम्मच, कप आदि।

8.8.4 12 से 24 माह

I शारीरिक विकास

- इस समय तक बच्चे का वजन जन्म के वजन से करीब तीन गुना हो जाता है।
- श्वसन गति क्रियाओं व संवेगों के अनुसार होती है।
- इस आयु में विकास की गति पहले सी धीमी हो जाती है।
- सिर का विस्तार धीमी गति से होता है। प्रत्येक 6 माह में इसमें 1.3 सेमी0 की वृद्धि होती है। 18वें मास तक मस्तिष्क का आगे का भाग बंद हो जाता है तथा खोपड़ी की हड्डियाँ मोटी होने लगती है।
- अब छाती का व्यास सिर के व्यास से बड़ा हो जाता है।
- पैर अभी भी एकदम सीधे नहीं होते है।
- जैसे बच्चे चलना शुरू करते हैं, उनकी चर्बी (Baby Fat) घटने लगती है।
- शरीर का आकार अब बड़ों की तरह होने लगता है। पर, अभी भी ऊपरी भाग भारी, पेट बाहर निकला तथा पीठ थोड़ी झुकी रहती है।

II गतिपरक विकास

- घुटनों के बल तेजी से चलता है।
- अपने आप खड़े होने पर पैर दूर–दूर होते हैं, टांगे तनी रहती हैं और बाहें सहारे के लिये खुली रहती है।
- बिना सहायता के उठकर खड़ा हो सकता है।
- 2 साल पूरे होते सब बच्चे अपने आप चलने लगते हैं । प्रायः गिरते रहते है और राह में पड़ी वस्तुओं (खिलौने आदि) को पार नहीं कर पाते हैं।
- जमीन पर बैठने के लिये फर्नीचर की सहायता लेते है अथवा आगे हाथों के बल गिरकर तब बैठते हैं अथवा पीछे गिर कर बैठते हैं।
- चलते समय खिलौने को खींचना पसन्द करते हैं।
- बार–बार वस्तुये उठाकर फेंकते हैं।
- दौड़ने का प्रयास करते है। दौड़ने पर रूकने में गिर पड़ते हैं।
- हाथों–पैरों से चोपायों की तरह सीढ़ियाँ चढते व उतरते हैं।
- एक छोटी कुर्सी पर बैठ पाते हैं।

- खिलौने एक जगह से दूसरी जगह ले जाते हैं।
- क्रेयॉन से कागज पर पूरी बाँह का प्रयोग कर घसीट कर लिखते हैं।
- अपने आप खा पाते हैं। चम्मच पकड़ना, ग्लास या कप से पीने का प्रयास करते हैं। इस समय खाना गिरता भी है।
- किताब का पृष्ठ पलट सकते हैं।
- 2 से 6 वस्तुओं की गड्डी लगा सकते हैं।

III संज्ञानात्मक विकास

- वस्तुओं को छुपाना पसन्द करते हैं। इस आयु काल के शुरू में छिपी वस्तु एक ही जगह ढूंढ़ते हैं जहाँ उसे छुपाना उन्होंने देखा होता है। इस आयुकाल के अंत तक वे कई अन्य स्थानों पर भी ढूंढ़ने का प्रयास करते हैं।
- एक वस्तु हाथ में होने पर, अन्य वस्तु दिये जाने पर पहली को दूसरे हाथ में लेकर, फिर, नयी वस्तु उस हाथ में लेते हैं। इसे 'Crossing the midline'–एक महत्वपूर्ण न्यूरोलॉजिकल विकास कहते हैं।
- नयी वस्तु दिये जाने पर एक वस्तु जमीन या गोद में रखकर उसे ले लेता है। इस तरह 3–4 वस्तुओं को एक साथ संभाल सकता है।
- अब मुँह में वस्तुयें कम डालते है।
- चित्र देखना पसन्द करते हैं।
- वस्तुओं में कार्यकारी सम्बन्ध (Functional relationship) की समझ प्रदर्शित करता है। जैसे चम्मच को कटोरी में डाल कर मुँह में रखकर खाने की क्रिया का प्रदर्शन करना। प्याले को प्लेट में रखकर फिर प्याले से पीने की क्रिया करना आदि।
- खिलौना दूसरे व्यक्ति को देखने को देता है।
- रोजमर्रा की वस्तुओं के नाम जानने लगता है।
- विशिष्ट व भिन्न आकारों को अलग–अलग पहचान सकता है। 3 भागों वाला Puzzle बना सकता है।
- छोटी वस्तुयें किसी बोतल में डालकर उसे पुनः पलट कर निकाल सकता है।
- यान्त्रिक खिलौने को देखकर चलाने का प्रयास करता है।
- प्रतिक्रिया के समय चेहरे पर कुछ भाव आना शुरू हो जाते हैं।
- इसी आयु में Autism से पीड़ित बच्चों को पहचाना जा सकता है।

IV भाषाई विकास

- कुछ शब्द व कुछ आवाजें मिलाकर अपनी बात प्रकट करता है।
- पहले एक शब्द, फिर दो शब्दों का प्रयोग कर अपनी बात समझा देता है।
- बोलने पर निर्देषों का पालन करता जैसे बैठ जाओ।
- पूछने पर इषारे से पूछी गई वस्तु को इंगित करता है।
- शरीर के हिस्सों का नाम पहचानने लगता है। पूछने पर तीन अंगों का नाम इशारों से बता सकता है।
- कुछ चाहने पर इशारों तथा एक–दो शब्दों का प्रयोग करता है। यथा– पानी, दूध आदि।
- सिर सही दिशा में हिलाते हुये प्रश्न के उत्तर में हाँ या ना कहता है।
- इस आयु में बच्चे जो कहते हैं, उसमें से 25 से 50: तक समझने योग्य होता है।
- दो वर्ष की आयु तक बच्चे 50 शब्द तक जानते हैं और बोल लेते हैं। ये शब्द जानवरों, भोजन व खिलौनों से सम्बन्धित होते हैं।
- बड़ों का ध्यान खींचने के लिए उन्हें खींचते या इशारा करते हैं।
- गाना व तुकबन्दी पसन्द करने और उसमें भाग लेने का प्रयास करते हैं।
- आवाजों को कहने पर दोहराते हैं। जैसे–म्याऊँ या भो भो करना।

V सामाजिक व सांवेगिक विकास

- अनजान व्यक्तियों को देखकर अब कम चौकन्ने होते हैं।
- खिलौने उठाने व रखने में मदद करते है।
- अकेले भी खेल लेते हैं।
- कहानी सुनना व गोद में उठाये जाना पसन्द करते हैं।
- खेल में बड़ों की नकल करते है।
- बड़ों का साथ पसन्द करते हैं। बड़ों को चुम्बन व आलिंगन देना पसन्द करते हैं।
- अपने को शीशे में पहचानते हैं।
- दूसरे बच्चों का साथ पसन्द करते हैं, पर खेलने में सहयोग नहीं करते हैं।
- स्वतंत्र रूप से कार्य करना चाहते हैं। रोजमर्रा के कार्य, यथा–नहाना, खाना

आदि– दूसरे से करवाने से मना करते हैं।

- यदि थके हों या कुछ मन के अनुसार न हो, तो हाथ पैर पटकते हैं।
- इस समय वे व्यक्तियों व आस–पास के वातावरण को खोजने की इच्छा करते हैं। इस समय उनका ध्यान रखने की जरूरत है जिससे वे गलत हाथों में न पड़ जायें।

8.8.5 दो वर्ष

I शारीरिक विकास

- इस आयु में बच्चे सीधे बैठते हैं। पेट अभी भी बड़ा व बाहर की ओर निकला होता है। अभी भी पेट की मांसपेशियाँ पूरी तरह विकसित नहीं होती हैं।
- श्वसन क्रिया धीमी व नियमित होती है।
- शरीर का तापमान क्रिया, संवेगों व वातावरण से प्रभावित रहता है।
- मस्तिष्क वयस्क मस्तिष्क के आकार का 80: हो जाता है।
- 16 दाँत निकल आते हैं

II गतिपरक विकास

- बच्चा सीधा और बाधाओं को पार करता हुआ चल सकता है।
- खेलते समय पलथी मार कर काफी देर बैठ सकता है।
- सीढ़ियाँ अपने आप, पर एक पैर से ही, चढ़ लेता है।
- एक पैर पर थोड़ी देर के लिये संतुलन बना कर खड़ा हो सकता है। ऊपर व नीचे कूद सकता है, पर गिर भी सकता है।
- इस आयु तक प्रायः बच्चे शौच सम्बन्धी आवश्यकतायें बताने लगते हैं। अथवा वे इसमें प्रशिक्षण के लिये तैयार हो जाते हैं।
- बच्चे छोटी गेंद बिना संतुलन खोये नीचे हाथ करके फेंक सकते हैं। एक हाथ में छोटा प्याला या मग पकड़ सकते हैं। बड़े बटन व जिप खोल–बंद कर सकते हैं।
- दरवाजा हैन्डिल घुमा कर खोल सकते हैं।
- बड़े क्रेयॉन मुठ्ठी में पकड़ कर लिख सकते है।
- कुर्सी पर चढ़कर घूम कर बैठ सकते हैं।
- चार–छः वस्तुओं की गड्डी एक के ऊपर एक लगा सकते हैं।

- पैरों से पहिये वाले खिलौने चला सकते हैं।

III संज्ञानात्मक विकास

- आँखों व हाथों का समन्वय बेहतर हो जाता है, वस्तुयें एक साथ तोड़ व जोड़ सकते हैं। बड़ी कीलों को बोर्ड में फंसा सकते है।
- किसी वस्तु में किसी और की कल्पना करके प्रयोग कर सकते है। यथा–ब्लॉक को नाव की तरह चलाना।
- एक आयामी वर्गीकरण कर सकते हैं। यथा गाड़ी को गुड़िया से अलग करना।
- आसपास के वातावरण से नई चीजें जानने का प्रयास करते हैं। जैसे–बॉल कहाँ गई? आवाज कहाँ से आई?
- अपनी रूचि वाली क्रियाओं में ज्यादा समय व्यस्त रहते हैं। कारण व परिणाम जानने का प्रयास करते हैं। जैसे– खिलौने वाली बिल्ली का पेट दबाने से 'म्याऊँ' की आवाज आती है।
- घनिष्ठ लोगों की अनुपस्थिति जानता है, वे कहाँ हैं– यह भी जानता है। किसी वस्तु को सबसे पहले पिछली बार छुपाई जगह में ढूंढ़ता है।
- सुपरिचित वस्तुओं का नाम जानता है।
- दर्द जानता है, बताता है और कहाँ है यह भी बताता है।
- सामने अनुपस्थित वस्तु व घटनाओं को बता सकता है।
- सब बातें जानने की चेष्टा करता है।

IV भाषाई ज्ञान

- पढ़कर सुनना पसन्द करता है।
- शब्दकोश बढ़ता जाता है। 50 से 300 तक शब्दों का प्रयोग करता है।
- दो वर्ष के बच्चे अपनी बात भाषा में बता पाते हैं।
- इस आयु में बच्चे समझते ज्यादा हैं, अपनी बात अभिव्यक्त कम कर पाते हैं।
- 3–4 शब्दों के वाक्य का प्रयोग करता है।
- 'नहीं' शब्द के प्रयोग से नकारात्मक अर्थ के वाक्य बनाता है। जैसे– और दूध नहीं।
- कुछ बहुवचन शब्दों का प्रयोग भी करता है।

- इस आयु में भाषा में प्रवाह (Fluency) कम होती है।
- बोली का 65 से 70 प्रतिशत भाग समझ में आता है।
- जरूरतों के लिये शब्दों का प्रयोग करता है।
- इस आयु में बच्चे ढेर सारे प्रश्न करते हैं।

V सामाजिक व सांवेगिक विकास

- इस आयु में बच्चों में तदनुभूति तथा परवाह की भावना दिखती है। दूसरे बच्चे को चोट लगने व डरने पर वे उसे प्यार करने लगते हैं।
- जब बच्चे निराश या क्रोधित होते हैं तो हिंसात्मक व्यवहार करने लगते हैं। जैसे–जैसे शाब्दिक क्षमता बढ़ती है, हिंसात्मक व्यवहार कम हो जाता है।
- इस समय उत्तेजित जल्दी हो जाते हैं और उस समय किसी की नहीं सुनते हैं।
- इस आयु के बच्चों में धीरज की कमी होती है। हर चीज 'तुरन्त' चाहते हैं।
- घर के काम में मदद करना चाहते हैं। यथा गुड़िया को खिलाना, सुलाना आदि।
- माता–पिता से मांग तुरन्त पूरी करने की आशा रखते हैं।
- दूसरे बच्चों के खेल देखकर नकल करते है, पर उनके साथ अन्तःक्रिया नहीं करते है। अकेले खेल दोहराते हैं।
- दूसरे बच्चों को खिलौने नहीं देते हैं।
- चयन करना कठिन होता है। 'सब कुछ चाहिये' होता है।
- प्रायः अवज्ञा करते हैं।
- जो जैसा है, वैसा ही रखा जायेगा। नियम से सारा कार्य करते हैं।

8.8.6 तीन वर्ष

I शारीरिक विकास

- इस आयु में वृद्धि पहले के वर्षों की अपेक्षा धीमी गति से होती है।
- इस आयु में बच्चे की लम्बाई से वयस्क आयु की लम्बाई का पूर्वानुमान लगाया जा सकता है। इस समय लड़के अपनी वयस्क लम्बाई के 53: तथा लड़कियाँ 57: होती हैं।
- टाँगे बाहों की अपेक्षा ज्यादा तेजी से बढ़ती हैं।
- सिर व छाती का व्यास एक समान होता है।
- गर्दन दिखने लगती है।

- पेट अन्दर हो जाता है। Posture सीधा रहता है।
- नीची सीढ़ी से कूद सकता है।
- पंजे के बल खड़ा हो सकता व चल सकता है।
- दूध के दाँत पूरे निकल आते हैं।
- इस समय बच्चों को 1500 कैलोरी रोज दी जानी चाहिए।

II गतिपरक विकास

- दोनों पैंरों से बिना सहायता के सीढ़ियाँ चढ़ – उतर सकता है। नीचे वाली अंतिम सीढ़ी से दोनों पैरों से कूद सकता है।
- कुछ क्षणों के लिये एक पैर पर संतुलन बना सकता है।
- बड़ी गेंदनुमा वस्तुओं को ढकेल सकता है।
- खाने में बहुत कम सहायता की आवश्यकता होती है।
- अपने स्थान पर कूद सकता है।
- एक ट्राइसिकिल चल सकता है।
- ऊपर हाथ करके गेंद फेंक सकता है।
- एक उछलती हुई बड़ी गेंद को दोनों हाथ बढ़ाकर पकड़ सकता है।
- झूला झूल सकता है।
- क्रेयॉन से खड़ी व बेड़ी रेखायें तथा वृत्त खींच सकता है।
- अब क्रेयॉन को दो उंगलियों तथा अंगूठे से पकड़ता है। (Tripod grasp)
- किताब के पन्ने एक–एक करके पलट सकता है।
- ब्लॉक से निर्माण कर पाता है। 8 ब्लॉक का प्रयोग कर लेता है।
- Clay आदि के साथ खेलता है।
- हाथ में द्रव पदार्थ लेकर चल सकता है। एक बर्तन से दूसरे में बिना गिराये उलट भी सकता है।
- हाथ धोता व पोछता है, मंजन करता है।
- इस आयु तक पेषाब पर पूर्ण नियन्त्रण हो जाता है।

III संज्ञानात्मक विकास

- कहानियाँ ध्यान से सुनता है।

- इन कहानियों के दौरान घर व परिवार की घटनाओं के संदर्भ में टिप्पणी भी करता है।
- किताबें देखना पसन्द करता है और चित्रों की सहायता से दूसरों को कहानी पढ़कर सुनाता भी है।
- जिन कहानियों में पहेली हो या अंदाज लगाना हो, वे ज्यादा पसन्द आती है।
- बोली स्पष्ट व समझ में आती है।
- शब्दों को बहुवचन में बोलने का प्रयास करता है।
- साधारण प्रश्नों का जबाब देता है। यथा–तुम क्या कर रहे हो? यह क्या है? कहाँ? आदि
- छः रंग पहचान सकता है।
- अपना नाम व आयु जानता है।
- दूसरों के देखकर व नकल करके तथा बड़ों के निर्देश व व्याख्या से सीखता है।
- किसी चीज में बहुत थोड़े समय के लिये ध्यान लगाता है।
- अतीत (पहले) तथा वर्तमान (अभी) की धारणा समझ में आने लगती है।

IV भाषाई विकास

- क्रिया शब्दों का प्रयोग करता है।
- 'मैं' और 'तुम' /'आप' का प्रयोग करता है।
- 'यह', 'वह' का प्रयोग करता है।
- एक रंग का नाम बता सकता है।
- पाँच तक गिन सकता है।
- अपने अनुभव को शब्दों में बता सकता है।
- एक कहानी सुना सकता है।
- 'क्या' 'कहाँ, समझता है।
- 'क्या', 'कहा', 'कब', 'कौन' का प्रयोग करता है।
- 4–5 शब्दों के वाक्य का प्रयोग करता है।
- 1000 शब्दों का शब्दावली हो जाती है।
- रोजमर्रा में प्रयोगवाले शब्दों को समझता है।

- किसी कार्य को करने के अनुरोध को मानने लगता है।
- अपना पूरा नाम, सड़क का नाम तथा नर्सरी राइम्स (Nursery Rhymes) बता सकता है।

V सामाजिक सांवेगिक विकास

- अपनी उपलब्धियों पर गर्व करता है, मदद नहीं लेना चाहता है।
- स्वतंत्र रहना चाहता है। बाहर जाने पर माता–पिता से आगे दौड़ता है।
- परिचित स्थानों में माँ से अलग हो जाता है।
- अतृप्त और तानाशाह जैसा व्यवहार करता है।
- तेज आवाज में बोलता जैसे अति आवश्यक बात हो।
- नये लोगों से मिलना पसन्द करता है।
- गुस्सा आने पर डॉटता है।
- दूसरे बच्चों के साथ खेलता व अन्तःक्रिया करता है।
- गाने व संगीत पर थिरकने लगता है।
- खिलौने बाँट कर खेलता है।
- नाटक करने में आनन्द अनुभव करता है।

8.8.7 चार वर्ष

I शारीरिक विकास

- 1700 कैलोरी की आवश्यकता प्रतिदिन होती है।
- तीन वर्ष की आयु के बाद सिर का व्यास प्रायः नहीं नापा जाता है।
- बालक की श्रवण शक्ति का आंकलन उसकी भाषा, आवाज और प्रश्नों व निर्देशों के प्रत्युत्तर से किया जा सकता है।

II गतिपरक विकास

- सीधी रेखा पर चल सकता है।
- एक पैर पर फुदक सकता है। (Hopping)
- एक ट्राइसिकिल चला सकता है और बाधाओं को पार भी कर सकता है।
- सीढ़ी, पेड़, खेल के मैदान के उपकरणों पर चढ़ सकता है।
- 5–6 इंच ऊँचे उपकरण को दोनों पैरों से कूद सकता है।

- बाधाओं के बीच आराम से दौडता, रूकता और फिर प्रारम्भ करता है।
- एक गेंद हाथ ऊपर करके दूर निशाना साध कर फेंक सकता है।
- 10 या ज्यादा ब्लॉक से मीनार बना सकता है।
- Clay से तरह–तरह के आकार बना सकता है।
- कुछ अक्षर और आकार बना सकता है।
- Tripod Graps से क्रेयॉन व मार्कर पकड़ सकता है।
- किसी विचार को लेकर चित्र बनाकर व रंग भरता है पर जो चाहता है वह बनता नहीं, तो उसे कुछ और नाम दे देता है।
- छोटे मोतियों की माला बना सकता है।
- एक वृत्त में दौड़ सकता है।

III संज्ञानात्मक विकास

- एक जैसे उच्चारण वाले शब्दों को पहचानता है।
- 18–20 अक्षरों को सुना सकता है व कुछ को लिख भी सकता है।
- कुछ बच्चे वर्णमाला की पुस्तक थोड़ी बहुत पढ़ने लगते हैं।
- कैसी चीजें पैदा होती हैं और कैसे चलती हैं? से सम्बन्धित कहानियाँ सुनना पसन्द करता है।
- 'सबसे बड़ा', 'सब्से ज्यादा', 'एकसा' जैसी अवधारणाओं की समझ आ जाती है।
- 20 तक गिनती याद कर लेता है।
- क्रमवार दैनिक क्रियाओं को समझने लगता है। यथा–उठना, नहाना, नाश्ता करना, स्कूल जाना आदि।
- कहानी अच्छे से सुनाने लगता है।
- 7 वस्तुओं तक बोलकर गिन सकता है, पर क्रम हमेशा सही नहीं भी हो सकता है।
- छोटे Puzzle बना सकता है।
- तीन चरण वाले निर्देशों का पालन कर सकता है।

IV भाषाई विकास

- 'ऊपर', 'अन्दर', 'नीचे' की अवधारणा समझने लगता है।

- 'उसका', 'उनका', मेरा', 'बच्चे का' आदि की अवधारणा समझ आने लगती है।
- लम्बे वाक्य बोलने का प्रयास करता है।
- बोली स्पष्ट हो जाती है।
- बोलचाल में व्याकरण का प्रयोग सही तरह से करने लगता है।
- अपना पूरा नाम, लिंग, भाई–बहनों के नाम, फोन नं0 आदि बता सकता है।
- अपने से छोटे बच्चे से बड़ों की तरह बात करता है।
- कवितायें सुनाता है, साधारण गाने गाता है।
- सामाजिक व सांवेगिक विकास
- मित्रवत्, उत्साही और बिन्दास
- मनःस्थिति में परिवर्तन जल्दी–जल्दी होता है। कभी हँसना, कभी रोना।
- कल्पना की बहुलता होती है। अपने आप से बाते करना और काल्पनिक मित्र के साथ खेलने की प्रवषत्ति होती है।
- बातों को बढ़ा–चढ़ाकर बताने की प्रवृत्ति होती है।
- समूह क्रियाओं में भाग लेता है।
- अपनी उपलब्धियों की सराहना बड़ों से चाहता है।
- प्रायः स्वार्थी प्रवृत्तियाँ प्रदर्शित करता है।
- अपने आप कार्य करना चाहता है, पर काम सहीं नहीं होने पर निराश होकर क्रोध करता है।
- दूसरे की भूमिका में कार्य करना पसन्द करता है। (Role Playing)
- इस समय बच्चे शारीरिक आक्रमण के बजाय शाब्दिक आक्रमण ज्यादा करते हैं। चिल्ला कर बोलना, धमकाना आदि करते है।
- सहपाठियों के साथ पक्की मित्रता का प्रारम्भ इसी समय से होता है।

8.8.8 पाँच वर्ष

I शारीरिक विकास

- सिर का माप वयस्क के बराबर हो जाता है।
- दूध के दाँत टूटने लगते हैं।
- शरीर का अनुपात वयस्कों की तरह हो जाता है।

- प्रतिदिन 1800 कैलोरी की आवश्यकता होती है।
- दृष्टि विकास अच्छी तरह हो जाता है।

II गतिपरक विकास

- एड़ी अथवा पंजों पर पीछे की ओर चल सकता है।
- दोनों पैरों से अपने आप सीढ़ियाँ चढ़ व उतर सकता है।
- कलाबाजियाँ भी सीख सकता है।
- बिना घुटना मोड़े अंगूठा झुककर छू सकता है।
- Balance Beam पर चल सकता है।
- दोनों पैरों से अलग–अलग रस्सी कूद सकता है।
- 3.3 फीट की दूरी से फेंकी गयी गेंद पकड़ सकता है।
- ट्राइसिकिल तेजी से चला सकता है।
- बिना गिरे आगे की ओर फुदक अथवा कूद सकता है।
- 10 सेकेण्ड के लिये किसी एक पैर पर खड़ा हो सकता है।
- चित्र अथवा मॉडल से देखकर छोटे क्यूब की सहायता से त्रिआयामी ढाँचे का निर्माण कर सकता है।
- तरह – तरह से आकार अथवा अक्षरों को लिख सकता है।
- पेन्सिल व मार्कर पर अच्छा नियंत्रण हो जाता है। लाइन के अंदर रंग भर सकता है।
- लाइन पर कागज काट सकता है।
- हाथ से ज्यादा काम करता है।
- प्रायः एक काल्पनिक मित्र बना लेता है जैसे– सुपरमैन

III संज्ञानात्मक विकास

- दो त्रिकोण आकृतियों से एक आयत बना लेता है।
- छोटे ब्लॉक से सीढ़ियाँ बना सकता है।
- समान आकार, माप की अवधारणा समझ सकता है।
- वस्तुओं को दो आयाम के आधार पर छाँट सकता है। जैसे–रंग व आकार के आधार पर।

- वर्गीकरण की अवधारणा समझ सकता है।
- छोटे से बड़े के क्रम को समझ सकता है।
- पहले से अंतिम के क्रम को भी पहचानता है।
- 20 से ऊपर, कभी–कभी 100 तक भी गिनती जानता है।
- 1 से 10 तक के लिखित नम्बर को पहचानता है।
- कम व ज्यादा की अवधारणा समझता है।
- अंधेरा, रोशनी, जल्दी, देर का अर्थ समझता है।
- घड़ी के समय से किसी दैनिक कार्य को जोड़ लेता है। यथा– ''जब 7 पर छोटी सुई हो, तब टी0वी0 देखने का समय है।''
- कुछ बच्चे घड़ी से समय देखना भी सीख लेते हैं।
- कैलेण्डर का प्रयोग जानते हैं। यथा–जब इस महीने की 10जी तारीख होगी, मेरा जन्मदिन होगा।'
- सिक्कों को पहचानता है। जोड़ता और पैसे जमा करना सीख जाता है।
- प्रायः बच्चे इस आयु तक वर्णमाला जान जाते हैं।
- 'आधे' का अर्थ समझता है।
- बच्चे इस आयु में बहुत कुछ जानना चाहते हैं। उनके अनेक प्रश्न होते हैं। क्यों?, क्या?, कहा?, कब? और कौन?

IV भाषाई विकास

- 1500 शब्दों की शब्दावली जानते हैं।
- चित्र देखकर कहानी सुना सकते हैं।
- किसी वस्तु को उससे सम्बद्ध क्रिया से परिभाषित करते हैं। जैसे–पलंग सोने के लिये है।
- चार से आठ रंगों को पहचान कर नाम बता सकते हैं।
- मजाक समझते हैं।
- 7 शब्दों के वाक्य बना सकते हैं। इससे ज्यादा बड़े वाक्य भी बना लेते हैं।
- अपने शहर का नाम, माता–पिता का नाम तथा अपना जन्मदिन बता सकते हैं।

- टेलीफोन पर बात कर पाते हैं।
- व्याकरण की दृश्टि से सही भाषा का प्रयोग करते है।

V सामाजिक व सांवेगिक विकास

- मित्रता पसन्द करते हैं। एक –दो खास मित्र बन जाते हैं।
- सहयोग से खेलते हैं। अपने खिलौने व वस्तुयें साझा करते हैं।
- सामूहिक खेल (क्रिकेट, फुटबॉल) में भाग लेते हैं। काल्पनिक खेलों का विचार भी साझा करते हैं। जैसे राम–रावण का युद्ध पुतलों की सहायता से खेलना।
- कष्ट में या अपने से कमजोर के प्रति स्नेह की भावना होती है।
- माता–पिता की बात मानते हैं।
- बड़ों से सुविधायें व आश्वासन की इच्छा रखते हैं।
- अपने संवेगों पर पहले से ज्यादा नियन्त्रण कर पाते हैं।
- हँसने–हँसाने वाले लोगों को पसन्द करते हैं।
- अपनी उपलब्धियों पर गर्व करते हैं।
- कोई काल्पनिक मित्र होता है।

8.8.9 6 वर्ष

I शारीरिक विकास

- आयु बढ़ने के साथ मांसपेशियों में वृद्धि होती है। इसमें वजन बढ़ता है।
- श्वसन गति तथा ह्दयगति वयस्कों के समान हो जाती है।
- शरीर लम्बा व पतला हो जाता है।
- स्थायी दाँत आना शुरू हो जाते हैं।
- दृष्टि 20/20 हो जाती है। यदि 20/40 से नीचे हो, तो डाक्टर के पास जाना चाहिये।
- ज्यादातर इस आयु में निकटदृष्टि (Myopi) की समस्या से बच्चे ग्रस्त होते हैं।
- प्रतिदिन 1600–1700 कैलोरी की आवश्यकता होती है।

II गतिपरक विकास

- सूक्ष्म गतिपरक (Fine Motor) तथा समग्र गतिपरक (Gross Motor) योग्यताओं पर नियंत्रण बढ़ जाता है।
- बालक तेजी से दौड़ना, कूदना, चढ़ना, फेंकना आदि पसन्द करता है।
- स्थिर नहीं बैठ पाता है।
- किसी कार्य में अब ज्यादा लम्बे समय तक ध्यान लगा सकता है।
- प्रयास पर जोर देता है।

- समय तथा गति की अवधारणा समझ पाता है।
- त्योहारों व अन्य गतिवधियों को पहचान पाता है। जैसे–होली में रंग खेलते व दीवाली में रोषनी करते हैं।
- समस्या समाधान की क्रिया पसन्द आती है।
- देखकर शब्दों का प्रयोग करने लगता है। जैसे–नाव तैर रही है।
- ठीक से वाचन (reading) कर सकता है।
- बाइसिकिल चलाना, तैरना, बल्ला चलाना, बॉल मारना आदि सीख सकता है।
- वस्तुएँ बनाना पसन्द करता है।
- कुछ अक्षरों को उलटा लिखता है। यथा –b/d, p/g आदि
- अनुरेखण (Tracing) कर सकता है।
- कागज को मोड़ सकता व काट सकता है।
- फीता बाँध सकता है।

III संज्ञानात्मक विकास

- किसी उद्‌देश्य की प्राप्ति के लिये योजना बना सकता है।
- 100 तक की गिनती सुना सकता है।
- मुहावरे व पहेलियों को समझता व प्रयोग करता है।
- जोक्स सुनाता है।
- अपना पता व फोन नं0 बता सकता है।
- महीनों के नाम बता सकता है।
- एक विशिष्ट छुट्‌टी किस महीने में है– बता सकता है।
- समय देखकर बता सकता है।

IV भाषाई विकास

- बायें–दायें हाथों में अन्तर कर सकता है।
- अज्ञात बातों की व्याख्या जादू या कल्पना से करने का प्रयास करता है।
- मृत्यु के बारे में कुछ अवधरणा होती है और मृत्यु से डरता है।
- बातें खूब करता है।
- जोक्स सुनाता है।
- इस समय संदह का प्रयोग करता और उसे हास्यास्पद (Funny) मानता है।
- रोजमर्रा की बातों व परिस्थितियों के प्रति खोजपूर्ण प्रवृत्ति होती है।
- बड़ों की तरह बात करने का प्रयास करता है।

- रोज 5–10 शब्द सीखता है और अब तक शब्दावली 10,000– 14,000 शब्दों की हो जाती है।
- व्याकरण की दृष्टि से सही भाषा का प्रयोग करने लगता है।

V सामाजिक व सांवेगिक विकास

- अप्रसन्न होने पर शब्दों का प्रयोग करता है।
- अपने आप से बात करके समस्याओं का समाधान विभिन्न चरणों में करने का प्रयास करता है।
- मनःस्थिति रोज बदलती है–कभी खुश कभी नाराज। इस का असर माँ–बाप पर ज्यादा पड़ता है।
- माँ–बाप से दोस्ती नहीं, पर निकटता व पोषण चाहिये होता है।
- अपनी ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहता है। माँ–बाप से प्रशंसा व आश्वासन की इच्छा रखता है।
- संसार को दूसरे के दृष्टिकोण से नहीं देख पाता है।
- बहुत जल्दी कोई भी काम न हो पाने पर निराश हो जाता है।
- उसके अनुसार जब न हो, तो परेशान हो जाता है।
- नैतिकता या मूल्यों को नहीं समझ पाता है।
- दूसरों द्वारा लागू किये मूल्यों को मानता है।
- अज्ञात जैसे अंधेरा, जानवर, षोर–गुल से भयभीत रहता है।

बोध प्रश्न

टिप्पणी – (क) नीचे दिये गये रिक्त स्थान में अपने उत्तर लिखिये।
(ख) इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर का मिलान कीजिए।

6. दूध के दाँत किस आयु में टूटने लगते है?

....

....

7. पहले जन्मदिन पर षिषु का भार कितना होता है?

....

....

8. लम्बाई में वषद्धि की दर सबसे ज्यादा किस आयु में और कितनी होती है?

....

....

8.9 अभ्यास के प्रश्न

1. मानव विकास के संदर्भ में मील के पत्थर का क्या अर्थ है? उनकी क्या विशेषतायें हैं?
2. विकास सम्बन्धित कौन से क्षेत्र Milestone की परिधि में आते हैं? शैशवावस्था की शारीरिक विशिष्टताओं का विवरण दीजिए।
3. सूक्ष्म व सकल गतिपरक योग्यताओं में क्या अन्तर है? 6 वर्ष की आयु तक इस क्षेत्र में क्या विकास हो जाता है?
4. 1 से 4 माह तक शारीरिक विकास के Milestones का विवरण दीजिये।
5. 1 से 2 साल की आयु के मध्य संज्ञानात्मक क्षेत्र में क्या विकास होता है? वर्णन कीजिए।
6. 4 वर्ष की आयु में भाषाई विकास के MilestoneS की सूची बनाइये।
7. 5 वर्ष की आयु में सामाजिक व सांवेगिक विकास पर टिप्पणी लिखिये।
8. छः वर्श की आयु में विभिन्न क्षेत्रों में विकास के Milestones का वर्णन कीजिए।

8.10 सारांश

प्रस्तुत इकाई में विकास के MilestoneS का वर्णन किया गया है। मानव विकास में MilestoneS का अर्थ 'किसी एक योग्यता का अर्जन' होता है। यह मानव जीवन की एक महत्वपूर्ण घटना होती है। अतः इसे Milestone कहा जाता है। Milestone की विशेषताओं का वर्णन भी इकाई में किया गया है। जन्म के उपरान्त प्राणी निम्न क्षेत्रों में कौशलों का अर्जन करता है– शारीरिक, गतिपरक, संज्ञानात्मक, भाषाई तथा सामाजिक व सांवेगिक। प्रथम वर्ष में अनेक महत्वपूर्ण Milestone की प्राप्ति शिशु करता है। इस समय वृद्धि की गति अधिकतम होती है। जन्म पर असहाय शिशु एक वर्ष की आयु तक खड़ा होने लगता है। शारीरिक वृद्धि के साथ अन्य क्षेत्रों में वृद्धि प्रारम्भ हो जाती है। विकास के सभी क्षेत्रों में आयु के अनुरूप Milestone का विवरण इस इकाई में दिया गया है। जन्म से 6 वर्ष तक की आयु में अर्थात् पूर्वबाल्यावस्था में प्रतिवर्ष होने वाले बदलाव व Milestone का पूर्ण विवरण इस इकाई में दिया गया है।

8.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. किसी विशिष्ट योग्यता का अर्जन

2. शारीरिक, गतिपरक, संज्ञानात्मक, भाषाई, सामाजिक सांवेगिक।

3. 100–150

4. 5 वर्ष की आयु

5. 3 वर्ष

6. 5 वर्ष

7. जन्मभार का तीन गुना

8. 1 से 4 माह की आयु में 2.5 सेमी0 प्रतिमाह

8.12 संदर्भ ग्रंथ

1. Behrman, R.E. (1993), *Nelson Text Book of Pediatrics*, Harcourt Brace & company Asia PTE Ltd., Singapore.

2. Harrison, V.C. (2000), *Handbook of Paediatrics*, Oxford University, Press Mumabi.

3. Developmental Milestones Record: Medline Plus Encyclopedia retrieved from ww.nlm.nih. gov/medlineplus/eney/article/002002.htm.

4. Development Milestones-University of Michigan Health System retrieved from ww.med.umich.edu/yourchild/topics/devmile.htm.

5. www.kidscando.org.

6. www.childsupport.in

7. www.spokanecpt.com

8. www.en.m.wikipedia.org.

9. www.medicine.ted.ie

इकाई–9 पूर्व बाल्यावस्था को प्रभावित करने वाले वातावरण के कारक (Environmental Factors Intfluencing Early Childhood Develoment)

संरचना

9.1 प्रस्तावना

9.2 उद्देश्य

9.3 वातावरण का अर्थ

9.4 वातावरण की विशेषतायें

9.5 वातावरण का महत्व

9.6 वातावरण के प्रकार

9.7 पूर्व बाल्यावस्था को प्रभावित करने वाले वातावरण के कारक

9.7.1 घर का वातावरण

9.7.2 विद्यालय का वातावरण

9.7.3 पास–पड़ोस का वातावरण

9.7.4 समाज का वातावरण

9.8 अभ्यास के प्रश्न

9.9 सारांश

9.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

9.11 संदर्भ ग्रन्थ

9.1 प्रस्तावना

जन्म से लेकर 6 वर्ष की आयु पूर्व बाल्यावस्था कहलाती है। इस आयु में शिशु माँ–बाप की छत्रछाया से निकल कर विद्यालय की परिधि में प्रवेश करता है। अपने पित्रैक (Genetic) गुणों से युक्त प्राणी सर्वप्रथम जन्म के साथ एक वाह्य वातावरण में प्रवेश करता है जहाँ उसके विकास की प्रक्रिया उसके वंशानुगत गुणों के साथ वातावरण की अन्तःक्रिया के फलस्वरूप प्रारम्भ होती है। इस इकाई में हम वातावरण के उन कारकों की चर्चा करेंगे, जो पूर्वबाल्यावस्था के विकास को प्रभावित करते हैं। इन कारकों में सबसे महत्वपूर्ण घर का वातावरण है, क्योंकि शिशु अपने जीवन के प्रथम दो–ढाई वर्ष इसी में व्यतीत करता है। आधुनिक युग में बालक $2^{1/2}$–3 वर्ष की

आयु में नर्सरी अथवा प्री–स्कूल में प्रवेश ले लेता है। वहाँ का वातावरण बालक को प्रभावित करता है। उसे अपनी आयु के बच्चों के साथ क्रिया करने का अवसर प्राप्त होता है। इसके अलावा उसका पास–पड़ोस कैसा है यह भी उसके विकास को प्रभावित करता है। वह जिस समाज का सदस्य है उसके नियम, उसकी वर्जनायें उसके व्यक्तित्व को प्रभावित करते हैं। इस तरह प्राथमिक विद्यालय में प्रवेष के पहले वह समायोजन का पाठ पढ़ चुकता है।

9.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप–

- वातावरण को परिभाषित कर सकेंगे।
- वातावरण की विशेषतायें लिख सकेंगे।
- वातावरण के महत्व को मानव विकास के संदर्भ में रेखांकित कर सकेंगे।
- वातावरण के प्रकारों की सूची बना सकेंगे।
- पूर्व बाल्यावस्था को प्रभावित करने वाले वातावरण के कारकों को पहचान सकेंगे।
- घरेलू, विद्यालयी, पास–पड़ोस के तथा सामाजिक वातावरण को प्रभावित करने वाले तत्वों के नाम बता सकेंगे।

9.3 वातावरण का अर्थ (Meaning of Environment)

साधारण बोलचाल की भाषा में वातावरण से हमारा तात्पर्य उन दशाओं से हैं जिनमें व्यक्ति रहता है। व्यक्ति न केवल इनमें रहता है, अपितु इनके साथ अन्तःक्रिया भी करता है। इसे 'पर्यावरण' के नाम से भी जाना जाता है। पर्यावरण परि + आवरण से मिलकर बना है। परि का अर्थ है 'चारों ओर' तथा आवरण का अर्थ है 'घेरनेवाला'। अतः व्यक्ति या वस्तु के चारों ओर से घेरने वाले अथवा प्रभावित करने वाले तत्वों को 'पर्यावरण' कहते हैं।

इस संसार में उपस्थित सभी सजीव व निर्जीव वस्तुयें पर्यावरण से प्रभावित होती है। अनुकूल वातावरण में वस्तु का विकास स्वाभाविक रूप से होता है तथा प्रतिकूल वातावरण में वह अवरूद्ध होता है। मानव विकास में वातावरण का अत्यन्त महत्व है।

वातावरण के संदर्भ में अनेक विद्वानों ने परिभाषायें दी हैं। उनमें से कुछ निम्न हैं–

- "वातावरण उन सबको कहते हैं जो किसी वस्तु को चारों ओर से घेरे रहती है

और उस पर प्रत्यक्ष प्रभाव डालती है।" — पी0जिसवर्ट

पूर्व बाल्यावस्था को प्रभावित करने वाले वातावरण के कारक

- "पर्यावरण कोई बाहरी शक्ति है, जो हमें प्रभावित करती है व विकास में योगदान देती है।" — जे0एस0 रॉस
- "वातावरण शब्द उन सब वाह्य शक्तियों, प्रभावों और दशाओ का सामूहिक रूप से वर्णन करता है, जो प्राणी के जीवन, स्वभाव, व्यवहार, अभिवृद्धि, विकास व परिपक्वता पर प्रभाव डालता है।" —डगलस व हॉलैण्ड

उपुर्यक्त परिभाषाओं से यह स्पश्ट है कि वातावरण का क्षेत्र अत्यन्त विस्तष्त है। इसके अन्तर्गत वे सभी बातों आ जाती हैं, जिनका व्यक्ति अथवा प्राणी पर किसी भी तरह प्रभाव पड़ता है।

9.4 वातावरण की विशेषतायें (Characteristics of Environment)

- वातावरण एक वाह्यशक्ति है, जो प्राणी को प्रभावित करती है।
- वातावरण प्रत्यक्ष रूप से व्यक्ति को प्रभावित करता है।
- वातावरण भौतिक, सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक होता है। ये समायोजित रूप से प्राणी को प्रभावित करते हैं।
- मनोवैज्ञानिक वातावरण आन्तरिक होता है और शैशवावस्था, बालयावस्था व किशोरावस्था में अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है।
- मनोवैज्ञानिक वातावरण की संरचना वाह्य परिस्थितियों, प्रभावों व शक्तियों के सम्मिलन से होती है।
- वातावरण प्राणियों के जीवन, स्वभाव, अभिवषत्तियों, रूचियों व मूल्यों का विकास करता है, जिससे उनकी वृद्धि व परिपक्वता प्रभावित होती है।
- वातावरण को 'सामाजिक वंशानुक्रम' (Social Heredity) भी कहा जाता है।
- वातावरण व वंशानुक्रम एक–दूसरे के पूरक हैं। वंशानुक्रम बालक की अभिवृद्धि में योगदान करता है, जबकि वातावरण उसके विकास को प्रभावित करता है। व्यक्ति का वंशानुक्रम एक बीज है, जिसमें उसके विकसित होने की सारी संभावनायें होती हैं। वातावरण इस बीज को अपनी संभावनाओं की सीमा तक पहुँचने का अवसर देता है।

9.5 वातावरण का महत्व

व्यक्ति के विकास में वातावरण सम्बन्धी कारकों का महत्वपूर्ण स्थान है। कुछ

विचारकों ने पर्यावरण को ही मानव विकास का मुख्य कारक बताया है। व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिक वॉटसन (Watson) ने तो यहाँ तक कहा– ''मुझे नवजात शिशु दे दो, मैं उसे डॉक्टर, वकील, चोर या जो चाहूँ बना सकता हूँ।''

जॉन लॉक (John Locke) का भी मानना है कि जन्म के समय बालक का मस्तिष्क एक कोरी स्लेट के समान होता है, जिस पर कुछ भी लिखा जा सकता है, अर्थात् जन्म के बाद जिस प्रकार के पर्यावरण में वह रहता है, उसका प्रभाव उस पर अवश्य पड़ता है। वैयक्तिक भिन्नता पर्यावरण द्वारा पड़ने वाले प्रभावों से ही उत्पन्न होती है।

अच्छे या बुरे पर्यावरण के कारण बौद्धिक क्षमता में 20: का अन्तर शोधों द्वारा पाया गया है। (Miss Burks,Freeman, Newman, Holzinger)

वातावरण द्वारा शारीरिक लक्षण सबसे कम प्रभावित होते हैं, बुद्धि उससे अधिक, शिक्षा तथा ज्ञान प्राप्ति उससे भी अधिक, व्यक्तित्व व स्वभाव सबसे अधिक (Newman)।

बालक के विकास की दिशा को वातावरण निश्चित करता है। अनुकूल या प्रतिकूल वातावरण मिलने पर बालक क्रमशः सदाचारी, चरित्रवान या दुराचारी बन सकता है। अनुकूल वातावरण से बालक का विकास उचित दिषा की ओर निरन्तर होता रहता है।

वातावरण के महत्व को रेखांकित करते हुये मैकाइवर व पेज ने कहा है– ''स्वयं प्राणी, उसके जीवन का ढाँचा, बीते हुये जीवन व अतीत पर्यावरण का फल है। पर्यावरण जीवन के आरम्भ से ही, यहाँ तक कि उत्पादक कोषों में भी उपस्थित हैं।''

"The Organism itself, the life structure is the product of past life and past environment. Environment is present from the very beginning of life, even in the germ cells."

9.6 वातावरण के प्रकार (Types of Enviornment)

विकास के सन्दर्भ में वातावरण का वर्गीकरण सामान्य रूप से दो भागों में किया जाता है–

- आन्तरिक वातावरण
- वाह्य वातावरण

आन्तरिक वातावरण (Internal Environment)

आन्तरिक वातावरण जन्मपूर्व माता के गर्भ का वातावरण होता है। यद्यपि इस

पूर्व बाल्यावस्था को प्रभावित करने वाले वातावरण के कारक

अवस्था में जीव के विकास में वंशानुक्रम का ज्यादा महत्व होता है। पर, गर्भ में भी डिम्ब, भ्रूण अथवा गर्भस्थ शिशु जिस पदार्थ में रहता है, वह कोशारस (Cytoplasm) कहलाता है। यह वातावरण अन्तःकोषीय वातावरण (Intra-collular environment) कहलाता है। इसका प्रभाव शिशु के विकास पर पड़ता है। गर्भाशय में जीव का पोषण माता के आहार के माध्यम से होता है। यदि माता जीव को पौष्टिक व आवश्यक आहार उपलब्ध कराती है, जो विकास उचित गति से होता है। गर्भकाल में पोषक तत्वों का अभाव, माता की शारीरिक व मानसिक रूग्णता, माता द्वारा मादक द्रव्यों का प्रयोग शिशु के विकास पर नकारात्मक प्रभाव डालते हैं। अतः जन्मपूर्व गर्भ का वातावरण भी शिशु के विकास के लिये महत्वपूर्ण है।

वाह्यवातावरण (External Environment)– वाह्य वातावरण के अन्तर्गत वे सभी दशायें व परिस्थितियाँ आती है, जो मनुष्य को चारों ओर से आच्छादित करती हैं। यह सामूहिक रूपसे व्यक्ति को प्रभावित करती है। यह प्रभाव अनुकूल भी हो सकता है व प्रतिकूल भी। वाह्य वातावरण का वर्गीकरण कई तरह से किया गया है–

I **भौतिक वातावरण व सामाजिक वातावरण (Physical Environment & Social Environment)** – भौतिक वातावरण के अन्तर्गत इस संसार की सभी भौतिक वस्तुयें आ जाती हैं, जो व्यक्ति को किसी न किसी रूप में प्रभावित करती हैं। जैसे पष्थ्वी, सूर्य, चन्द्र, जलवायु, सागर, नदियाँ, पहाड़, पेड़–पौधे, फल–फूल आदि। प्रकृति प्रदत्त ये सभी वस्तुयें प्राणी को किसी न किसी रूप में प्रभावित करते हैं। जैसे–मानव सभ्यता का विकास नदियों के समीप होना।

सामाजिक वातावरण किसी भी समाज की विरासत से सम्बद्ध होता है। यह विशसत सदियों के अनुभवों का निचोड़ होती है। किसी समाज में बच्चों का लालन–पालन का ढंग, उनको दी जाने वाली सुविधायें, समाज के मूल्य, परम्परायें, रीति–रिवाज, प्रथायें, रहन–सहन का ढंग आदि सामाजिक वातावरण का निर्माण करते हैं। यह सामाजिक व्यवहारों व सम्बन्धों को स्पष्ट रूप से प्रभावित करता है। इस वातावरण का व्यक्ति पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है।

सामाजिक वातावरण को भी तीन वर्गों में विभाजित किया गया है–

- **आर्थिक परिस्थितियाँ (Economic Environment)**–यह समाज की आर्थिक प्रक्रियाओं से सम्बद्ध है। इसके अन्तर्गत सम्पत्ति का उपभोग, उत्पादन, विनिमय, वितरण आदि सभी प्रक्रियायें सम्मिलित हैं, जो मानव व्यवहारों व सम्बन्धों को प्रभावित करती है।

- **सांस्कृतिक परिस्थितियाँ (Caltural Environment)**– यह सामाजिक वातावरण का सबसे महत्वपूर्ण अंग है। इसके अन्तर्गत प्रथायें, रहन–सहन का तरीका, परम्परायें, मूल्य, रूढ़ियाँ, सामाजिक नियम व वर्जनायें, वैज्ञानिक अन्वेषण, लालन–पालन की प्रक्रिया, भोजन आदि आते हैं। व्यक्ति के निर्माण में इसका अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान होता है।
- **मनो–सामाजिक परिस्थितियाँ** (Psycho-Social Environment)– यह मनुश्य द्वारा निर्मित परिस्थितियाँ हैं। जब एक व्यक्ति दूसरे को प्रभावित करता है, जिससे उसके व्यवहार व व्यक्तित्व में परिवर्तन आ जाये, तो उसे मनो–सामाजिक परिस्थितियाँ कहते हैं।

II बाह्य वातावरण को निम्न वर्गों में भी बाँटा जा सकता है–

- घर का वातावरण (Home Environment)
- विद्यालय का वातावरण (School Environment)
- पास–पड़ोस का वातावरण (Neighburhood Environment)
- समाज का वातावरण (Social Environment)

पूर्व बाल्यावस्था के संदर्भ में इस प्रकार के वर्गीकरण का महत्व ज्यादा है। घर का वातावरण, व्यक्ति के जन्म से लेकर मृत्यु तक उसे प्रभावित करता है। सुखद वातावरण सकारात्मक व्यक्तिव के निर्माण में सहायक होता है तथा दुखद वातावरण सकारात्मक विकास में विध्न उत्पन्न करता है। शिशु के जीवन को पास–पड़ोस का वातावरण भी प्रभावित करता है। पड़ोस में पार्क की व्यवस्था उसे शारीरिक रूप से विकसित होने का अवसर प्रदान करता है। विद्यालय का बालक के जीवन में एक महत्वपूर्ण स्थान है। विद्यालय ही वह स्थान है, जहाँ बालक को अपनी पहचान बनाने का प्रतिस्पर्धात्मक वातावरण प्राप्त होता है। व्यक्ति जिस समाज का सदस्य होता है, उससे अवष्य प्रभावित होता है। अतः पूर्वबाल्यावस्था में वाह्य–वातावरण के अन्तर्गत इन सभी वातावरण का अध्ययन हम करेंगे।

बोध प्रश्न

टिप्पणी – (क) नीचे दिये गये रिक्त स्थान में अपने उत्तर लिखिये।
(ख) इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर का मिलान कीजिए।

1. वातावरण कितने प्रकार के होते है?

....

....

2. वातावरण की एक परिभाषा दीजिए।

....

....

3. वाह्य वातावरण को कितने प्रकारों में बाँटा जा सकता है?

....

....

9.7 पूर्व बाल्यावस्था को प्रभावित करने वाले वातावरण के कारक (Environmental Factors Influencing Early Childhood Development)

जन्म से 6 वर्ष तक की आयु को पूर्व बाल्यावस्था कहते है। इसमें भी 2–2½ वर्ष तक बालक घर के वातावरण में ज्यादातर रहता है। कहीं बाहर जाता है, तो माँ–बाप के साथ। आजकल 2–2½ वर्ष की आयु में बालक विद्यालय जाने लगते हैं। वहाँ का वातावरण, बालक के विकास पर प्रभाव डालता है। पास–पड़ोस व समाज का वातावरण भी बालक के विकास को इस अवस्था में प्रभावित करता है।

9.7.1 घर का वातावरण–

सर्वप्रथम जन्म के उपरान्त शिशु को घर का वातावरण प्रभावित करता है। घर के वातावरण के सम्बन्ध में भी अनेक कारक हैं, जो शिशु व बालक विकास पर प्रभाव डालते हैं। इनमें प्रमुख हैं–

- आवासीय भवन (Residential House)
- शिशु का स्वास्थ्य (Baby's Health)
- माँ का मानसिक स्वास्थ्य (Mother's Mental Health)
- शिशु का लिंग (Sex of the Baby)
- शिशु की सक्रियता (Activity of the Body)
- माता–पिता का व्यवहार (Behaviour of Parent)
- पौष्टिक आहार (Nutrition)
- शिशु का भाई–बहनों में क्रम (Order of Child in Siblings)

- माता–पिता की आय (Income of Parents)
- माता–पिता का व्यवसाय (Parent's Profession)
- माता–पिता की शिक्षा (Parent's Education)
- शिशु–पालन की विधि (Parenting Style)
- **आवासीय भवन**–बालक जिस भवन में आवास करता है, उसकी स्थिति कहाँ है? क्या वह किसी सामूहिक आवास (Community Living) का हिस्सा है? क्या वहाँ पार्क की सुविधा है? क्या घर में ज्यादा लोग रहते हैं? क्या बालक को खेलने व स्वतंत्र रूप से विचरण के अवसर संभव हैं? क्या घर में ऐसी समस्यायें है, जो स्वास्थ्य को प्रभावित करती हैं– जैसे 'सीलन?– इन सारे प्रश्नों के उत्तर बालक के विकास को प्रभावित करते हैं। यदि बालक किसी अच्छी कालोनी (सुविधा सम्पन्न) में रहता है, जहाँ पार्क की व्यवस्था है, तो उसके विकास पर सकारात्मक प्रभाव पड़ेगा। यदि घर में जगह कम हो और व्यक्ति ज्यादा, तो बालक को खेलने का स्थान कम मिलेगा। इस आयु में बालकों में खोज की प्रवृत्ति होती है। वे आस–पास की वस्तुओं का प्रेक्षण कर विकसित होते हैं। यदि उन्हें इसका अवसर मिले तो वे जल्दी विकसित होंगे। जिस घर में सीलन या अन्य समस्यायें होती है, वहाँ बालक का स्वास्थ्य प्रभावित होगा। वह अक्सर बीमार रहेगा और उसकी शारीरिक वृद्धि बाधित होगी। एक खुले परिवेश में सुविधायुक्त, हवादार व रोशनी से भरपूर घर में बालक एक स्वस्थ व सकारात्मक व्यक्ति के रूप में विकसित होगा।
- **शिशु का स्वास्थ्य**– शिशु का स्वास्थ्य यदि अच्छा हो, तो वृद्धि (growth) की गति तीव्र होती है। शिशु का जन्म के समय भार यदि सामान्य हो तो उसका विकास भी संतुलित होगा। जिन शिशुओं का जन्म भार कम हो, वे रोगों से ग्रस्त ज्यादा होते है। जन्म पर ज्यादा भार वाले शिशु मोटापे से ग्रस्त होते हैं। अतः शिशु का स्वास्थ्य विकास की गति को प्रभावित करता है। यदि माँ गर्भावस्था में कैल्यिशयम व फॉलिक एसिड आदि पर्याप्त मात्रा में लेती है, तो शिशु स्वस्थ होता है। स्वस्थ शिशु का विकास जल्दी व संतुलित होता है।
- **माँ का मानसिक स्वास्थ्य**– शिशु का जन्म माँ के जीवन की महत्वपूर्ण घटना होती है। शिशु के आगमन से माँ के जीवन में बड़ा बदलाव आता है। उसकी नींद, भूख, सामाजिक दायित्व – सब शिशु की आवश्यकतानुसार संचालित होते हैं। ज्यादातर मातायें इसे सकारात्मक दृष्टि से लेती हैं। पर, कुछ मातायें अवसाद (Depression) की स्थिति में आ जाती है। ऐसी स्थिति में यदि कोई अन्य व्यक्ति शिशु की देखभाल करता है, तो उसका व्यवहार शिशु के

विकास को प्रभावित करता है। यदि शिशु को ऊष्मा से भरपूर पोषण का वातावरण मिलता है तो उसका विकास अच्छी गति से होता है। माँ के प्यार से बच्चे फूल की तरह खिल जाते हैं। संयुक्त परिवारों में बच्चों को दादा–दादी व अन्य बड़ों का प्यार मिलता है और माँ को भी अपने शरीर का ध्यान रखने का समय मिलता है। अतः देखा गया है कि संयुक्त–परिवार में बच्चे तीव्र गति से विकसित होते हैं।

पूर्व बाल्यावस्था को प्रभावित करने वाले वातावरण के कारक

- **शिशु का लिंग–** कई बार माता–पिता किसी विशिष्ट लिंग के शिशु की कामना करते हैं। उसके विपरीत लिंग का शिशु होने पर वे उसका स्वागत उतनी गर्मजोशी से नहीं करते हैं। एक प्रतिकूल वातावरण में शिशु का विकास अवरूद्ध हो जाता है। घर की कलह उसे सामान्य रूप से विकसित होने का अवसर नहीं देती है। शोधों से स्पष्ट हुआ है कि लड़कों में विद्यालय जाने की तत्परता लड़कियों से कम होती है। (Refer Geshstart.org.)
- **शिशु की सक्रियता–** क्या शिशु घर के वातावरण में सक्रिय है? यह इस बात पर निर्भर करता है कि उसे घुटनों पर चलने या खेलने के लिये कितना स्थान मिलता है। क्या बालक की देखभाल के लिये कोई व्यक्ति है, जो उसे निर्देशन दे, चोट लगने से बचाये? जिन घरों में बच्चों को एक सीमित स्थान में बाँध दिया जाता है, उनका गतिपरक विकास देर में होता है। जहाँ उन्हें खुले स्थान में सक्रिय होने का मौका दिया जाता है, वहाँ वे जल्दी विकसित होते हैं। घर में जो बच्चे रसोई के बर्तनों से खेलते हैं, उनकी उंगलियाँ व अंगूठे का समन्वय जल्दी होता है। स्वस्थ्य व सक्रिय शिशु का विकास संतुलित होता है।
- **माता–पिता का व्यवहार–** माता–पिता शिशु के सबसे करीब और सबसे महत्वपूर्ण व्यक्ति होते हैं। वे बालक के साथ कैसे व्यवहार करते हैं? जन्म के दो वर्षों तक बालक को स्पर्श, चुंबन, आलिंगन एक सकारात्मक ऊर्जा देता है। माँ–बाप का पुचकारना, गोद में उठाना उसे एक सुरक्षा का अनुभव कराता है। उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति, उसे समयानुसार दूध देना, खाना खिलाना, सुलाना– सारे व्यवहार एक संतुलित विकास का आधार तैयार करते हैं। माँ–बाप बच्चे के बिना बोले उसकी आवश्यकताओं को समझ कर उसे पूरा करते हैं। जहाँ ऐसा नहीं होता, बालक का व्यक्तित्व प्रभावित होता है।
- **पौष्टिक आहार–** पौष्टिक आहार स्वस्थ शरीर का निर्माता है। यदि शिशु को माँ का दूध मिले, तो उसे उसकी आवश्यकता का पोषण मिल जाता है। पर 6–7 माह का होने के उपरान्त उसे कुछ ठोस आहार दिया जाना चाहिए।

बाद के वर्षों में ठोस आहार प्रमुख भोजन हो जाता है। आजकल माता–पिता दोनों घर के बाहर कार्य करने जाते हैं। इस समय बच्चे की देखभाल करने के लिये जो भी व्यक्ति हो, उसका दायित्व हो कि बालक के पोषण का पूरा ध्यान रखे। पूर्व बाल्यावस्था में वृद्धि बहुत तेज गति से होती है। इस समय पर्याप्त पोषण प्राप्त करना बालक के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

- **शिशु का भाई–बहनों में क्रम**–घर के वातावरण में शिशु का अपने भाई बहनों के बीच क्या क्रम है, यह भी विकास को प्रभावित करता है। जब शिशु पहला बच्चा होता है तो माता–पिता विशेष ध्यान देते है। उसकी गतिविधियों का ख्याल रखते हैं। कहीं भी कोई कमी होती है, तो विभिन्न उपाय करते हैं। जहाँ दो संताने होती हैं, वहाँ माँ–बाप दूसरे बच्चे तक अनुभवी हो जाते हैं और उसका बेहतर ध्यान रख सकते हैं। दूसरे बालक को अपना एक साथी मिल जाता है। मानसिक रूप से दूसरा बालक ज्यादा मजबूत व सांवेगिक रूप से सुरक्षित अनुभव करने लगता है। पर, जिस परिवार में ज्यादा बच्चे हो जाते हैं, तो वहाँ छोटा बच्चा उपेक्षित होने लगता है। इस प्रकार बालक का भाई–बहनों में क्रम उसके विकास को प्रभावित करता है।

- **माता–पिता की आय**– माता–पिता की आय का बालक को दी जाने वाली सुविधाओं से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। जिस परिवार मे आय का जरिया एक है, वहाँ बालक को एक अभिभावक से देखभाल व एक की आय से सुविधायें प्राप्त होंगी। जिस परिवारें में आर्थिक समस्यायें है, वहाँ बालक सुविधाओं से वंचित होगा। जाड़े में ऊनी कपड़े व जूते, भोजन में ताजे फल व सब्जी सभी बालकों को विकास का एक अच्छा वातावरण देते हैं। जहाँ एकल अभिभावक बच्चों की देखभाल करते है, वहाँ बच्चे में कुछ ग्रंथियाँ विकसित हो जाती हैं, जो विकास की गति को प्रभावित करती है। ज्यादातर ऐसा देखा गया है कि एकल अभिभावक वाले बच्चे या तो दबंग या दब्बू बन जाते हैं।

- **माता–पिता का व्यवहार**– माता–पिता किस व्यवसाय से सम्बद्ध हैं– यह भी बच्चे को प्रभावित करता है। जहाँ माता–पिता ऐसे व्यवसाय में होते हैं, कि रात को देर से घर आते हैं, अथवा सबेरे जल्दी चले जाते हैं, उन परिवारों में बच्चों के साथ माता–पिता कम समय बिताते हैं। वे बच्चों के उठने के पहले अथवा स्कूल जाते ही निकल जाते हैं और उनके सोने के बाद आते हैं। बच्चे माँ–बाप को एक आदर्श के रूप में देखते है और उनके जैसा बनने का प्रयास करते हैं। पर, माँ–बाप के साथ कम समय बिताने के कारण वे इससे वंचित होते हैं। यह उनके संज्ञानात्मक विकास को प्रभावित करता है।

पूर्व बाल्यावस्था को प्रभावित करने वाले वातावरण के कारक

- **माता–पिता की शिक्षा**–शिक्षित अभिभावकों के घर में एक ऐसा वातावरण रहता है, जिसमें बच्चों की शैक्षणिक गतिवधियों को बढ़ावा मिलता है। ऐसे घरों में बच्चें को किताबों से पढ़कर कहानियाँ सुनाई जाती हैं। इससे उनके मन में भी पुस्तकों के प्रति प्रेम उत्पन्न होता है। ऐसे परिवारों के बच्चे अन्य बच्चों की तुलना में ज्यादा जानकारी रखते हैं।
- **शिशु पालन की विधि**–अलग–अलग घरों में शिशु–पालन–विधियाँ अलग–अलग होती है। यह भी विकास को प्रभावित करती हैं। किसी परिवार में सत्तावादी विधि का प्रयोग होता है अर्थात् माता या पिता यह तय करते हैं कि बालक को क्या करना चाहिये। किसी परिवार में कोई बंधन बालकों पर नहीं लगाया जाता है। उनकी जो मर्जी हो, वे कर सकते हैं। कहीं–कहीं माता–पिता बच्चे क्या कर रहे हैं– इससे कोई मतलब नहीं रखते हैं। तीनों परिस्थितियों में बालक का विकास अलग–अलग होता है। जहाँ बच्चों को स्वतंत्र रूप से अपने संरक्षण में कर्य करने का अवसर दिया जाता है, वहाँ बच्चों का विकास अधिकतम व संतुलित होता है।

इस तरह घर के वातावरण में उपर्युक्त तत्व विकास की गति को प्रभावित करते हैं।

9.7.2 विद्यालय का वातावरण –

दो–ढाई वर्ष की आयु में ज्यादातर बच्चे विद्यालय जाना प्रारम्भ कर देते हैं। एकल परिवारों में तो एक वर्ष की आयु के अन्दर ही बच्चे डे–केयर या चाइल्ड–केयर में जाना शुरू कर देते हैं। भारत के कई महानगरों यथा बैंगलूरू तथा विदेशों में तो सभी शहरों में, इनका प्रचलन है। बड़े शहरों के अलावा भारत के छोटे शहरों में भी 'क्रेच' का प्रचलन है, जहाँ बच्चे $2^{1/2}$–3 वर्ष की आयु से जाना प्रारम्भ कर देते हैं।

विद्यालय में प्री–स्कूल में बच्चे $2^{1/2}$ से $5^{1/2}$ वर्ष की आयु तक पढ़ते है। 6 वर्ष के होते–होते वे प्राथमिक विद्यालय में जाने लगते हैं। इन डे–केयर तथा प्री–स्कूल में उन्हें एक अनुशासित वातावरण में अपने सहउम्र मित्रों के साथ समय व्यतीत करना होता है। विद्यालय के वातावरण में भी अनेक कारक हैं, जो बच्चे के विकास को प्रभावित करते हैं। इनमें प्रमुख हैं–

- शिक्षक की अभिवृत्ति (Teacher's Attitude)
- खेलने के स्थान की उपलब्धता (Availability of Play Ground)
- पुस्तकों व खिलौनों की उपलब्धता (Availability of Books & Toys)
- अनुशासन का प्रकार (Type of Discipline)

- मित्रों का समूह (Friends Circle)
- विद्यालय का भौतिक परिवेश (Physical Environment of School)
- **शिक्षक की अभिवृत्ति–** डे–केयर अथवा प्री–स्कूल में बच्चे की देखभाल एक शिक्षक का दायित्व होता है। माता–पिता के बाद वह पहला व्यक्ति होता है, जो उसकी देखभाल की पूर्ण जिम्मेदारी लेता है। यदि बालक का उसके साथ लगाव हो जाता है, तो बालक में सुरक्षा की भावना आ जाती है। इस आयु के बच्चों की भाषा पर पकड़ कम होती है। वे अपने हाव–भाव तथा शारीरिक गतियों से अपनी आवश्यकता बताने का प्रयास करते हैं। यदि शिक्षक उन्हें सहारा देकर प्रोत्साहित करता है, तो वे जल्दी सीखते हैं। एक सकारात्मक अभिवृत्ति एक सकारात्मक वातावरण का निर्माण करती है। यह बालक की विकास की गति में वृद्धि का कारण होता है। जैसे एक लता (Creeper) को बढ़ने के लिये तने के सहारे की आवश्यकता होती है, वैसे ही बालक को विकास पथ पर द्रुत गति सं बढ़ने के लिये शिक्षक रूपी तने के सहारे की आवश्यकता होती है। एक अच्छा शिक्षक बालक को स्वतंत्र वातावरण में अपनी क्षमताओं के विकास के अवसर देता है।
- **खेलने के स्थान की उपलब्धता–**विद्यालय एक ऐसा स्थल है, जहाँ प्री–स्कूल के बच्चे खेलने जाते है। जो कुछ ज्ञान वे प्राप्त करते हैं, वह खेल के माध्यम से ही होता है। दो साल के बच्चे अपने आप खेल सकते हैं। उन्हें अपनी क्रियाओं के लिये खुला स्थान चाहिये। प्री–स्कूल के कक्षाकक्ष बड़े और खुले हों, तो बच्चे वहाँ आराम से खेल सकते हैं। यह उनके संज्ञान तथा गतिक विकास में सहायक होते हैं।
- **पुस्तकों व खिलौनों की उपलब्धता–** इस आयु के बच्चों में जिज्ञासा की प्रवृत्ति होती है। वे किताबों में चित्र देखकर उसके बारे में जानने की इच्छा रखते हैं। पुस्तकों व खिलौनों की उपलब्धता उनकी जिज्ञासु प्रवृत्ति को संतुष्ट करती है। वे खिलौनों के माध्यम से विभिन्न आकारों की जानकारी करते हैं, क्रम का ज्ञान करते हैं आदि। अतः पुस्तकों व खिलौनों की उपलब्धता उनकी विकास की गति को बढ़ाती है।
- **अनुशासन का प्रकार–** विद्यालयों में बालक अनुशासन का पाठ पढ़ते हैं। उन्हें एक नियम से कार्य करना होता है। नियमित समय पर खाना, नियमित समय पर सोना तथा नियमित समय पर खेलना या स्वतंत्र रूप से जो चाहे वह करना। नियमितता उन्हें अनुशासन का पहला पाठ पढ़ाती है। उनका समायोजन यहीं से शुरू होता है। पर, जिस स्थान पर बालकों को स्वतंत्रता न दी जाये,

उन्हें डॉट कर कोई कार्य करने को विवश किया जाये, वहाँ उनका विकास अवरूद्ध होता है। दमनात्मक अनुशासन का प्रयोग घर में हो या विद्यालय में विकास को कुण्ठित ही करता है। निर्देशित स्वतंत्रता का वातावरण विकास की गति को तीव्र करने में सहायक होता है।

पूर्व बाल्यावस्था को प्रभावित करने वाले वातावरण के कारक

- **मित्रों का समूह**–संयुक्त परिवारों के अलावा आज के युग में बच्चों को संगी–साथी घर में कम ही मिलते हैं। विद्यालय में वे अपनी आयु के बालकों के साथ मिलते हैं। यह उनमें सामाजिकता की भावना उत्पन्न करता है। किसी भी शोध से यह अभी तक नहीं पता चलता है कि बच्चे समान आयु के बच्चों को देखकर क्या अनुभव करते हैं, पर यह अवश्य है कि वे अपने हमउम्र साथियों को देखकर उनके साथ कुछ समय बाद खेलने लगते हैं। विद्यालयों में वे जब कक्षा में रहते हैं, तो वस्तुओं को मिलजुल कर प्रयोग करना सीखते हैं। बच्चे अलग–अलग प्रकृति के होते हैं, पर समूह में रहने पर उनमे सामाजिकता की भावना उत्पन्न हो जाती है।
- **विद्यालय का भौतिक परिवेश**– विद्यालय में बालक कुछ समय तथा डे–केयर में काफी समय रहता है। अतः वहाँ के भौतिक परिवेष का उसके समायोजन के विकास पर काफी प्रभाव पड़ता है। विद्यालय यदि खुले, हवादार व सूर्य की रोशनी से युक्त हों, तो बालकों के स्वास्थ्य के लिये अच्छे होते है। विद्यालय में खुला स्थान, मैदान, खेल–खिलौने किताबें आदि होनी चाहिये। बच्चों को इनका प्रयोग करने की छूट होनी चाहिए। पेड़–पौधे, छोटा कम गहरा तैरने के लिये तालाब (Swimming pool), तरह–तरह के झूले होने चाहिये। विद्यालय का परिवेश ऐसा हो कि बच्चे सकारात्मक ऊर्जा प्राप्त करें। ऐसा भौतिक परिवेश बालकों की शक्तिओं के विकास के अनुरूप होगा और एक संतुलित व्यक्तित्व को विकसित करने में सहायक होगा।

9.7.3 पास–पड़ोस का वातावरण–

'A man is knwon by the company he keep' एक व्यक्ति अपने संगी–साथियों के माध्यम से ही जाना जाता है। बालक जिस परिवेश में रहता है, उसका प्रभाव भी उस पर पड़ता है। पास–पड़ोस के वातावरण के कुछ कारक बालक के विकास को प्रभावित करते हैं। उनमें प्रमुख हैं–

- हमउम्र साथी (Same Age Freind)
- पड़ोसियों से सम्बन्ध (Relation with Neighbour)
- सुरक्षित वातावरण (Secure Environment)

- मैदान व अन्य सुविधायें (Park & Other Facilities)
- **हमउम्र साथी**–बच्चों में अनुकरण की प्रवृत्ति होती है। वे दूसरों को देखकर उनकी नकल करते हैं और वैसा ही व्यवहार करने का प्रयास करते हैं। शोधों से यह निष्कर्ष निकला है कि अच्छे वातावरण में पले बच्चों की बौद्धिक क्षमता अपने असली माता–पिता की बौद्धिक क्षमता से अधिक पाई गई। (फ्रीमैन) यदि पास–पड़ोस में हम उम्र साथी अच्छी बौद्धिक क्षमता वाले हों, तो उनके सम्पर्क में आने वाले बालकों पर उसका सकारात्मक प्रभाव पड़ता है।
- **पड़ोसियों से सम्बन्ध**–यदि परिवार के सदस्यों के सम्बन्ध पड़ोसियों से अच्छे हैं, तो बच्चों को पड़ोसियों से भी प्यार मिलता है। बच्चों के लिये इन सम्बन्धों का बहुत महत्व होता है क्योंकि वे उसी से सीखते हैं। देखकर, मुस्कुरा कर तथा नकल करके बच्चे बड़ों से संवाद स्थापित करने का प्रयास करते हैं। (Field 2007, Gerhardt. 2004, Shanker 2008) यदि बच्चे का परिवार अपने अन्य सम्बन्धियों के साथ संपर्क रखता है और वे पास में रहते हैं, तो बच्चे उनसे मिलने पर नये कौशल सीखते हैं तथा नवीन ज्ञान प्राप्त करते हैं। इस पर उनका विकास होता है। जितने भिन्न–भिन्न प्रकार के सकारात्मक लोगों से बच्चों का सम्पर्क होता है, बच्चे उतने ही ज्यादा समायोजित होते हैं। यदि बच्चे के परिवार को पास–पड़ोस में प्रतिष्ठा–प्राप्त है, तो बच्चे का विकास संतुलित होता है।
- **सुरक्षित वातावरण**– बालक के पास–पड़ोस का वातावरण कैसा है? कौन व्यक्ति वहाँ रहते हैं? क्या वातावरण प्रदूषण मुक्त हैं? क्या पास में खेल का मैदान या खुला स्थान है, जहाँ बच्चे खेल सकें? इन सब कारकों से बालक का विकास प्रभावित होता है। यदि पास–पड़ोस में शराब या नषे की बिक्री होती है, आपराधिक प्रवृत्ति वाले लोगों का जमावाड़ा रहता हो, खुला स्थान न हो, प्रदूषित वातावरण हो, तो बच्चे का विकास अवरूद्ध होता है। एक सुरक्षित वातावरण, जिसमें न अपराधी हो, ना ही ध्वनि, वायु या जल प्रदूषण है, भीड़भाड़ न हो, शान्तिपूर्ण सुरक्षित वातावरण हों, में ही बालक का विकास संभव है।
- **मैदान व अन्य सुविधायें**–जिस समुदाय में बालक का घर हो, वहाँ यदि सामुदायिक जीवन की सुविधायें हो, तो उसका अच्छा प्रभाव बालक के विकास पर पड़ता है। आजकल मकान कॉलोनियों में होते हैं। इन कॉलोनियों में सामुदायिक जीवन की सभी सुविधायें होती है। यथा–पार्क, जिम (gym) पूजाघर, तैराकी के लिये तालाब (Swimming-pool), बैडमिण्टन व टेनिस का कोर्ट आदि। इन सुविधाओं का लाभ उठाने का अवसर बालकों को कम आयु में ही प्राप्त होता है। इससे वे इन क्रियाओं में योग्यता कम आयु में ही प्राप्त कर लेते

है।

9.7.4 समाज का वातावरण–बालक जिस समाज में जन्म लेता है, उसकी परम्परायें, नियम, मूल्य, वर्जनायें, आदर्श उसे बाल्यावस्था से ही सिखाये जाते हैं। प्रत्येक सामज का वातावरण एक सा नही होता। जिस समाज का परिवेश बंद (Closed) होता है, वहाँ नियम कट्टर होते हैं। उनके पालन की बाध्यता होती है। बच्चा एक ही ढाँचे में बाँधकर रह जाता है। उसके विचारों में कठोरता आ जाती है।

इसके विपरीत खुले परिवेश वाले समाजों में विचारों की स्वतंत्रता होती है। नवीन विचारों का स्वागत समाज के वातावरण को उदार व खुशनुमा बना देता है। ऐसे ही समाज में प्रतिभाओं का विकास होता है। जिन समाजों में लिंग के आधार पर पर बच्चें में भेदभाव नहीं होता है, वहाँ अपराध कम होते हैं तथा संतुलित व्यक्तित्व वाले व्यक्तियों की संख्या ज्यादा होती है। ऐसे समाजों में जीवन मूल्यों व आदर्शों का सम्मान किया जाता है और व्यक्तित्व के विकास के अवसर सबके लिये समान रूप से उपलब्ध होते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पूर्व बाल्यावस्था को प्रभावित करने वाले वातावरण के कारक कई हैं। व्यक्ति का विकास इन सभी कारकों की सम्मिलित अन्तःक्रिया का परिणाम होता है। चूँकि व्यक्तियों में व्यक्तिगत भिन्नता होती है, अतः इनका प्रभाव भी सब पर भिन्न–भिन्न पड़ता है।

9.8 अभ्यास के प्रश्न

1. वातावरण से आप क्या समझते हैं? वातावरण की क्या विशेषतायें हैं?
2. पूर्व बाल्यावस्था को प्रभावित करने वाले कारकों का विवरण दीजिए।
3. विद्यालय का वातावरण बालक के विकास को किस तरह प्रभावित करता है।
4. पास–पड़ोस के वातावरण पर टिप्पणी लिखिये।

9.9 सारांश

परन्तु इकाई में सर्वप्रथम वातावरण के अर्थ व परिभाषाओं को प्रस्तुत किया गया हैं वातावरण की विशेषतायें तथा वातावरण के महत्व को मनोवैज्ञानिकों के दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया गया है। वातावरण दो प्रकार के होते हैं। आन्तरिक व वाह्य। आन्तरिक वातावरण वृद्धि की गति को प्रभावित करता है तथा गर्भ का वातावरण होता है। वाह्य वातावरण अनेक प्रकार के होते हैं। पूर्व बाल्यावस्था में विकास को प्रभावित करने वाले वातावरण चार प्रकार के होते हैं– घर का, पास–पड़ोस

का विद्यालय का व समाज का। इन सभी प्रकारों में कई तत्व हैं, जो बालक के विकास के निर्धारक हैं। इन सभी कारकों की संयुक्त अंतःक्रिया के फलस्वरूप व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास होता है।

9.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. दो प्रकार–आन्तरिक व वाह्य।
2. डगलस व हॉलैण्ड की परिभाषा।
3. दो प्रकारों में
   (1) भौतिक व सामाजिक वातावरण
   (2) परिवार, पास–पड़ोस, विद्यालय व समाज के वातावरण।

9.12 संदर्भ ग्रंथ

1. टण्डन, उमा व गुप्ता, अरूणा (2012), *उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षक*, आलोक प्रकाशन, लखनऊ।
2. शर्मा, आर0ए0 तथा चतुर्वेदी शिखा (2013), *शिक्षा मनोविज्ञान के मूल तत्व*, आर0 लाल बुक डिपो, मेरठ।
3. Environmental Factors retrieved, on 9th July 2015 from www.beststart.org.
4. Factors Affecting Child Development retrieved from just-health.net on 1st Sept. 2015

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

B.Ed SE-01

मानव वृद्धि एवं विकास

खण्ड

4

मध्य बाल्यावस्था से किशोरावस्था (9 वर्ष से 18 वर्ष)

इकाई -10 5

शारीरिक, सामाजिक, संवेगात्मक, संज्ञानात्मक, सृजनात्मक व नैतिक पक्षों से सम्बन्धित उदीयमान योग्यतायें

इकाई -11 28

तरुण अवस्था, लिंग एवं विकास से सम्बन्धित समस्यायें

इकाई -12 46

विकसित होते हुए बालक पर वातावरण (सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक) का प्रभाव

संरक्षक एवं मार्गदर्शक

प्रो० एम० पी० दुबे	कुलपति, उ०प्र० राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

विशेषज्ञ समिति

प्रो० एस०पी० गुप्ता	पूर्व निदेशक, शिक्षा विद्याशाखा, उ०प्र० राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
प्रो० के०एस०मिश्रा	आचार्य, शिक्षा शास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
प्रो० अखिलेश चौबे	पूर्व आचार्य, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ
प्रो० विद्या अग्रवाल	आचार्य, शिक्षा शास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
प्रो० प्रतिभा उपाध्याय	आचार्य, शिक्षा शास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

लेखक

डा० उमा टण्डन	एसोसियएट प्रोफेसर, डी०बी०एस० कालेज, कानपुर (इकाई-1 से 9)
डा० अर्पिता सिंह	असि. प्रोफेसर, एच.एन.मिश्रा कालेज आफ एजूकेशन, कानपुर (इकाई- 10,11,12)
डा० सुधांशु सिन्हा	असि. प्रोफेसर, टी.डी. कालेज, जौनपुर (इकाई- 13,14,15)

सम्पादक

प्रो० सुजाता रघुवंश	आचार्य, शिक्षा शास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद

परिमापक

प्रो०प्रदीप कुमार पाण्डेय	प्रभारी निदेशक, शिक्षा विद्याशाखा, उ०प्र० राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

समन्वयक

डॉ० रंजना श्रीवास्तव	प्रवक्ता, शिक्षा विद्याशाखा, उ०प्र० राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

प्रकाशक

डॉ० जी० एस० शुक्ल	कुलसचिव, उ०प्र० राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
ISBN-UP-978-93-83328-03-1

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठ्यसामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

नोट : पाठ्य सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आकड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय उत्तरदायी नहीं है।

प्रकाशन -उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहावाद

B.Ed.SE-01 : मानव वृद्धि एवं विकास

खण्ड–एक मानव विकास के उपागम

इकाई–1 वृद्धि व विकास की अवधारणाएँ व सिद्धान्त

इकाई–2 मानव विकास की अवस्थाएँ

इकाई–3 विकास के आयाम

खण्ड–दो विकास के सैद्धान्तिक उपागम

इकाई–4 संज्ञानात्मक व सामाजिक–संज्ञानात्मक सिद्धान्त

इकाई–5 मनोसामाजिक सिद्धान्त (एरिक्सन) तथा मनोविश्लेषण सिद्धान्त (फ्रॉयड)

इकाई–6 विकास के जैव–पारिस्थितिक (ब्रीफॉनब्रेनर)तथा समग्र सिद्धान्त (स्टाइनर)

खण्ड–तीन प्रारम्भिक वर्ष (जन्म से 8 वर्ष तक)

इकाई–7 जन्मपूर्व गर्भकालीन तथा नवजात शिशु विकास

इकाई–8 विकास में मील के पत्थर

इकाई–9 पूर्व बाल्यावस्था को प्रभावित करने वाले वातावरण के कारक

खण्ड–चार मध्य बाल्यावस्था से किशोरावस्था (9 वर्ष से 18 वर्ष)

इकाई–10 शारीरिक, सामाजिक, संवेगात्मक, संज्ञानात्मक,सृजनात्मक व नैतिक पक्षों से सम्बन्धित उदीयमान योग्यतायें

इकाई–11 तरुण अवस्था, लिंग एवं विकास से सम्बन्धित समस्यायें

इकाई–12 विकसित होते हुए बालक पर वातावरण (सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक) का प्रभाव

खण्ड–पॉच प्रौढ़ावस्था का संक्रमणकाल

इकाई–13 मनोवैज्ञानिक कुशलता, आत्म–पहचान का निर्माण एवं स्वप्रत्यय

इकाई–14 प्रौढ़ावस्था का संक्रमणकाल–भूमिका एवं उत्तरदायित्व

इकाई–15 जीवन कौशल और वृत्ति चयन

खण्ड चतुर्थ – मध्य बाल्यावस्था से किशोरावस्था (9 वर्ष से 18 वर्ष)

खण्ड परिचय

प्रस्तुत खण्ड में शारीरिक, सामाजिक, संवेगात्मक, संज्ञानात्मक, सृजनात्मक व नैतिक पक्षों से सम्बन्धित उदीयमान योग्यताओं की चर्चा की गई हैं। बदलती सामाजिक व राजनैतिक परिस्थितियों एवं वैज्ञानिक शोधों ने शिक्षाशास्त्रियों वैज्ञानिकों तथा मनोवैज्ञानिकों का ध्यान बालकों की ओर आकर्षित किया। जिसके कारण बाल मनोविज्ञान ने एक ऐसे युग में प्रवेश किया जिसमें बालक के व्यक्तित्व तथा विकास सम्बन्धी सिद्धान्तों को समझकर उसे श्रेष्ठ रचना बनाने हेतु प्रयास किये जाने लगे। मनुष्य स्वभावतः सामाजिक प्राणी है। यह विकास की विभिन्न अवस्थाओं की यात्रा इसी समाज में रहकर परस्पर अर्न्तक्रिया स्थापित करता है। बालक के विकास की विभिन्न अवस्थाओं में अनेक परिवर्तन होते हैं, इन अवस्थाओं में तरूण अवस्था उनको सर्वाधिक समस्या का सामना करता है। इसी अवस्था में लैंगिक विकास प्रारम्भ हो जाता है जो किशोरावस्था की समाप्ति तक पूर्णता की ओर उन्मुख हो जाता है और उसी के अनुसार वे सामाजिक कर्तव्यों का पालन करने लगते हैं। इस स्थिति में समाज में व्याप्त लिंगानुसार असमानताओं के कारण उत्पन्न समस्याओं का सामना करता है। वास्तव में इन समस्याओं की नीव तो बालक/बालिका के परिवार में जन्म के समय की पड़ जाती है।

जब बालक जन्म लेता है तो समाज के विभिन्न सदस्यों जैसे माता पिता, परिवार के सदस्यों सभी साथियों तथा अन्य व्यक्तियों के सम्पर्क में आकर उसका समाजीकरण होने लगता है। जिसके अन्तर्गत वह अपने समाज के विशिष्ट नियमों और सांस्कृतिक धरोहरों के रूप में सामाजिक परम्पराओं, मान्यताओं, रूढ़ियों आदि को अपना कर इन्हीं के अनुरूप व्यवहार करना सीखता है। और सामाजिक वातावरण में स्वयं को समायोजित करने का प्रयास करता है। सामाजिक विकास बालक के अन्य विकास पक्षों के साथ साथ चलता है, उन्हें प्रभावित करता है तथा उससे प्रभावित भी होता है तथा मानव व्यवहार के अधिकांश भाग को भी प्रभावित करता है।

इस खण्ड में कुल तीन इकाईयां है। इकाई–10 में बाल्यावस्था से किशोरावस्था (9 वर्ष से 13 वर्ष) के मध्य उदय होने वाली शारीरिक, सामाजिक, संवेगात्मक, संज्ञानात्मक, सृजनात्मक तथा नैतिकता सम्बन्धी योग्यताओं के विषय में चर्चा की गई है।

इकाई–11 में तरुण अवस्था, लैंगिक तथा विकास से सम्बन्धित समस्याओं के बारे में चर्चा की गयी है।

इकाई–12 में विकसित होते हुए बालक पर पड़ने वाले सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनैतिक वातावरण के प्रभाव के बारे में बताया गया है।

इकाई–10 शारीरिक, सामाजिक, संवेगात्मक, संज्ञानात्मक, सृजनात्मक व नैतिक पक्षों से सम्बन्धित उदीयमान योग्यतायें

इकाई संरचना

10.1 प्रस्तावना

10.2 उद्देश्य

10.3 बालक के विकास क्रम से सम्बन्धित योग्यताओं के अध्ययन की आवश्यकता एवं महत्व

10.4 बालक के विभिन्न पक्षों में उदीयमान योग्यतायें

10.4.1 बालक के शारीरिक विकास में उदीयमान योग्यतायें।

10.4.2 बालक के मानसिक व संज्ञानात्मक विकास में उदीयमान योग्यतायें

10.4.3 बालक के सामाजिक विकास में उदीयमान योग्यतायें।

10.4.4 बालक के संवेगात्मक विकास में उदीयमान योग्यतायें।

10.4.5 बालक के सृजनात्मक विकास में उदीयमान योग्यतायें।

10.4.6 बालक के नैतिक विकास में उदीयमान योग्यतायें।

10.5 अभ्यास के लिये प्रश्न

10.6 सारांश

10.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

10.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

10.1 प्रस्तावना

प्राचीन काल में भारत ही नहीं वरन् सम्पूर्ण विश्व में शिक्षा का उद्देश्य धार्मिक या व्याक्तिगत व सामाजिक सुरक्षा था। ऐसी शिक्षा में बालक की रूचियों, अभिरूचियों तथा आवश्यकताओं का कोई महत्व नहीं था और शिक्षा का उद्देश्य बालकों को केवल वयस्क होने पर आने वाली जिम्मेदारियों तथा समाज द्वारा मान्यता प्राप्त उपलब्धियों के लिए तैयार करना था, जिससे बालक शीघ्र ही वयस्कों जैसा व्यवहार करना सीख जाये।

18वीं शताब्दी के अन्त में तथा 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में बदलती सामाजिक व राजनैतिक परिस्थितियों एवं वैज्ञानिक शोधों ने शिक्षाशास्त्रियों, वैज्ञानिकों तथा मनोवैज्ञानिकों का ध्यान बालकों की ओर आकर्षित किया। जिसके कारण बाल मनोविज्ञान ने एक ऐसे युग में प्रवेश किया जिसमें बालक के व्यक्तित्व तथा विकास सम्बन्धी सिद्धान्तों को समझकर उसे श्रेष्ठ रचना बनाने हेतु प्रयास किये जाने लगे।

10.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप इस योग्य हो जायेंगे कि –

1. बालक के विकास क्रम में शारीरिक, सामाजिक, संवेगात्मक, संज्ञानात्मक, सृजनात्मक व नैतिक पक्षों से सम्बन्धित योग्यताओं के आधार पर उनके विषय में पूर्वकथन करने योग्य हो सकेंगे।
2. विकास की विभिन्न अवस्थाओं में उदित योग्यताओं के प्रकटन की व्याख्या कर सकेंगे।
3. बालक / बालिकाओं के सामाजिक व संवेगात्मक विकास की उदीयमान योग्यताओं की पहचान कर सकेंगे।
4. बालक बालिकाओं के सृजनात्मक विकास में उदीयमान योग्यताओं को समझ सकेंगे।
5. बालक / बालिकाओं के नैतिक विकास की उदीयमान योग्यताओ का वर्णन कर सकेंगे।

10.3 बालक के विकास क्रम से सम्बन्धित योग्यताओं के अध्ययन की आवश्यकता एवं महत्व

1. बालक के विकास क्रम से परिचित होकर उसकी आयु को ध्यान में रखकर हम उसके अपेक्षित व्यवहार व क्षमता का पूर्वानुमान कर सकते हैं।
2. विकास क्रम में उसे किस समय किस प्रकार का वातावरण प्रदान किया जाये। किस समय किस पक्ष पर अधिक बल दिया जाये और किस समय कम। इस हेतु अध्ययन योग्य है।
3. बालकों के विकास क्रम को अच्छी प्रकार से समझकर उनको उचित शिक्षा व्यवस्था देकर व उनका विकास कर मानव कल्याण के लिए उपयोगी बना सकते हैं।
4. बालक के विकास क्रम के ज्ञान से हम शैशवावस्था से ही उचित निर्देशन व नियंत्रण प्रदान कर उसके भावी जीवन को बेहतर बना सकते हैं क्योंकि फ्रायड महोदय के अनुसार व्यक्ति को आगे जो कुछ भी बनना है वह प्रथम पांच वर्षो के अन्दर ही बन जाता है। शैशवावस्था के आधार पर ही उसका पूरा मानव जीवन निर्भर होता है।

10.4 बालक के विभिन्न पक्षों में उदीयमान योग्यताओं

बालक की शारीरिक व्यवस्था में जन्म से लेकर परिपक्वावस्था तथा मृत्युपर्यन्त होने वाले परिवर्तनों के अनुक्रम को विकास कहते हैं। विकास की इस प्रक्रिया में बालक

को प्रभावित करने वाले सभी पक्षों शारीरिक, सामाजिक, संवेगात्मक, संज्ञानात्मक, सृजनात्मक व नैतिक आदि में कई योग्यतायें या विशेषतायें या क्षमतायें प्रदर्शित होती है जिनमें से कुछ जन्मजात और अर्जित होती है। अतः इस इकाई में हम बालक के विकास क्रम की विभिन्न अवस्थाओं के विभिन्न पक्षों में प्रकट होने वाली योग्यताओं या क्षमताओं का अध्ययन करेंगे।

शारीरिक, सामाजिक, संवेगा–त्मक, संज्ञानात्मक, सृजनात्मक

10.4.1 बालक के शारीरिक विकास में उदित योग्यतायें–

बालक में विकास की प्रक्रिया जन्म से पूर्व ही माता के गर्भ में प्रवेश से ही आरम्भ हो जाती है और जन्म समय से जीवन के प्रत्येक चरण में विभिन्न परिवर्तनों को प्रदर्शित करती है। विभिन्न मनोवैज्ञानिकों के अनुसार किसी भी मनुष्य के शारीरिक योग्यताओं के विकास में शरीर रचना, (Anotomy), स्नायुमण्डल (Nervous System), मांसपेशीय वृद्धि (Muscular development), गामक तंत्र (Motor System), अन्तःस्त्रावी ग्रन्थिया (Endocrine gland) आदि में होने वाले परिवर्तनों को सम्मिलित किया जा सकता है।

यहाँ शारीरिक योग्यताओं के विकास से तात्पर्य बालकों में आयु के अनुसार शारीरिक आकार, शारीरिक अनुपात, हड्डियों, मांसपेशियों, दांत तथा तंत्रिका तंत्र में होने वाले परिवर्तनों से है। अध्ययन की सरलता हेतु किसी भी बालक के शारीरिक विकास का अध्ययन हम उसकी आयु को विभिन्न चरणों में विभाजित करके कर सकते हैं –

1. जन्म और जन्म से पूर्व बालक की अभिवृद्धि एवं विकास
2. शैशवावस्था
3. बाल्यावस्था
4. किोरावस्था

जन्म से शैशवावस्था तथा प्रारम्भिक बाल्यावस्था के विकास का अध्ययन आप पूर्व खण्डों में कर चुके हैं। इस खण्ड तथा इकाई में बाल्यावस्था विशेषकर मध्य बाल्यावस्था व किशोरावस्था के विकास की चर्चा की जा रही है।

बाल्यावस्था–

छः वर्ष की आयु से 12 वर्श की आयु की अवस्था बाल्यावस्था कहलाती है जिनके प्रारम्भिक तीन वर्षो (6–9) में विकास की तीव्रता होती है और अगले वर्षो में शारीरिक विकास की गति धीमी होकर दृढ़ता आने लगती है जिसको परिपक्वन काल (consolidation period) कहा जाता है। इस अवस्था में होने वाले शारीरिक परिवर्तन निम्न प्रकार हैं–

मध्य बाल्यावस्था से किशोरावस्था (9 वर्ष से 18 वर्ष)

(i) **आकार (sixe)**– 6 से 12 वर्ष की आयु तक चलने वाली बाल्यावस्था में शरीर की लम्बाई लगभग 2–3 इंच प्रतिवर्ष बढ़ती है। इस अवस्था के प्रारम्भ में बालकों की लम्बाई बालिकाओं से कुछ अधिक होती है। परन्तु इस अवस्था की समाप्ति तक बालिकाओं की लम्बाई बालकों की लम्बाई से लगभग 1–1.5 सेमी अधिक हो जाती है।

(ii) **भार (Weigth)**– इस अवस्था के प्रारम्भ में बालकों के भार में बालिकाओं की अपेक्षा अधिक वृद्धि होती है परन्तु अवस्था के अन्त में बालिकाओं का भार बालकों से अधिक होना प्रारम्भ हो जाता है।

(iii) **मांसपेशियां, हड्डियाँ व दांत**– मांसपेशियों का विकास मन्द गति से होता है और धीरे–धीरे बालक इन पर पूर्ण नियंत्रण साधने लगता है। इस अवस्था में मांसपेशियों का भार पूरे शरीर के भाग का लगभग 31 प्रतिशत हो जाता है।

बाल्यावस्था में हड्डियों की संख्या और अस्थीकरण अर्थात दृढ़ता में निरन्तर वृद्धि होती रहती है। इस अवस्था में हड्डियों की संख्या 270 से बढ़कर 350 हो जाती है।

शैशवावस्था के अन्तिम चरणों में दूध के दांत गिरने लगते हैं और 12–13 वर्ष तक सभी स्थायी दांत निकल आते हैं। बालिकाओं के स्थायी दांत बालकों की अपेक्षा जल्दी निकलते हैं।

(iv) **सिर व मस्तिष्क**– बाल्यावस्था में बालक का सिर, शरीर के अन्य भाग से अनुपातिक रूप में बड़ा होता है जो कि धीरे–धीरे विकसित होकर सही अनुपात में आ जाता है। 5 वर्ष की आयु में सिर, प्रौढ़ आकार का 90% और 10 वर्ष की आयु में 95% होता है।

(v) **अन्य अंग**– बाल्यावस्था में बालक के सभी अंगों का विकास हो जाता है और उन पर नियंत्रण प्राप्त कर लेता है। लगभग 11–12 वर्ष की आयु में बालक बालिकाओं के यौन अंगों का विकास तीव्र गति से होने लगता है।

(vi) **गामक विकास**– इस अवस्था में बालक में शारीरिक अंगों, स्नायु तंत्र तथा मांसपेशियों के पूर्व की अपेक्षा अधिक विकास हो जाने के कारण गामक क्रियाओं में विकास हो जाता है। उसके सामाजिक व भौतिक वातावरण के अनुकूल समायोजन हेतु वह नये–नये व्यवहार सीखने हेतु प्रयासरत रहते हैं। उसमें दौड़ने–कूदने, उछलने, भार उठाने रखने, साइकिल चलाने आदि क्रियाओं में अधिक शक्ति व गति का प्रयोग होता है।

किशोरावस्था (Adolescence)

12 वर्ष से 18 वर्ष तक की आयु किशोरावस्था कहलाती है। यह बाल्यावस्था व प्रौढ़ावस्था के बीच की अवस्था है इसमें निम्न प्रकार के शारीरिक परिवर्तन होते हैं–

शारीरिक, सामाजिक, संवेगा–त्मक, संज्ञानात्मक, सृजनात्मक

(i) **लम्बाई–** इस अवस्था में लम्बाई में तीव्र गति से वृद्धि कर वे सम्पूर्ण जीवन काल की अधिकतम ऊँचाई को प्राप्त कर लेते हैं।

(ii) **भार–** बालकों का भार बालिकाओं की अपेक्षा तेजी से बढ़ता है। अवस्था के अन्त तक बालकों का भार बालिकाओं के भार से औसतन 5–6 किग्रा अधिक होता है।

(iii) **मांसपेशियां, हड्डिया व दांत–** इस अवस्थामें मांसपेशियों का भार शरीर के कुल भार का लगभग 45: हो जाता है तथा इनमें दृढ़ता आ जाती है। इस अवस्था में अस्थीकरण की प्रक्रिया पूर्ण हो जाती है। हड्डिया मजबूत हो जाती हैं तथा कुछ छोटी हड्डियां एक दूसरे जुड़ जाती हैं। इस अवस्था में आने तक सभी अस्थायी दांत निकल आते हैं। किशोरावस्था के अन्त या प्रौढ़ावस्था के प्रारम्भ में प्रज्ञादंत (wisdom teeth) निकलते हें।

(iv) **सिर व मस्तिष्क–** 15 या 16 वर्ष की आयु तक सिर का लगभग पूर्ण विकास हो जाता है तथा मस्तिष्क का भार लगभग 1200 से 1400 ग्राम के बीच होता है।

(v) **अन्य अंग–** इस अवस्था में मांसपेशियों का विकास तीव्र ग्रति से होता है। बालक व बालिकाओं में यौनावस्था के लक्षण दिखाई देने लगते हैं। अन्तस्रावी ग्रन्थियों जैसे गलग्रन्थि (Thyroid), उपगल ग्रन्थि (parathyroid), उपवृक्क ग्रन्थि (Adrenal gland) आदि से आन्तरिक वाह्य स्राव आरम्भ हो जाता है जो कि इनमें होने वाले परिवर्तनों का मुख्य कारण है। स्टैंग के अनुसार– किशोरावस्था, व्यक्ति के विकास का महत्वपूर्ण काल है। इस काल में अधि ाकांश बालकों और बालिकाओं में शारीरिक परिपक्वता आ जाती है, अर्थात वे सन्तान उत्पन्न करने के योग्य हो जाते हैं और शारीरिक आकृति में प्रौढ़ो के समान हो जाते हैं।

(vi) **गामक विकास–** इस अवस्था में विभिन्न अंगों के पर्याप्त परिपक्वन से गामक क्रियाओं में अत्यधिक विकास प्रदर्शित होता है। यह अवस्था अत्यन्त द्रुत व तीव्र विकास का कार्य होने के कारण उनके द्वारा व्यक्त की जाने वाली प्रतिक्रियायें सरल की अपेक्षा जटिल अधिक होती हैं। इस अवस्था में वे कठिन शारीरिक श्रम वाले खेलों जैसे फुटबाल, हॉकी, बास्केटबाल, क्रिकेट आदि में अधिक रूचि लेते हैं।

शारीरिक विकास एवं शिक्षा व्यवस्था

शिक्षक को बालक के आन्तरिक व वाह्य अवयवों द कार्य प्रणाली से पूर्णयता अवगत होना चाहिए ओर इसी के अनुसार विद्यालय कार्यक्रम का आयोजन सुनिश्चित

करना चाहिए। बिना उपयुक्त संरचनात्मक परिपक्वता प्राप्त किये बालक को किसी चालक कुशलता लिये प्रशिक्षित नहीं करना चाहिए। विद्यालय में शारीरिक खेलों के साथ ही मानसिक खेलों हेतु भी प्रावधान कर, गिने–चुने खेलों के स्थान पर विभिन्न क्षमताओं एवं रूचियों वाले छात्रों के लिये विभिन्न प्रकार के खेलों को सम्मिलित करना चाहिए। विद्यालय में किसी भी प्रकार के शैक्षिक कार्यक्रम का समावेश करने से पहले उसकी भावी उपयोगिता को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए।

10.4.2 बालक के मानसिक व संज्ञानात्मक विकास में उदित योग्यतायें

मानसिक विकास से तात्पर्य मानसिक क्षमताओं (Mental abilities) के विकास से होता है। इस मानसिक क्षमता में चिन्तन व तर्क व याद रखने की क्षमता, सही–सही प्रत्यक्षणात्मक विभेद (perceptual discrimanation) करने क्षमता, आदि सम्मिलित होती है। जेम्स ड्रेवर ने मानसिक विकास को परिभाषित करते हुए कहा कि व्यक्ति के जन्म से परिपक्वता तक की मानसिक क्षमताओं एवं मानसिक कार्यो के उत्तरोत्तर प्रकटन (Appearance) एवं संगठन (organization) की प्रक्रिया को मानसिक विकास कहा जाता है। बालक की विभिन्न अवस्थाओं में मानसिक विकास से सम्बन्धित योग्यतायें अलग–अलग विकसित होती हैं। जन्म से बाल्यावस्था तक के विकास का अध्ययन आप पूर्व खण्डों में कर चुके हैं। अतः यहॉ पर मध्य बाल्यावस्था व किशोरावस्था में मानसिक व संज्ञानात्मक विकास की चर्चा की जा रही है–

बाल्यावस्था–

क्रो एवं क्रो के अनुसार 6 वर्ष की अवस्था तक बालक की मानसिक योग्यतायें पूर्णरूप से विकसित हो जाती है। बाल्यावस्था के विभिन्न वर्षो में उसकी मानसिक क्रियाओं के विकास का प्रदर्शन निम्न प्रकार से होता है।

(i) **छठा वर्ष–** सरल प्रश्नों के उत्तर देने योग्य हो जाता है। 15–20 तक की गिनती सुना सकता है। चित्र को देखकर उसके विषय में कुछ वाक्य बता सकता है।

(ii) **सातवां वर्ष–** बालक में दो वस्तुओं में अन्तर करने की क्षमता विकसित हो जाती है। वह छोटी–छोटी घटनाओं का वर्णन, जटिल वाक्यों का प्रयोग और साधारण समस्याओं का समाधान खोजने का प्रयास करने लगता है।

(iii) **आठवा वर्ष–** 17–18 शब्दों के वाक्यों को दुहराना प्रारम्भ कर देता है। छोटी कहानियों को याद करके सुनाने व उससे सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर देने में समक्ष हो जाता है।

शारीरिक, सामाजिक, संवेगात्मक, संज्ञानात्मक, सृजनात्मक

(iv) **नवां वर्ष–** बालक समय, वार, दिनांक, वर्ष आदि समझने लगता है। वह रूपये पैसे गिन लेता है। जोड़, घटाना, गुणा, भाग की सरल संक्रियायें हल कर लेता है।

(v) **दसवां वर्ष–** बालक के शब्द भण्डार में वृद्धि होने के कारण द्रुत गति से बोलना सीख जाता है और छोटी कहानियों को याद करके सुनाने योग्य हो जाता है। इस अवस्था तक उचित प्रकार से निरीक्षण व तार्किक चिन्तन करने लगता है।

(vi) **ग्यारहवां वर्ष–** बालक में तर्क, जिज्ञासा और निरीक्षण शक्तियों का पर्याप्त विकास हो जाता है। फलस्वरूप वह समान व असमान में भेद करने लगता है। पशु पक्षियों, कीड़े–मकोड़ो और कल पुर्जो का निरीक्षण करके ज्ञान प्राप्त करने हेतु प्रयासरत होता है।

(vii) **बारहवां वर्ष–** बालक में तर्क और समस्या समाधान की शक्ति का अत्यधिक विकास हो जाता है। उसमें कठिन शब्दों की व्याख्या करने और साधारण बातों के कारण बताने की योग्यता विकसित हो जाती है।

उपरोक्त के अवलोकन से स्पष्ट है कि इस अवस्था में विद्यालय जाना प्रारम्भ करने से उसके परिदृश्य में बहुत विस्तार होता है उसका अवलोकन क्षेत्र विकसित होता है, जिससे उसका चिन्तन व तर्क आत्मकेन्द्रित न रहकर बालकेन्द्रित होने लगता है। उसकी निर्णय शक्ति से विकास होता है और वे पढ़ने लिखने जैसी संज्ञानात्मक क्रियाओं में रूचि प्रदर्शित करने लगते हैं।

किशोरावस्था– इस अवस्था में मानसिक योग्यताओं का विकास अपनी उच्चतम सीमा पर पहुंच जाता है। इस अवस्था में विकसित होने वाली मानसिक योग्यताओं की विशेषतायें निम्न प्रकार है–

(प) **बुद्धि का विकास–** इस अवस्था में बुद्धि का अधिकतम विकास हो जाता है। जिसके कारण उसमें बौद्धिक कार्यो को करने की क्षमता प्रदर्शित होने लगती है।

(ii) **मानसिक योग्यतायें (Mental Capacities)–** मानसिक योग्यताओं का स्वरूप निश्चित होकर उनमें सोचने, समझने, विचार करने, अन्तर करने व समस्या समाधान जैसी योग्यतायें विकसित हो जाती हैं। किशोरों में उच्च मानसिक योग्यताओं को प्रयोग करने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है परन्तु वह प्रौढ़ो के समान उनका प्रयोग करने में कुशलता प्राप्त नहीं कर पाता।

(iii) **चिन्तन व तर्क शक्ति–** इस अवस्था में किशोर के चिन्तन पर अधिकांशतः शक्तिशाली पक्षपातों और पूर्व निर्णयों का प्रभाव होता है। तर्क शक्ति का पर्याप्त विकास हो जाने से बिना तर्क किये वह किसी भी बात को आसानी से स्वीकार नहीं करते हैं।

(iv) भाषायी विकास (Langauge Development)– शब्द भंडार बहुत विस्तृत हो जाने के कारण वह कहानी, उपन्यास, पत्र–पत्रिकाओं आदि में रूचि लेने लगती है। भाषायी ज्ञान में तीव्रता से वृद्धि होने का कारण सामाजिक सम्पर्को में विस्तार है।

(v) अन्य रूचियों का विकास– किशोरावस्था में रूचियों का विकास तीव्रता से होता है तथा बालक, बालिकाओं में कुछ समान व कुछ भिन्न रूचियां विकसित होती हैं। समान रूचियों में भावी जीवन व भावी व्यवसाय में रूचि, सिनेमा, रेडियो में रूचि और प्रेम साहित्य पढ़ने में रूचि सम्मिलित की जा सकती है। भिन्न रूचियों के अन्तर्गत बालकों में स्वस्थ रहने व बालिकाओं में सुन्दर दिखने की रूचि, बालकों की खेलकूद और बालिकाओं की संगीत, नृत्य, नाटक आदि में रूचि शामिल की जा सकती है।

मानसिक व संज्ञानात्मक विकास एवं शिक्षा व्यवस्था–

विकसित होते हुए बालक के अपने भौतिक तथा सामाजिक वातावरण के प्रति अधिकाधिक जटिल समन्वित प्रक्रियायें करने की योग्यता से उसके मानसिक विकास का आभास होता है। मानसिक विकास में स्मृति, कल्पना, भाषा, प्रत्यक्षण संकल्पना तथा समस्या समाधान जैसी योग्यताओं का विकास शामिल है।

1. कक्षा शिक्षण में मानसिक योग्यता विकास तथ्यों पर आधारित निम्नलिखित बिन्दुओं पर ध्यान देने से उसे अधिक रूचिकर तथा प्रभावशाली बनाया जा सकता है जैसे शिक्षण बालको की परिपक्वता स्तर के अनुसार होना चाहिए।
2. शैशवावस्था में शिशुओं की स्वाभाविक क्रियाओं और स्वतंत्रता को बाधित न कर उनकी आत्माभिव्यक्ति हेतु मातृभाषा का प्रयोग करना चाहिए। उनकी कल्पना के विकास हेतु छोटी कवितायें याद कराना, अन्वेषण शक्ति हेतु कौतुहल का वातावारण प्रदान कर व विभिन्न इन्द्रियों के विकास हेतु देखने, सुनने, छूने, सूघने आदि के अवसर प्रदान करना चाहिए।
3. बालकों में आत्म प्रदर्शन की पुष्टि हेतु नाटक, वाद विवाद आदि अवसर प्रदान किये जाने चाहिए।

बोध प्रश्न –

टिप्पणी – क : नीचे दिये गये रिक्त स्थान में अपने उत्तर लिखिये–
ख : इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों में से अपने उत्तर का मिलान कीजिये–

1. शारीरिक योग्यताओं के विकास से क्या तात्पर्य है?

....

....

....

2. विभिन्न इन्द्रियों के विकास हेतु किस प्रकार की क्रियायें करनी चाहिए?
....
....
....

शारीरिक, सामाजिक, संवेगा–त्मक, संज्ञानात्मक, सृजनात्मक

10.4.3 बालक में सामाजिक योग्यताओं का विकास

बालक जन्म के समय अपनी मूलप्रवषत्तियों से ग्रसित, सामाजिकता शून्य प्राणी होता है। समाज के सम्पर्क में आकर अपनी जन्मजात शक्तियों व योग्यताओं को विकसित कर अपने आचरण व्यवहार को समाज के अनुसार परिमार्जित करके और सामाजिक गुणों को सीखकर स्वयं का समाज से समायोजन स्थापित करता है। इसी प्रक्रिया को सामाजीकरण कहा जाता है। सोरन्सन ने इसे निम्न प्रकार से परिभाषित किया है– सामाजिक अभिवृद्धि और विकास का तात्पर्य है– अपनी और दूसरों की उन्नति के लिए योग्यता वृद्धि।

By social growth and development we mean the increasing ability to get along well with the self and others. - Sorenson

विकास की भिन्न अवस्थाओं में सामाजिक योग्यताओं का विकास भिन्न प्रकार से होता है। यहॉ पर बाल्यावस्था व किशोरावस्था में सामाजिक विकास की चर्चा की जा रही है।

बाल्यावस्था– इस अवस्था में निम्नांकित प्रकार से योग्यतायें विकसित होती है।

(i) विद्यालयीय वातावरण में समायोजन स्थापित करने के बाद उसमें स्वतंत्रता, सहायता व उत्तरदायित्व जैसे गुणों का विकास प्रारम्भ हो जाता है।

(ii) बाल्यावस्था में वह किसी न किसी समूह या टोली (Gang) का सदस्य बन जाता है जिसमें उसमें आत्मनियंत्रण, साहस, न्याय, सहनशीलता, नेता के प्रति भक्ति, दूसरों के प्रति सद्भावना आदि गुणों का विकास होता है।

(iii) इस समय बालक बालिका अपनी रूचियों के अनुसार अपने–अपने अलग समूह बनाते हैं।

(iv) वह इस अवस्था में अधिकांशतः बाहर रहना चाहता है और अपने माता–पिता व शिक्षको का सम्मान कर शिष्टाचार पूर्वक व्यवहार करता है।

(v) इस अवस्था में बालक में सामाजिक स्वीकृति एवं प्रशंसा पाने की तीव्र उत्कंठा प्रदर्शित होती है। इस हेतु वे छोटे बच्चों का सहयोग करने, पारिवारिक कार्यो में सहायता करने, पढ़ने लिखने तथा बड़ों के आदेशानुसार व्यवहार का पालन करते हैं। इसके विपरीत उपेक्षित बालक विद्रोही तथा समाज विरोधी बन जाते हैं। इस प्रकार स्नेह व संरक्षण से वंचित बालक बलिकाओं में नकारात्मकता विकसित होने के कारण समाज विरोधी बन जाते हैं और ये बाल–अपराधी (Juvnile Delinquent) कहलाते हैं।

मध्य बाल्यावस्था से किशोरावस्था (9 वर्ष से 18 वर्ष)

बाल्यावस्था में बालक अपने सामजिक वातावरण के अनुसार वांछनीय या अवांछनीय व्यवहार में निरन्तर प्रगति करता रहता है वह अधिकतर उन्हीं कार्यो को करने की चेष्टा करता है जिनके किये जाने का कोई उचित कारण नहीं जान पड़ता है।

किशोरावस्था

किशोरावस्था में शारीरिक परिवर्तन अत्यन्त द्रुत गति से होने व अन्तस्रावी ग्रन्थियों के स्त्राव प्रारम्भ होने से कई महत्वपूर्ण परिवर्तन परिलक्षित होते हैं और उनको भविष्य में एक युवा की भांति समाज में समायोजित करने हेतु उन्मुख करते हैं। किषोरावस्था में होने वाली सामाजिक योग्यताओं में परिवर्तन अग्रांकित है–

(i) इस अवस्था के प्रारम्भ में समान लिंगों अर्थात किशोर, का किशोर के प्रति व किशोरी का किशोरी के प्रति आकर्षण प्रकट होता है और उत्तरकाल में विपरीत लिंगों में आकर्षण प्रदर्शित होता है। इस अवस्था में वे सदैव दूसरे के समक्ष अपने सर्वोत्तम रूप में उपस्थित होने के लिए प्रयासरत रहते हैं।

(ii) किशोर, किशोरियां दोनों ही समूहों का निर्माण करते हैं। समूहों का मुख्य उद्देश्य मनोरंजन की प्राप्ति होती है। प्रत्येक समूह के आदत, विचार, तौर'–तरीके विशिष्ट प्रकार के होते हैं और प्रत्येक सदस्य अपने समूह के लिए अत्यधिक भक्ति प्रदर्शित करता हैं जिससे उनमें नेतृत्व, उत्साह, सहानुभूति, सद्भावना आदि सामाजिक गुणों का निर्माण होता है।

(iii) समूह की सदस्यता के कारण वे सामाजिक गतिविधियों में भाग लेते हैं। समूह में कार्य करने से उनमें बहुमुखी रूचियों–जैसे, कला–साहित्य, संगीत, समाज सेवा का विकास होता है।

(iv) इस अवस्था में किषोर स्वयं को समाज का एक सक्रिय सदस्य बनाने हेतु स्वयं के लिए व्यवसाय चुनाव की दिशा में प्रयासरत होता है। इस प्रयास में सफलता–असफलता उसके सामाजिक विकास को प्रभावित करती है।

(v) किशोरावस्था में किशोर किशोरियों को माता–पिता द्वारा सही–गलत व नैतिक आदर्शो के ज्ञान के अनुसार अनुकूलित होना पसंद नहीं आता है। वे प्रायः इस स्थिति में विद्रोह कर देते हैं।

(vi) किशोरावस्था में समाज में सम्मान, प्रशंसा, प्रतिष्ठा प्राप्त करने व समाज सेवा करने की उत्कंठा में वे राजनैतिक दलों से प्रभावित होकर उनके सदस्य बन जाते हैं। यहाँ यह कहना उचित होगा कि स्वस्थ राजनैतिक वातावरण से उसमें परोपकार, सेवाभाव जैसे गुण विकसित होते हैं वहीं दूसरी ओर दूषित वातावरण के कारण उनमें सामाजिक दृष्टि से नकारात्मक गुणों का सूत्रपात हो जाता है।

शारीरिक, सामाजिक, संवेगात्मक, संज्ञानात्मक, सृजनात्मक

1. शैशवावस्था में अनुकरण की प्रवृत्ति प्रबल होने के कारण शुद्ध उच्चारण, अच्छी वेशभूषा, नियमितता, मधुर व्यवहार, सुन्दर लिखावट और उत्तम बोलचाल की शैली के उत्तम उदाहरण प्रस्तुत करके, उनके बुरी आदतों से दूर करना चाहिए।

2. प्राथमिक कक्षा में प्रवेश उपरान्त सामाजिक परिदृश्य में विस्तार के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली समायोजन समस्याओं को सफलतापूर्वक हल करने में शिक्षक द्वारा सहायता प्रदान करने पर समाज द्वारा अपेक्षित व्यवहार के विकास में सहायता मिलती है।

3. सामाजिक विकास के लिए विद्यालय में सामूहिक आयोजनों जैसे खेलकूद, उत्सव–कार्यक्रमों का समय–समय पर आयोजन करना चाहिए।

10.4.4 बालक के संवेगात्मक विकास में योग्यताओं का विकास

संवेगात्मक विकास का अर्थ– संवेग प्राणी का आन्तरिक अनुभव है, जिसमें उसकी मानसिक स्थिति एक उथल पुथल के रूप में व्यक्त होती है। किसी प्रकार की उत्तेजना समाप्त होने पर हमें जिस प्रकार के मनोभावों का अनुभव होता है, उसे संवेग कहते हैं। यहाँ यह ध्यान रखने योग्य है कि संवेग मूलप्रवृत्ति से भिन्न है। जबकि दोनों की प्रवृत्ति जन्मजात है परन्तु संवेग की प्रवृत्ति भावात्मक है जबकि मूल प्रवृत्ति क्रियात्मक है। विभिन्न मनोवैज्ञानिको ने संवेग को निम्न प्रकार से परिभाषित किया है–

वुडवर्थ– संवेग व्यक्ति की गति में अथवा उत्तेजित होने की अवस्था है।

Emotion is a moved or stirred up state of the individual. -Woodworth

रॉस– संवेग चेतना की वह अवस्था है जिसमें रागात्मक प्रवृत्ति की प्रधानता होती है।

Emotional state are those modes of consciousness in which the feeling element is predominent. – Ross

संवेग की विशेषतायें (Characteristics of emotion)

1. सभी प्राणी संवेदयुक्त होते हैं परन्तु वैयक्तिक भिन्नता के कारण प्रत्येक में इसकी प्रबलता में अन्तर व्याप्त होता है और समान परिस्थितियों में भिन्न–भिन्न प्राणियों में इनके प्रकाशन में अन्तर होता है।
2. प्रत्येक संवेग किसी न किसी मूल प्रवृत्ति से सम्बन्धित होता है।
3. संवेग में अनुभूति चेतना होती है और शारीरिक परिवर्तन परिलक्षित होता है।
4. संवेगों में दुख या सुख का भाव निहित होता है।

10.4.4.2 संवेगों के प्रकार–

चौदह मूलप्रवृत्तियों के समान ही चौदह संवेग भी होते हैं। मैक्डूगल द्वारा बताये गये संवेग निम्न प्रकार हैं–

क्र.सं.	मूलप्रवृत्ति (Instinct)	संवेग (emotion)
1.	पलायन (Escape)	भय (Fear)
2.	युयुत्सा (Combat)	क्रोध (Anger)
3.	निवृत्ति (Repulsion)	घृणा (Disgust)
4.	सन्तान कामना (Parental)	वात्सल्य (Tederness)
5.	शरणागति (Appeal)	करूणा (Distress)
6.	कामप्रवृत्ति (Sex)	कामुकता (Lust)
7.	जिज्ञासा (Sex)	आश्चर्य (Wonder)
8.	दैन्य (Submission)	आत्महीनता (Negative self feeling)
9.	आत्मगौरव (Self Assertion)	आत्मअभिमान (Positive self feeling)
10.	सामूहिकता (Gregariousness)	एकाकीपन (Lonlyness)
11.	भोजन तलाश (Food seeking)	भूख (Hunger)
12.	संग्रहण (Acquisition)	अधिकार (Feeling of ownership)
13.	रचनाधर्मिता (Construction)	कृतिभाव (Creativity)
14.	ह्रास (Laughter)	आमोद (Amusment)

बालक के विकास की बाल्यावस्था व किशोरावस्था में सांवेगिक योग्यताओं का विकास निम्न प्रकार से होता है।

बाल्यावस्था

बाल्यावस्था सांवेगिक विकास की दृष्टि से एक अनोखा काल (unique stage) है। संवेगों में सामाजिकता का भाव आने के कारण, सम्पूर्ण बाल्यावस्था में उसके अनुभवों व भाषा–ज्ञान की विशिष्टता के कारण उसके संवेगों में लगातार परिवर्तन प्रदर्शित होते रहते हैं। बाल्यावस्था में संवेगों का विकास निम्न प्रकार से होता है–

(i) शैशवावस्था की तुलना में बाल्यावस्था में संवेगो की उग्रता में कमी आती है। वह शैशवावस्था की भांति उत्तेजित नहीं होता है।

(ii) बाल्यावस्था को टोली आयु कहा गया है। प्रायः वह किसी न किसी समूह का सदस्य होता है जहाँ उसके अंदर ईर्ष्या व द्वेश की भावना जन्म लेती है। पहले यह भावना घर के भाई बहनों फिर समूह के सदस्यों या साथियों के प्रति हो

जाती है। इसी कारण से उसके व्यवहार में अन्य को चिढ़ाना, झूठे आरोप लगाना, तिरस्कार करना, निंदा करना या व्यंग्य करना प्रदर्शित होता है।

(iii) बाल्यावस्था में बालकों को अभिभावक द्वारा यह एहसास करना कि वे बच्चे न होकर बड़े हो गये हैं और उनके लिए घर, विद्यालय व समाज में व्यवहार करने हेतु कुछ नियम निर्धारित कर दिये जाते हैं जिसे घर में नियंत्रण, विद्यालय में अनुशासन जैसे नामों से सम्बोधित किया जाता है। जिसके कारण बालक मनचाही स्वतंत्रता न पाकर उग्र होकर क्रोध का प्रदर्शन करता है परन्तु फिर भी उसकी पूर्ति न होने पर वह असहाय महसूस करता है। उसमें हताशायें (Frustration) उत्पन्न होती है और उसके संवेगात्मक व्यवहार को विकष्त कर देती है।

(iv) बाल्यावस्था में बालकों में नई वस्तु के सम्बन्ध में क्या, कैसे आदि से परिचित होने की जिज्ञासा की भावना प्रबल होती है जैसे किसी खिलौने को कुछ देर तक खेलने के बाद वह उसके कलपुर्जे अलग कर उसकी कार्य प्रणाली को जानने की जिज्ञासा प्रकट करता है।

(vi) बाल्यावस्था में बालक आनन्ददायक अथवा सुखद परिस्थितियों में प्रफुल्लता (joy) संवेग का अनुभव करता है। वह सामान्य रूप से प्रसन्न रहता है और दूसरों के प्रति उसका विद्वेश (Jelousy) अस्थायी होती है।

(vii) बालक स्नेह संवेग का अनुभव तब करता है जब वह अपनी प्रियवस्तु या प्रियजनों के पास रहता है या जिनकी वह सहायता करता है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि बाल्यावस्था में निराशा, चिन्ता, भय, कुण्ठा, स्नेह, हर्ष, प्रफ ुल्लता संवेग स्पष्ट रूप से परिलक्षित होते हैं।

किशोरावस्था

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार संवेगात्मक व्यवहार में आये तीव्र परिवर्तन ही किशोरावस्था के आगमन को पुष्ट कर देते हैं। इस अवस्था में होने वाले संवेगों की निम्नलिखित विशेषतायें हैं–

(i) किशोरावस्था भावना प्रधान होने के कारण किशोरो में प्रेम, दया, क्रोध, सहानुभूति आदि संवेग स्थायी रूप धारण कर लेते हैं। संवेगों की स्थिरता व अस्थिरता पर किशोर का शारीरिक स्वास्थ्य स्पष्ट रूप से प्रभाव डालता है।

(ii) विरोधी मनोदशाओं (समान परिस्थितियों में अत्यधिक प्रसन्न या अत्यधिक दुखी) से युक्त होने के कारण संवेगों में भी विभिन्नतायें परिलक्षित होती है।

(iii) किशोरावस्था में कामभावना व्यवहार के केन्द्रीय तत्व के रूप में कार्य करती हैं। इस अवस्था में काम प्रवृत्ति बहुत तीव्र हो जाने से प्रेम संवेग बढ़ जाते हैं।

स्व–प्रेम (Autoerotism), समलिंगी प्रेम (Homosexuality) तथा विषमलिंगी प्रेम (Hetro sexuality) के रूप में किशोर किशोरियों की काम प्रवृत्ति अभिव्यक्त होती है।

(iv) किशोरावस्था में स्वाभिमान की भावना प्रबल होने व बालक व प्रौढ़ के बीच की द्वंदावस्था (जिसके कारण न तो वह बालक के समान स्नेह की प्राप्ति करता है और न ही प्रौढ़ो के समान निर्णय लेने हेतु स्वतंत्र होता है) के कारण संवेगात्मक जीवन में वातावरण से अनुकूलन करने में बहुत कठिनाई होती है। प्रायः असफलता की स्थिति में अत्यधिक निराशा का शिकार होकर घर से पलायन या आत्महत्या करने की ओर उन्मुख होता है।

(v) इस अवस्था में स्वतंत्रता की भावना व क्रियाशीलता की प्रवृत्ति प्रबल होने के कारण स्वयं के लिए समाज से हटकर नियमित जीवन आदर्श और परम्पराओं के अनुसार जीवन यापन करना चाहते हैं जिसके परिणामस्वरूप तर्क–वितर्क व अन्य झंझावतों के कारण इस अवस्था में संवेग कुछ उग्र हो जाते हैं।

बालक में संवेगात्मक योग्यताओं का विकास व शिक्षा व्यवस्था

शिक्षा के उत्तम उद्देश्य चरित्र–गठन केवल मात्र वांछनीय संवेगों पर आध ारित रहते है। अतः शिक्षकों को इस शिक्षा में सफलता प्राप्ति हेतु वांछनीय संवेगों का सदुपयोग करना चाहिए। विद्यालय का स्वस्थ वातावरण में उसको आत्माभिव्यक्ति के उचित अवसर प्रदान कर अत्यधिक मानसिक तनाव से सुरक्षा प्रदान कर उसको संवेगात्मक सुरक्षा प्रदान की जा सकती है।

बोध प्रश्न

टिप्पणी – क : नीचे दिये गये रिक्त स्थान में अपने उत्तर लिखिये–

ख : इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों में से अपने उत्तर का मिलान कीजिये–

3. बाल अपराधी किसे कहते है?

....

....

....

4. किशोरावस्था में परिवर्तन की गति कैसी होती है?

....

....

....

5. संवेगात्मक सुरक्षा कैसे प्रदान की जा सकती है?

....

....

....

10.4.5 बालक में सृजनात्मक योग्यताओं का विकास

शारीरिक, सामाजिक, संवेगा–त्मक, संज्ञानात्मक, सृजनात्मक

सृजनात्मकता (Creativity) का अर्थ– सृजनात्मकता एक ऐसी चिन्तन प्रक्रिया है जो नये संयोजनों का निर्माण करती है। यह अभिसारी (convergent) चिन्तन प्रक्रिया है जिसमें मस्तिष्क विभिन्न दिशाओं में सोचता है। यह वह उत्पादक क्षमता है जो कि नवीन तथा उपयोगी परिणाम को प्राप्ति में सहायक होती है। विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने इसे विभिन्न प्रकार से परिभाषित किया है।

क्रो एवं क्रो के अनुसार– सृजनात्मकता मौलिक परिणामों को अभिव्यक्त करने की मानसिक प्रक्रिया है।

"Creativity is a mental process to express the original outcomes"

– **Crow & Crow**

हैमोविज एवं हैमोविज– नवपरिवर्तन लाने, आविष्कार करने तथा तत्वों को इस ढंग से रखने की क्षमता जैसे वे पहले कभी नहीं रखे गये हों ताकि उनका महत्व या सुन्दरता बढ़ जाये, को ही सृजनात्मकता की संज्ञा दी जाती है।

"Creativity has been difined as the capacity to innovate to invent, to place elements in the way in which they have never been placed, such that their value or beauty is enhanced."

- Haimowity & Hamovity

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह कह सकते हैं कि सृजन को ऐसी चिन्तन प्रक्रिया के रूप में परिभाषित कर सकते हैं जो किसी व्यक्ति को सामान्यः वातावरण से उपयुक्त प्रेरणा मिलने पर कुछ ऐसी सामग्री उत्पन्न करने योग्य बनाती है जो उसके स्वयं के लिये या समाज के लिये नवीन और उपयोगी हो।

सृजनात्मकता की कुछ विशेषतायें–

(i) सृजन की संकल्पना बहुत विस्तृत है। यह केवल पढ़े लिखे लोगों में ही नहीं कारीगरों में भी हो सकती है।

(ii) सृजनात्मकता का बुद्धि से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। सभी कुशाग्र बुद्धि बालक न ही सृजनात्मक होते हैं और न ही सृजनात्मक बालक बुद्धिमान ही होते हैं। परन्तु उच्च स्तरीय सृजनात्मक सफलता के लिये न्यूनतम बुद्धि की आवश्यकता होती है।

(iii) गिलफोर्ड ने सृजनात्मकता में छः प्रकार की योग्यतायें सम्मिलित की हैं– विचारों की नम्यता, प्रवाहशीलता, मौलिकता, विस्तरण योग्यता, पुनर्व्याख्या शक्ति तथा समस्याओं के प्रति संवेदनशीलता।

(iv) एक अध्ययन (टारेन्स) में यह पाया गया कि सृजनात्मक चिन्तन के सभी पक्षों में बालक, बालिकाओं की अपेक्षा अधिक अच्छे थे अर्थात् सृजनात्मक विकास में लैंगिक विभिन्नता भी होती है।

(v) सष्जनात्मकता में प्रवाह (Fluency), विविधता (Flexibility), मौलिकता (Originally), विस्तारण (Elaboration) चार प्रमुख तत्व हैं। (1) प्रवाह से तात्पर्य किसी समस्या के प्रति अधिकाधिक विचारों या प्रत्युत्तरों की प्रस्तुति से है। इसका तात्पर्य शब्द साहचर्य (Word assoceation) स्थापित करने तथा शब्दों की अभिव्यक्ति सो सम्बन्धित होता है। (2) विविधता का अर्थ किसी समस्या के लिए विकल्पों में विविधता के होने से है। व्यक्ति किसी समस्या का समाधान करने के कितने तरीको को जानता है। (3) मौलिकता से तात्पर्य प्रत्येक व्यक्ति का किसी समस्या के लिए चयनित विकल्प अन्य लोगों से भिन्न होते हैं। यह समाधान बिल्कुल ही नया और अनूठा होता है। (4) विस्तारण से तात्पर्य दिये गये विचारों या भावों की विस्तृत व्यवस्था, व्यापक पूर्ति या गहन प्रस्तुतिकरण से होता है।

(vi) सृजनात्मकता का विकास बालक की सभी अवस्थाओं में एक समान नहीं होता है। इनमें कई बार उतार चढ़ाव प्रदर्शित होते हैं।

(vii) शैशवावस्था में बालक जिज्ञासु प्रवृत्ति का होता है परन्तु इस अवस्था में सृजनात्मक योग्यतायें विकसित नहीं हो पाती हैं।

(viii) बाल्यावस्था के अन्तर्गत पांच वर्ष की आयु में इसमें प्रथम बार उतार आता है फिर 6, 7, 8वें वर्ष इसमें प्रगति होती है। चौथी कक्षा/लगभग 9 वें वर्ष में इसमें दुबारा उतार आता है और 10वें वर्ष में विकास की ओर बढ़ता है। बारह वर्ष की आयु में इनमें पुनः उतार आता है और इसके बाद इसमें क्षतिपूर्ति और फिर अपरिवर्ती चढ़ाव आता है जो कि किशोरावस्था में अपनी चरम सीमा पर पहुंच जाता है।

मनोवैज्ञानिकों ने सृजनात्मक योग्यताओं के विकास में आने वाले उतार–चढ़ाव का अध्ययन कर इसके कुछ कारणों का निष्कर्षण किया। टारेन्स (Torrence) के अनुसार 5, 9 तथा 12 वर्ष की आयु पर आने वाले मंदन का कारण, बालक का सांस्कृतिक तथा शैक्षिक वातावरण उससे सामाजिक वातावरण (Conformity) की नई–नई मांग करता है। बाल्यावस्था की मध्य अवस्था में आने वाला उतार उस समय आता है जब बालक वाह्य अधिकारों की सामाजिक मांगों और अपेक्षाओं के प्रति जागरूक होता है। दूसरा उतार 9 वर्ष की आयु में उस समय प्रदर्शित होता है जब बालक अपने समलिंगी साथियों द्वारा अपनाये जाने तथा उनके अनुमोदन की बढ़ती हुई आवश्यकता को महसूस करता है और तीसरा उतार 12 वर्ष की आयु पर उस समय आता है जब किशोरावस्था की चिन्ताओं से वह ग्ररित हो जाता है। विशेष शिक्षण प्रणाली के प्रयोग व विशेष प्रशिक्षण से उतार रोका भी जा सकता है।

सर्जनात्मक प्रक्रिया एक जटिल प्रक्रिया है, जो कि कई चरणों में सम्पन्न होती है। ये चरण निम्न प्रकार है–

शारीरिक, सामाजिक, संवेगा–त्मक, संज्ञानात्मक, सृजनात्मक

(i) **तैयारी (Preparation)**– सामान्य व्यक्ति की सोच से दूर एक अनूठी समस्या के प्रत्यक्षण के उपरान्त उसके विभिन्न पहलुओं का अध्ययन किया जाता है जिसमें परम्परागत विचारों को विलग कर एक विशिष्ट समाधान की खोज या चयन कर विभिन्न विचारों और योजनाओं पर विचार किया जाता है जिसका उद्भवन काल में कई प्रकार से विस्तारण किया जाता है।

(ii) **उद्भवन काल (Incubation period)**– कई कोशिशों के उपरान्त समस्या का समाधान प्राप्त न कर पाने की स्थिति में सृजनात्मक विचारक उसकी ओर से अपना ध्यान हटा लेता है परन्तु अचेतन मन में वह निरंतर समाधान ढूढ़ने हेतु चिंतन करता रहता है।

(iii) **प्रदीप्ति (Illumination)**– समस्या हेतु किसी एक विचार के प्रति आशक्त होकर वह उससे प्राप्त होने वाले परिणामों की कल्पना करने लगता है। इस स्थिति में विचार, हल या संरचना एकाएक सम्पूर्ण रूप से कोई निश्चित स्वरूप धारण कर लेती है।

(iv) **सत्यापन (Verification)**– इस अवस्था में सम्पूर्ण रूप से प्राप्त हल का विस्तृत ब्योरा बनाने की प्रक्रिया होती है। इसी में हल की संरचना या ब्यौरे के बारे में आलोचना करके या उसका परिशोधन करके अंतिम रूप दिया जाता है।

किसी भी सृजनात्मक चिन्तन का कारण कोई न कोई प्रेरणा होती है जिसकी पृष्ठभूमि में कठिन परिश्रम व अध्ययन होता है। प्रत्यक्षरूप से बिना आधारभूत अवयवों से कोई फल प्राप्त नहीं हो सकता, यद्यपि उनका संगठन तथा स्वरूप वास्तव में नवीन और सृजनात्मक हो सकता है अर्थात् सृजनात्मक क्षमता, प्रेरणा, कड़ी मेहनत, आत्मनियंत्रण और सृजनात्मक क्रिया के साथ तादात्म्य तथा आत्म–अभिव्यक्ति के फलस्वरूप आती है।

सृजनात्मक योग्यताओं का विकास एवं शिक्षा व्यवस्था

(i) विद्यालय से सम्बन्धित शैक्षिक वातावरण, संगठन एवं प्रशासन, समुचित शैक्षिक वातावरण प्रदान करके– जैसे विद्यार्थी तथा शिक्षक दोनों में प्रयोगात्मक दृष्टिकोण का विकास करके। परीक्षाओं में सृजनात्मकता को स्थान देकर। विवेकशील चिन्तन को शाला कार्यक्रम का एक अभिन्न अंग बनाकर मौलिकता को प्रोत्साहित व उचित निर्देशन प्रदान करके।

(ii) **कक्षा का वातावरण–** वातावरण को प्रजातांत्रिक रूप प्रदान करके, स्वयं सीखने पर बल देकर, कक्षा शिक्षण का जीवन की समस्याओं में प्रयोग करने का प्रशिक्षण देकर, गृहकार्य मौलिक चिन्तन पर आधारित करके।

(iii) **शिक्षक–** शिक्षक द्वारा स्वयं के सृजनात्मक व्यवहार से बालको को प्रेरित करके। शिक्षण हेतु ऐसे शैक्षिक उपकरणों, पाठ्यपुस्तकों तथा लिखित सामग्री जो सृजनशीलता के विकास में सहायक हो, का प्रयोग करना। सृजनात्मक विकास में सहायक शिक्षण विधियों का प्रयोग करना जैसे– मस्तिष्क झंझावती विधि (Brain storming technique), विचार पकड़ विधि (Idea-trap method), संपरिस्थिति विधि (synectics method)

विद्यालय में प्रयोगात्मक दृष्टिकोण का प्रसार करके व कक्षा परीक्षाओं में सृजनात्मकता को स्थान देकर, बालकों में नम्यता का विकास कर स्वस्थ व समुचित शैक्षिक वातावरण प्रदान कर सृजनात्मकता को प्रोत्साहित किया जा सकता है। विद्यालय में स्वानिर्मित उपकरणों की प्रदर्शनी आयोजित कर, वाद विवाद, कविता कहानी, निबन्ध जैसी मौलिकता प्रोत्साहित करती गतिविधियों के आयोजन से उनमें विवेकशील चिन्तन जाग्रत करवाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त करके सीखना (Learning by doing), मान्टेसरी, किण्डरगार्टन प्रोजेक्ट जैसी सृजनात्मकता से युक्त शिक्षण विधियों का प्रयोग कर बालकों में सृजनात्मक विकास किया जा सकता है।

10.4.6 बालक के नैतिक विकास में उदीयमान योग्यतायें–

प्रत्येक समाज के आदर्श (Ideals) या मानक (Norms) या नैतिक मानदण्ड (Moral standard) होते हैं जिनके अनुसार विकसित होता बालक सामाजिक सम्पर्क में आने पर इनको स्वीकार करके सीखता है और आत्मसात कर लेता है। इन मानदण्डों को स्वीकार करने में उसे व्यक्तिगत इच्छाओं से संघर्ष करना होता है, उसे यह सीखता होता है कि स्वयं की इच्छाओं और सामाजिक दायित्व के संघर्ष को किस प्रकार से नियंत्रित किया जाये।

सामाजिक परिस्थितियों में जिस प्रकार के व्यवहार करने की व्यक्ति की आदत बन जाती है वही उसका चरित्र है परन्तु इन आदतों का मूल्यांकन तात्कालिक समय तथा स्थान की नैतिक संहित के अनुसार होता है। इस प्रकार चरित्र व्यक्ति के व्यवहार का नैतिक मूल्यांकन है। विभिन्न मनौवैज्ञानिकों ने इसे निम्न प्रकार से परिभाषित किया है। पेक व अन्य– चरित्र, दृष्टिकोणों ओर धारणाओं का स्थायी प्रतिमान है, जो नैतिक व्यवहार के प्रकार और प्रकृति की बहुत कुछ भविष्यवाणी करता है।

Character is a persisting pattern of attitutdes and motives which produces a rather predictable kind and quality of moral behaviour. **– Peck & Others**

नैतिक विकास से सम्बन्धित योग्यताओं के अध्ययन की आवश्यकता एवं महत्व–

शारीरिक, सामाजिक, संवेगा–त्मक, संज्ञानात्मक, सृजनात्मक

भारत ही नहीं बल्कि लगभग सभी देशों में युवा पीढ़ी आदर्शहीनता तथा सामाजिक तथा नैतिक पतन का शिकार दिखाई देती है। सामाजिक व्यवस्था इतनी जटिल हो गयी है कि चरित्र शिक्षा का भार अब केवल परिवार वहन नहीं कर सकता इसलिए विद्यालयों से भी इस दिशा में सहयोग अपेक्षित है। यहाँ यह भी कहना आवश्यक है कि हमारी भारतीय संस्कृति के अनुरूप शिक्षा में नैतिक शिक्षा आवश्यक है। इसको विद्यालय शिक्षा का अंग बनाने से पहले हमें यह जानना आवश्यक होगा कि बालक की विकास की आवश्यकताओं में हम किस समय व किस प्रकार व किन आदतों को विकसित करने का प्रयत्न करें जिससे आगे भविष्य में यह पीढ़ी एक आदर्श नागरिक के रूप में समाज में प्रतिष्ठित हो।

नैतिक योग्यताओं के विकास से सम्बन्धित कुछ तथ्य–

1. नैतिक योग्यताओं का विकास एक जटिल प्रक्रिया है जिसमें सम्पूर्ण व्यक्तित्व योगदान देता है तथा बालक के समायोजन के प्रभावित करने वाले सभी कारक जैसे शारीरिक कारक, व्यक्तिगत आवश्यकतायें, बौद्धिक अवबोध, परिस्थिति निहित विशेषतायें तथा अनुकूलन इत्यादि पारस्परिक रूप से इसका निर्धारण करती है। किसी एक कारक या विधि द्वारा सम्पूर्ण रूप से इसका निर्धारण करना सम्भव नहीं लगता है।
2. आरम्भ से लगभग स्कूल पूर्व काल तक का नैतिक व्यवहार काफी अनिश्चित होता है तथा अधिकतर विशिष्ट परिस्थितियों से प्रभावित होता है, परन्तु जैसे–जैसे बालक की आयु में वृद्धि होती है नैतिक विकास में अधिकाधिक स्थिरता, संगतशीलता तथा सामान्यीकरण आता जाता है।
3. आरम्भिक नैतिक विकास अधिकतर अनुकूलन प्रक्रिया के माध्यम से होता है परन्तु यह अनुकूलन विशिष्ट परिस्थितियों तक ही सीमित होता है उसमें सामान्यीकरण का अभाव होता है। उसके बाद नैतिक विकास पर बालक के अन्य व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों तथा तादात्म्य का अधिक प्रभाव पड़ता है परन्तु अन्त में नैतिक विकास का आधार पूर्णतः व्यक्तिगत होता है।

विकसित होते हुए बालक की मध्य बाल्यावस्था व किशोरावस्था में नैतिक योग्यताओं का विकास निम्न प्रकार होता है–

बाल्यावस्था

(a) समूह अवस्था होने के कारण बालक का सम्पर्क दूसरे बालक से स्थापित होता है जिसके फलस्वरूप उसके आचरण में परिवर्तन होने लगता है।

(b) बालक न्याय और ईमानदारी के प्रति अपनी भावनाओं में प्रबलता प्रदर्शित करने लगता है।

(c) इस अवस्था में बालक कम से कम मौलिक रूप से चोरी करने, झूठ बोलने, धोखा देने, छोटे बच्चो या छोटे पशुओं को कष्ट पहुंचाने और शेखी मारने की निन्दा करने लगता है।

(d) 6, 7, 8 वर्ष के बालकों में विवेक, न्याय, ईमानदारी और मूल्यों की भावना का विकास होने लगता है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि बाल्यावस्था में बालकों में नैतिकता की सामान्य धारणाओं या नैतिक सिद्धान्तों के कुछ ज्ञान का विकास हो जाता है।

किशोरावस्था

(a) किशोर एक आदर्श व्यक्ति की कल्पना करके, उसके समान बनने का प्रयास करता है।

(b) वह अपने व्यवहार को निर्देशित करने के लिए वैयक्तिक, सामाजिक, नैतिक और अध्यात्मिक मूल्यों का निर्माण करता है।

(c) मेडिन्निस व जानसन के अनुसार– किशोर धर्म की संकीर्णता को त्याग कर सहिष्णुता और मानव धर्म का समर्थन करता है।

(d) इस अवस्था में किशोर के चरित्र की मुख्य विशेषतायें निम्न प्रकार है– चिन्ता, उच्च आदर्श, शक्तिशाली कल्पना, आत्माभिमान, स्वतंत्रता के प्रति प्रेम, धार्मिक रीति रिवाजों में अविश्वास, प्रतिद्वंदिता की भावना, अधिकारियों के विरूद्ध विद्रोह विचारों की चंचलता, भावनाओं की प्रबलता और मनोभावों में अकारण एवं आकस्मिक परिवर्तन।

(e) पैक एवं हैंविग हर्स्ट के अनुसार– प्रौढ़ावस्था में प्रवेश करने के समय तक किशोर स्थायी नैतिक सिद्धान्तों का निर्माण कर लेता है जिनके आधार पर वह अपने स्वयं के कार्यो का मूल्यांकन व निर्देशन करता है।

नैतिक योग्यताओं का विकास एवं शिक्षा व्यवस्था–

स्किनर एवं हैरीमन के अनुसार बालक के चरित्र का निर्माण एकाकी जीवन व्यतीत करने से नहीं, बल्कि दूसरों के सम्पर्क में आने से होता है। अतः विद्यालय में सामाजिक क्रियाओं का आयोजन करके बालक को उनमें भाग लेने के लिये प्रोत्साहित करना चाहिए।

विद्यालयों में नैतिक मूल्यों के विकास के लिए विभिन्न समितियों ने सुझाव दिये हैं। धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा समिति (1959, अध्यक्ष– श्री प्रकाश जी) ने शिक्षा के भिन्न–भिन्न स्तरों पर नैतिक शिक्षा के लिए निम्नलिखित योजना प्रस्तुत की–

प्राथमिक स्तर– सामूहिक गान, धर्म प्रवर्तकों और सन्तों के जीवन चरित्र और उनके द्वारा दिये गये उपदेश और उनसे सम्बन्धित रोचक कहानियां, धर्म से सम्बन्धित कला

एवं स्थापत्य कला का दृष्य–श्रव्य साधनों द्वारा प्रदर्शन, सेवा की मनोवृत्ति का प्रकार, शारीरिक शिक्षा और नियमित नैतिक शिक्षा।

शारीरिक, सामाजिक, संवेगा–त्मक, संज्ञानात्मक, सृजनात्मक

माध्यमिक स्तर– प्रातःकालीन प्रार्थना सभा, विश्व के महान धर्मो के महत्वपूर्ण सिद्धान्तों की शिक्षा, समाज सेवा कार्य और आचरण की शिक्षा।

विश्वविद्यालयी स्तर– डिग्री कक्षाओं में सामान्य शिक्षा के कोर्स में विश्व के विभिन्न धर्मो का सामान्य अध्ययन, धार्मिक पुस्तकों का अध्ययन और विभिन्न धर्मो का तुलनात्मक अध्ययन।

अतः इस बात की परम आवश्यकता है कि विद्यालय की शिक्षा का नियोजन इस प्रकार किया जाये कि वह बालक में नैतिक योग्यताओं को विकसित कर उसकी भावी सफलता का मार्ग प्रशस्त करे। इस हेतु निम्न प्रयास किये जा सकते हैं–

1. नैतिक विकास आरम्भ में धीरे–धीरे होना चाहिए परन्तु इसकी पहल आरम्भिक शैशवकाल से भी उपयुक्त सामाजिक व्यवहार सिखा करके, अनुशासित करके तथा छोटी–छोटी जिम्मेदारियां सौंप कर की जा सकती है।
2. संतुष्टिदायक तथा संवेगात्मक सुरक्षा प्रदान वाला विद्यालयीय वातावरण प्रदान कर नैतिक विकास किया जा सकता है।
3. बालक की मूल प्रवृत्तियों का दमन न कर उनको मार्गान्तरीकरण और शोधित कर उनको आत्मनियंत्रित करने हेतु प्रयासरत करना चाहिए।

बोध प्रश्न

टिप्पणी – क : नीचे दिये गये रिक्त स्थान में अपने उत्तर लिखिये–

ख : इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों में से अपने उत्तर का मिलान कीजिये–

6. सृजनात्मकता से क्या तात्पर्य है?

....

....

....

7. किस वय में न्याय, ईमानदारी, मूल्यों की भावना का विकास होने लगता है?

....

....

....

10.5 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. विकास की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन करें?
2. किशोरावस्था में किस प्रकार शारीरिक क्षमताओं में विकास होता है?

3. शैशव से किशोरावस्था तक बालक के विकास के मानसिक पक्ष में कौन–कौन सी विशेषतायें प्रकट होती है?
4. विभिन्न अवस्थाओं में सामाजिक विकास की योग्यताओं का वर्णन करिये?
5. संवेगात्मक विकास को परिवार किस प्रकार प्रभावित करता है?
6. शैशवावस्था से किशोरावस्था तक बालक के चारित्रिक विकास का वर्णन कीजिए?

10.6 सारांश

बालक की शारीरिक व्यवस्था में जन्म से लेकर परिपक्वतावस्था तथा मृत्युपर्यन्त होने वाले परिवर्तनों के अनुक्रम को विकास कहते हैं बालक की इस प्रक्रिया में बालक को प्रभावित करने वाले विभिन्न पक्ष यथा शारीरिक, सामाजिक, संवेगात्मक, संज्ञानात्मक, सृजनात्मक, एवं नैतिक योग्यतायें होती हैं। बालक के विकास की प्रक्रिया जन्म पूर्व से प्रारम्भ हो जाती है। शैशवावस्था के पश्चात 6–12 वर्ष की आयु बाल्यावस्था कहलाती है। 12 से 18 वर्ष तक की आयु किशोरावस्था कहलाती है। यह बाल्यावस्था एवं प्रौढ़ावस्था के बीच की कड़ी है। स्नेह एवं संरक्षण से वंचित बालक बालिकाओं में नकारात्मकता विकसित होने के कारण वे समाज विरोधी बन जाते हैं। जिन्हें बाल अपराधी कहते हैं। विद्यालय के स्वस्थ वातावरण में बच्चों को संवेगात्मक सुरक्षा प्रदान की जा सकती है। सामाजिक परिस्थितियों में जिस प्रकार का व्यवहार करने की व्यक्ति को आदत पड़ जाती है वहीं उसका चरित्र है।

10.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. शारीरिक योग्यताओं के विकास से तात्पर्य बालकों की आयु के अनुसार शारीरिक आकार, शारीरिक अनुपात, हड्डियों, मॉसपेशियों? दॉत तथा तंत्रिका तंत्र के होने वाले परिवर्तनों से है।
2. विभिन्न इन्द्रियों के विकास हेतु देखने, सुनने, छूने, सूँघने, आदि के अवसर प्रदान करना चाहिये।
3. समाज विरोधी बालक, बालिकाओं बाल अपराधी कहलाते हैं।
4. किशोरावस्था में परिवर्तन की गति तीव्र होती है।
5. आत्माभिव्यक्त के उचित अवसर प्रदान कर संवेगात्मक सुरक्षा की जा सकती है।
6. सृजनात्मक एक ऐसी चिन्तन प्रक्रिया है जो नयी संजीवनी का निर्माण करती है।
7. 6–7–8 वर्ष के बच्चों में विवेका, न्याय, ईमानदारी और मूल्यों की भावना का विकास होने लगता है।

10.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. अरूण कुमार सिंह, शिक्षा मनोविज्ञान, भारती भवन पटना।(2001)

2. गणपतराम शर्मा और हरिश्चन्द्र व्यास– अधिगम शिक्षण और विकास के मनोसामाजिक आधार, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर। (2006)
3. डा0 एस0पी0 गुप्ता, डा0 अलका गुप्ता– उच्चतर शिक्षा मनोविज्ञान, शारदा पुस्तक भवन इलाहाबाद (2003)
4. डा0 प्रफुल्ल एन0 दवे एवं डा0 विपिन सिंह रायजादा– बाल मनोविज्ञान, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर (1983)
5. डा0 मालती सारस्वत– शिक्षा मनोविज्ञान की रूपरेखा, आलोक प्रकाशन, लखनऊ इलाहाबाद (2000)
6. डा0 राम शकल पाण्डेय– शिक्षा मनोविज्ञान, आर0 लाल बुक डिपो– 2008
7. डा0 शारदा प्रसाद वर्मा– विकास मनोविज्ञान, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल
8. सरयू प्रसाद चौबे– बाल विकास किताब महल इलाहाबाद।
9. सुरेश भटनागर– शिक्षण अधिगम प्रक्रिया का विकास, आर0 लाल बुक डिपो–(2008)

शारीरिक, सामाजिक, संवेगा–त्मक, संज्ञानात्मक, सृजनात्मक

इकाई–11 तरूण अवस्था, लिंग एवं विकास से सम्बन्धित समस्यायें (Issues related puberty, gender and development)

संरचना –

11.1 प्रस्तावना

11.2 उद्‌देश्य

11.3 तरूण अवस्था

11.3.1 तरूण अवस्था की विशेषताएं

11.3.2 तरूणावस्था से सम्बन्धित प्रमुख समस्यायें

11.3.3 तरूणावस्था को प्रभावित करने वाले कारक

11.3.4 तरूणावस्था में शिक्षा व्यवस्था

11.4 लिंग से सम्बन्धित समस्यायें

11.5 विकास से सम्बन्धित मुद्‌दे

11.6 अभ्यास के लिये प्रश्न

11.7 सारांश

11.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

11.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

11.1 प्रस्तावना

मनुष्य स्वभावतः सामाजिक प्राणी है। यह विकास की विभिन्न अवस्थाओं की यात्रा इसी समाज में रहकर परस्पर अन्र्तक्रिया स्थापित करता है। यही वह असहाय शिशु अवस्था से विकसित होकर विभिन्न कलाओं, दक्षताओं को अर्जित कर एक सक्रिय सदस्य के रूप में समाज व राज्य को सहयोग प्रदान करता है। बालक के विकास की विभिन्न अवस्थाओं में अनेक परिवर्तन होते हैं, इन अवस्थाओं में तरूण अवस्था उनको सर्वाधिक समस्या का सामना करता है। इसी अवस्था में लैंगिक विकास प्रारम्भ हो जाता है जो किशोरावस्था की समाप्ति तक पूर्णता की ओर उन्मुख हो जाता है और उसी के अनुसार वे सामाजिक कर्तव्यों का पालन करने लगते हैं। इस स्थिति में समाज में व्याप्त लिंगानुसार असमानताओं के कारण उत्पन्न समस्याओं का सामना करता है। वास्तव में इन समस्याओं की नींव तो बालक/बालिका के परिवार में जन्म के समय की पड़ जाती है। अतः हमें बालक के विकास विशेषकर उसकी समस्या अवस्था और समाज में लिंग आधारित उत्पन्न समस्याओं का अध्ययन करना अति आवश्यक है, जिससे उनकी

समस्या का समाधान खोजकर सभी का उत्तम मानव संसाधन के रूप में योगदान प्राप्त कर सकें।

11.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन उपरान्त आप इस योग्य हो जायेंगे कि –

1.. विकास के प्रमुख कारणों को स्पष्ट कर सकेंगे।
2. तरूण अवस्था की प्रमुख समस्याओं के कारणों का वर्णन कर सकेंगे।
3. समाज में लिंग आधारित व्याप्त समस्याओं व उनके कारणों की व्याख्या कर सकेंगे ।
4. उपरोक्त समस्याओं के कारणों की पहचान कर सकेंगे।

11.3 तरूणावस्था

मनोवैज्ञानिकों ने विकास के दृष्टिकोण से मनुष्य के सम्पूर्ण जीवनकाल को 11 भागों में विभाजित किया है जिसमें सामान्यतः तरूण–अवस्था या पूर्व किशोरावस्था को बालक के विकासात्मक काल में 11 वर्ष से 14 वर्ष तक की आयु को माना गया है। यह अवस्था बाल्यावस्था व किशोरावस्था के सन्धिकाल (Transition) का समय है जिसमें विचारशील व्यक्ति बाल्यावस्था से किशोरावस्था की ओर उन्मुख होता है। परन्तु व्यक्तिगत भेद, संस्कृति, जलवायु आदि के कारण विभिन्न देशों में तरूण–अवस्था के विकास की अवधि में कुछ अन्तर पाया जाता है। गर्म प्रदेशों में शीत प्रधान प्रदेशों की अपेक्षा इसका आरम्भ शीघ्र होता है। लैंगिक विभिन्नता के आरम्भिक लक्षणों का प्रकटन कर बालिकाओं में यह अवस्था सामान्यतः 11–13 वर्ष तक तथा बालकों में 12–14 वर्ष तक होती है।

11.3.1 तरूण अवस्था की विशेषतायें (Characteristics of puberty)

इस अवस्था की विशेषताओं के अध्ययन से इस विषय पर प्रकाश डाला जा सकता है जो कि निम्नवत है–

1. तरूण अवस्था में बालक के शारीरिक पक्षों में तेजी आने के साथ ही सभी पक्षों के विकास में तीव्रता आरम्भ हो जाती है, जिसके कारण उसके व्यवहार मनोवृत्ति तथा दृष्टिकोण में परिवर्तन दिखाई देने लगते हैं। परन्तु मनोवैज्ञानिक स्तर पर परिपक्वता विकसित न हो पाने के कारण वह परिवर्तनों के कारण को समझ नहीं पाता है अतः तनाव (Shess) व झंझा (confusion) की स्थिति में रहता है। इसीलिये मनोवैज्ञानिकों ने इसे समस्या अवस्था (Problem age) कहा है।
2. तरूण अवस्था में शारीरिक, मानसिक और मनोवैज्ञानिक सभी पक्षों में परिवर्तन प्रदर्शित होते हैं। ये परिवर्तन आकस्मिक रूप से होते हैं जिनका शैशवावस्था

या बाल्यावस्था से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। परिवर्तनों के इस कारणों को न समझ पाने के कारण वह सदैव उलझन की अवस्था में रहता है। मनोवैज्ञानिकों द्वारा विकास की विभिन्न अवस्थाओं में खुशी व दुःख का अध्ययन करने पर यह ज्ञात हुआ कि जीवन का प्रथम साल सर्वाधिक खुशी का व तरूण अवस्था सबसे अधिक दुख (sad) की अवस्था होती है।

3. वैयक्तिक स्थिति अस्पष्ट होने से वे स्वयं की सामाजिक भूमिका (Social role) के विषय में अस्पष्ट होते हैं। वे अपनी विशिष्टिता का स्पष्टीकरण चाहते हैं कि वह कौन है बच्चा या वयस्क और समाज में उसकी क्या भूमिका होगी।

4. तरूण अवस्था से पिछली अवस्था अर्थात् बाल्यावस्था में उनकी समस्याओं के समाधान को अंषतः माता–पिता व शिक्षक कर देते थे। इसलिये वे समाधान के तरीकों से अनभिज्ञ होते हैं और इस अवस्था में समस्याओं के समाधान हेतु भरपूर प्रयास करने भी असफल होने पर समस्या से ही घिरे रहते हैं।

5. मनोवैज्ञानिकों के अनुसार इस अवस्था में अत्यधिक तनाव होने का मूल कारण उनकी अन्तःप्रेरणाओं (Impules) जैसे परिवर्तनवाद बनाम रूढ़िवाद (radicalism vs conservation), संवेदनशील बनाम कठोरता (sensitivity vs cruelty) आदि में घोर मानसिक संघर्ष होता है।

6. अन्ना फ्रायड के अनुसार तनाव व झंझा की अवस्था होने का कारण आंतरिक अशांति (internal unrest) है। आन्तरिक अशांति को दूर करने में भीतरी जैविक समायोजन (internal biological adjustment) की आवश्यकता तथा सामाजिक वातावरण में नियमित संतुलन बनाने की आवश्यकता है।

11.3.2 तरूणावस्था से सम्बन्धित प्रमुख समस्यायें (Main Problems related to puberty)

1. **समायोजन सम्बन्धी समस्यायें–** इस अवस्था में तरूण की मनःस्थिति उलझन की स्थिति में होने के कारण विचारों में तेजी से परिवर्तन उत्पन्न करती है जिससे उसको अपने वातावरण से समायोजन में कठिनाई आती है। समायोजन में समस्यायें विभिन्न प्रकार की हो सकती है–

(a) **विद्यालय से सम्बन्धित–** विद्यालय के पाठ्यक्रम में सैद्धान्तिकता की अधि ाकता होने के कारण उनकी क्रियाशीलता प्रभावित होती है। निष्क्रियता के कारण या सहभागिता के अभाव के कारण उनकी कई समस्याओं का समाध ाान नहीं हो पाता है जिससे विद्यालय में शिक्षकों और साथियों से समायोजन में समस्या आती है।

(b) **पारिवारिक सम्बन्धों एवं सामाजिक समायोजन से सम्बन्धित समस्यायें–** मानसिक स्वतंत्रता की भावना व जिज्ञासु प्रवृत्ति में विकास के कारण वह प्रत्येक

को तर्क के आधार पर संतुष्ट करके ही अपनाना चाहता है। वह 'क्या है' से संतुष्ट न होकर 'क्यों' और 'कैसे' है, इसकी संतुष्टि करना चाहता है। वे बड़े के आदेशों, विभिन्न परम्पराओं, रीति–रिवाजों और अंधविश्वासों के बंधन में नहीं रहना चाहता।

वह सामाजिक जीवन में स्वतंत्र होकर कार्य करना चाहते हैं परन्तु सामाजिक भूमिका के विषय में स्वयं अस्पष्ट होने के कारण किये गये कार्यों में प्रायः पारिवारिक से प्रशंसा नहीं मिल पाती है और कई कार्यों को करने के लिये अनुमति भी नहीं मिलती है। फलस्वरूप माता–पिता से तनाव उत्पन्न होकर पारिवारिक संघर्ष आरम्भ हो जाता है। किशोरावस्था में घर छोड़कर चले जाने के कारणों की पृष्ठभूमि में एक प्रधान कारण पारिवारिक संघर्ष (family friction) को माना गया है। पारिवारिक संघर्श का सामना करने वाले तरूणों, का समायोजन स्कूल अधिकारियों, पास–पड़ोस से भी तनावपूर्ण होता है।

इसके अतिरिक्त उनको विकासात्मक कार्यो को पूरा करने में माता–पिता से उचित दिशा–निर्देश नहीं मिल पाता है जो समस्या की जटिलता को बढ़ा देता है।

2. तरूण अवस्था में आत्मसम्मान की भावना के प्रबलता की ओर उन्मुख होने के कारण वे छोटी–छोटी बातों में भी विपरीत प्रतिक्रिया होने पर अपने को अपमानित और तिरस्कृत समझने लगते हैं।
3. इस अवस्था में उसकी मानसिक दशाओं में विरोधी भाव की अधिकता होने के कारण वह कभी स्वार्थी तो कभी स्वार्थरहित दिखाई देता है। इसका प्रमुख कारण उसका संवेगात्मक जीवन से उपयुक्त समायोजन न कर पाना है। बौद्धिक रूप से बाल्यावस्था से श्रेष्ठ अवस्था में होता है परन्तु संवेगात्मक स्तर पर वह तुलनात्मक रूप में अधिक उलझनयुक्त और अव्यवस्थित स्तर पर होता है।
4. शारीरिक व मानसिक परिवर्तनों के कारण उनकी रूचियों में भी लगातार परिवर्तन प्रदर्शित होता है। इस अवस्था में बालक–बालिकाओं की रूचियों में समानतायें भी होती है और विभिन्नतायें भी। शारीरिक परिपक्वता में तीव्रता के कारण यौन अंगों का भी विकास होने लगता है परन्तु मनोवैज्ञानिक परिपक्वता के अभाव में यौन व्यवहार से सम्बन्धित कई समस्यायें जन्म ले लेती है।
5. विकास की इस अवस्था में वह स्वयं को बड़ा समझकर स्वयं के लिए एक अत्यन्त ही अवास्तविक उच्च मानक निर्धारित कर लेते हैं और जिन्हें अक्सर पूरा न कर पाने पर वे दोषभाव (guilt feeling) से घिर जाते हैं। कुछ ऐसे

बालक होते हैं जिनको यह पता नहीं होता है कि पारिस्थितिनुसार किन नियमों का उन्हें पालन करना चाहिए और कुछ ऐसे बालक भी होते है जो यह सीख ही नही पाते कि क्या सही है और क्या गलत है। इन दोनों ही प्रकार के बालकों में नैतिक समस्यायें उत्पन्न हो जाती है।

6. दिवास्वप्नों (Day dreaming) की अधिकता के कारण वह छोटी–छोटी बातों को लेकर कल्पना में डूब जाता है जिसकी अधिकता से उसे हानि पहुंचती है। कल्पना की अधिकता के कारण उच्च मानको का निर्मित कर जब उसको पूरा करने में असफल होता है और असफलता को छुपाने के लिए कई बार समाज विरोधी भावनायें उत्पन्न हो जाती हैं जिससे असामाजिक तथा अनैतिक व्यवहार करने की प्रवृत्ति जन्म लेती है और बाल अपराधी बनने की संभावनायें बढ़ जाती है।
7. तरूण अवस्था में बालक समूह प्रवृत्ति विकसित होने के कारण व समूह के सदस्यों में विशिष्टता हासिल करने हेतु कुछ ऐसे कार्यो का प्रदर्शन करना चाहते हैं जिससे वह अन्य से श्रेष्ठ सिद्ध हो सके। इस हेतु कई बार उनको धन की आवश्यकता होती है जिसमें वह माता–पिता का सहयोग नहीं लेना चाहते हैं। कई बार व्यय के विषय को जानकार और उचित न समझकर माता–पिता भी सहयोग नहीं करते हैं, दूसरी ओर बालक का स्वयं का आय–स्त्रोत होता नहीं है जिसके कारण वे सदैव वित्तीय समस्याओं से घिरे रहते हैं।
8. कई बार ऐसा देखा गया है कि इस अवस्था के बालक विद्यालय से सम्बन्धित विषयों पर अधिक आलोचना करते हैं जैसे– शिक्षक ठीक से पढ़ाते नहीं है, गृहकार्य को देखते नहीं है, शिक्षकों का व्यवहार ठीक नहीं है। ऐसा करने से उन्हें अपने साथियों के बीच अधिक बुद्धिमान समझा जायेगा, इसकी मनोवृत्ति होती है।

11.3.3 तरूण अवस्था को प्रभावित करने वाले कारक

1. वंशानुक्रम
2. परिवार का वातावरण, सामाजिक स्थिति, आर्थिक स्थिति
3. पालन पोषण की विधि
4. विद्यालय, शिक्षक
5. समूह या टोली

11.3.4 तरूण अवस्था में शिक्षा व्यवस्था

1. इस अवस्था में शारीरिक विकास में तीव्रता आरम्भ हो जाने के कारण उनके लिए घर व विद्यालय दोनों को ही प्रयास करने चाहिए। उनके लिए पौष्टिक भोजन की

व्यवस्था, स्वच्छता सम्बन्धी आदतों के विकास के लिये शिक्षा व्यवस्था, शरीर की सबलता के लिये विभिन्न प्रकार के खेलों का प्रबन्ध करना चाहिए।

2. उनकी जिज्ञासा प्रवृत्ति को संतुष्ट करने के लिये और निरीक्षण शक्ति को प्रशिक्षित करने के लिये शिक्षा के सैद्धान्तिक रूप में कुछ परिवर्तन कर भ्रमण आदि की व्यवस्था करनी चाहिए।
3. इस अवस्था में रूचियों में परिवर्तन होता है तथा कल्पनाओं, दिवास्वप्नों और भावुकता की अधिकता होने के कारण उसको सही दिशा में ले जाने के लिये साहित्य, संगीत, कला तथा वैज्ञानिक शोधों में संलग्न किया जा सकता है।
4. विद्यालयों में बालकों की रूचि, रूझान, क्षमता व योग्यता के अनुसार पाठ्यक्रमों की व्यवस्था करनी चाहिए तथा शिक्षण में आने वाली कठिनाइयों को दूर करने के लिए शैक्षिक निर्देशन (Educational guidance) की व्यवस्था करनी चाहिए।
5. बालकों की सामूहिक प्रवृत्ति के तुष्टि के लिये विद्यालयों में सामूहिक कार्यो की व्यवस्था करनी चाहिए। बालसभा, स्काउट गाइड, पर्यटन, नाटक, शैक्षिक यात्रायें आदि के द्वारा बालक बालिकाओं की सामूहिक प्रवषत्ति को संतुश्ट किया जा सकता है।
6. इस अवस्था में कठोर अनुशासन, शारीरिक दंड, डॉट–डपट आदि का प्रयोग न करके बालकों के लिये सहयोग, प्रेम व सहानुभूति पर आधारित शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए।
7. इस अवस्था में निरीक्षण, परीक्षण, तर्क एवं चिन्तन करने की प्रवृत्ति अधिक होती है अतः इस अवस्था में ऐसी शिक्षण विधियों का प्रयोग किया जाना चाहिए जिससे संतुष्टि के अतिरिक्त उनका मानसिक विकास भी हो।

बालक किसी राष्ट्र की अमूल्य धरोहर है जिनका विकास राष्ट्र को उत्तम नेतृत्व प्रदान करता है। इस संदर्भ में हैडोरियोटी में कहा गया है– ग्यारह–बारह वर्ष की आयु में बालक की नसों में ज्वार फूटना आरम्भ हो जाता है।यदि इस ज्वार का बाढ़ के समय ही उपयोग कर लिया जाये एवं उसकी सोचों तथा धारा के साथ नई यात्रा कर ली जाय तो सफलता प्राप्त की जा सकती है।

बोध प्रश्न

टिप्पणी – क : नीचे दिये गये रिक्त स्थान में अपने उत्तर लिखिये–
ख : इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों में से अपने उत्तर का मिलान कीजिये–

1. तरूणावस्था में रूचियों में परिवर्तन क्यों होता है?

....

....

2. तरूणावस्था में युवा कल्पना में क्यों डूब जाते हैं?

....

....

11.4 लिंग से सम्बन्धित समस्यायें (Issues related to gender)

मनुष्य पृथ्वी की सर्वोत्तम कृति है जिसमें अन्य प्राणियों के समान अपनी संतुतियों को जन्म देने के लिए दो भेद हुए– स्त्री व पुरूष। दोनों की भूमिकाओं के अनुरूप उनमें अन्तर प्रदर्शित हुआ, जो कि प्रकृतिजन्य था। इसी अन्तर को आधार बनाते हुए सामाजिक व्यवस्था में भी अन्तर उत्पन्न हो गया। सदियों से आ रहे इस अन्तर ने मनुश्य को मनोवैज्ञानिक रूप से भी प्रभावित किया। कुछ ऐसी पूर्वधारणायें बन गई जिनका कोई भी ठोस आधार नहीं है। धीरे–धीरे प्राकृतिक स्तर से आरम्भ इस अन्तर ने मानव जाति के सभी पक्षों को वशीभूत कर लिया।

अतः यह अति आवश्यक है कि आधी आबादी को राष्ट्र का महत्वपूर्ण मानव संसाधन स्वीकार किया जाये। शिक्षित समाज इस दिशा में प्रयास करे कि मानव जाति के विभिन्न पक्षों में लिंग भेद के आधार पर व्याप्त अन्तर के कारण उत्पन्न समस्याओं का निवारण हो सके व समाज को एक उचित दिशा प्रदान की जा सके। इस हेतु लिंग भेद के कारण उत्पन्न समस्याओं का अध्ययन अति आवश्यक है। इस स्तर पर व्याप्त अन्तर के 2 प्रमुख कारण हैं। प्रथम वाह्य बाधायें व द्वितीय आन्तरिक बाधायें। वाह्य बाधाओं में समाज के रीति रिवाज व विद्यालय का वातावरण सम्मिलित है। आन्तरिक बाधाओं में व्यक्तित्व व स्वयं चयनित निर्णय आते हैं। इन कारणों से उत्पन्न समस्याओं का अध्ययन हम निम्नलिखित मानवीय पक्षों के संदर्भो में करेंगें–

1. सामाजिक स्तर पर व्याप्त समस्यायें–

(a) परिवार स्तर पर

(i) प्रायः बालिकाओं को बालकों से निम्न पोषण स्तर प्रदान किया जाता है। इसकी पृष्ठभूमि में यह धारणा विद्यमान है कि बालक भविष्य में व्यवसाय में संलग्न होंगे। इस कारण उसके शरीर को अधिक सुदृढ़ता प्रदान करने की आवश्यकता है। परन्तु प्रश्न यह उठता है क्या भविष्य (शिशु) को जन्म देने वाली माँ (वर्तमान बालिका) को पर्याप्त पोषण की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए?

(ii) भारतीय समाज के कुछ धर्मो में महिलाओं के लिये पर्दा व्यवस्था लागू है। ये परिवार बालिकाओं को पराया धन समझते हुए कम से कम व्यय कर कामचलाऊ शिक्षा प्रदान कर कम आयु में ही विवाह कर अपने कर्तव्यों की इतिश्री कर लेते हैं। क्या एक प्रजातांत्रिक राष्ट्र के मानव संसाधन की सर्वश्रेष्ठ उपयोगिता यही है?

(iii) महिलाओं को पुरूषों से तुलनात्मक रूप में अधिक संवेदनशील व उत्तरदायित्वपूर्व माना गया है। उनके इस गुण को ढाल बनाकर प्रायः परिवार के सभी सदस्यों के देखरेख का समूचा उत्तरदायित्व उन पर डाल किया जाता है जिसके कारण प्रायः शिक्षित व योग्य होते हुए भी वे व्यावसायिक क्षेत्रों में नही आ पाती है।

(iv) ऐसे परिवार जो सह शिक्षा व्यवस्था को उचित नहीं मानते हैं। वह बालिका विद्यालयों के अभाव में उनकी शिक्षा पर रोक लगा देते हैं। ऐसी स्थितियों में जहां बालिकाओं को बालकों की तुलना में शिक्षा प्राप्ति के सीमित अवसर प्राप्त होते हैं और शिक्षित महिलाओं द्वारा भी पारिवारिक कारणों से व्यवसाय अध्यापन को न अपनाने से अध्यापिकाओं की कमी बनी हुई है।

(v) ऐसे परिवार जिनकी आर्थिक स्थिति खराब होती है वहां बालिकाओं की शिक्षा रोक करके बालकों को शिक्षा प्राप्ति की प्राथमिकता दी जाती है। यह स्थिति ग्रामीण व सुदूर क्षेत्रों में रहने वाले परिवारों में सामान्य है।

(b) समुदाय स्तर पर–

(i) समाज में व्यवसाय चुनाव में भी लैंगिक भेद की धारणा बनी हुई है। कई व्यवसायों के लिए महिलाओं को उपयुक्त नहीं माना जाता जबकि इस तरह का कोई भी लिखित आदेश नहीं है कि अमुक व्यवसाय के लिये वे अनुपयुक्त है। प्रायः व्यवसाय स्थल पर उनको पुरूषों से निम्न मानकर भेदभाव पूर्ण व्यवहार किया जाता है।

(ii) हमारे समाज में सदियों से लड़कों को लड़कियों की अपेक्षा वरीयता दी जाती रही है तथा लड़कियों को बोझ समझा जाता रहा है। लड़कियों को पैदा होते ही मार दिया जाता था वर्तमान में यह कन्या भ्रूण हत्या जैसे बुराई के रूप में भी समाज में व्याप्त है। इस उपेक्षा के कारण ही महिलाओं का लिंगानुपात, बढ़ती एवं उत्तरोत्तर सुधरती चिकित्सा सुविधाओं के बावजूद 1991 तक राष्ट्रीय प्रगति के साथ गिरता रहा है। उसके बाद कुछ सुधार देखने को मिला, लेकिन उसे पर्याप्त नहीं कहा जा सकता।

(iii) वर्तमान भारतीय समाज में महिलाओं के लिये सामाजिक असुरक्षा भी एक बड़ी समस्या है, जिसके कारण वे बालिकाओं के लिए सबसे उपयुक्त व सुरक्षित स्थान घर की चाहरदीवारी के भीतर मानते हैं और अधिक से अधिक यही रखना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में उनके वातावरण को संकुचित करके व्यक्तित्व का विकास कैसे होगा यह समझ के परे है।

(iv) समाज में एक विश्वास यह भी है कि पुरूषों में उनके वातावरण को संकुचित करके उग्रता व विद्वेश की भावना महिलाओं की तुलना में अधिक होती है। वही दूसरी ओर महिलाओं को तुलनात्मक रूप से अधिक सामाजिक माना

गया है परन्तु आत्मसम्मान का स्तर पुरूशों से कम आंका गया है। इसलिए अधिकांश परिस्थितियों में सही होने की स्थिति के बाद भी उनको पुरूषों को कोपभाजन शांतिपूर्वक सहने की उम्मीद की जाती है।

(v) स्वयं की पहचान की समस्या– जन्म से विवाह पूर्व वह पिता के सरंक्षण में रहती है, विवाह पश्चात पति के संरक्षण में रहती है और उसके पश्चात यदा कदा पुत्र के संरक्षण में। महिलाओं को अबला मानकर उनके लिए समाज ने एक संरक्षक नियुक्त किया जिसके कारण उसकी स्वयं की पहचान की समस्या आ जाती है।

(vi) समाज में व्याप्त इन रूढ़ियों और कुरीतियों के कारण कम आयु से ही भिन्न–भिन्न परिस्थितियों में उन पर मनोवैज्ञानिक रूप से निम्न होने का दबाव पड़ने लगता है। इस दबाव से उनका व्यक्तित्व प्रभावित होता है और उपयुक्त अभिप्रेरणा की कमी उनके विकास के लिए बाधा बन जाती है।

लिंग आधारित समस्याओं के समाधान में किये जाने वाले प्रयास–

उपर्युक्त आधार पर समाज में व्याप्त समस्याओं का मुख्य कारण शिक्षा व जागरूकता का अभाव है। समय के साथ इस दिशा में भी परिवर्तन अपेक्षित है। जागरूकता के प्रसार हेतु शिक्षा को माध्यम के रूप में प्रयुक्त करना चाहिए। इसके अतिरिक्त इस दिशा में सरकार, समाज (जनता) व स्त्रियों तीनों को ही निम्न प्रयास करना चाहिए।

1. सरकार द्वारा किये जाने वाले प्रयास–

(i) शासन स्तर पर उचित स्त्री शिक्षा की नीति निर्धारित हो और राज्यों में इसे लागू करने हेतु उचित आर्थिक सहायता भी प्रदान की जाये।

(ii) केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय में एक अलग स्त्री शिक्षा विभाग की व्यवस्था लागू की जाये।

(iii) पर्याप्त संख्या में बालिका विद्यालयों, महिला महाविद्यालयों और महिला प्रशिक्षण महाविद्यालयों को स्थापित किया जाये।

(iv) विद्यालय न जा पाने वाली महिलाओं हेतु प्रौढ़ शिक्षा की व्यवस्था की जाए।

(v) संविधान द्वारा निर्मित भारतीय वयस्कता अधिनियम (Indian maturity act) व बाल विवाह अधिनियम (Child marriage act) का कठोरता से पालन कराया जाये।

(vi) बालक व बालिकाओं की संख्या के अनुपात से बालिका व स्त्री शिक्षा के लिये धनराशि निर्धारित की जाये।

1. समाज द्वारा किये जाने वाले प्रयास–

(i) सामाजिक कुप्रथाओं, रूढ़िवादिता तथा अंधविश्वासों को दूर करने के लिये जनजागरूकता के कार्यक्रम आयोजित किये जायें।

(ii) बालिकाओं को भी बालकों के समान शिक्षा व्यवस्था प्रदान करने का प्रयास किया जाये।

3. स्वयं स्त्रियों द्वारा किये जाने वाले प्रयास–

(i) स्त्रियां स्वयं जागरूक होकर इस आधार पर होने वाले भेदभाव का विरोध करें।

(ii) म्यूरियल वासी के अनुसार– भारत में स्त्रियों के निश्चय, दृढ़ता, सद्विवेक एवं कार्यकुशलता पर उनकी शिक्षा का भविष्य निर्भर है।

(iii) उन्हें संविधान द्वारा प्रदत्त अधिकारों की जानकारी होना अत्यन्त आवश्यक है।

स्त्री शिक्षा हेतु व्यवस्था में भी कई दोश उजागर होते हैं। इसी संदर्भ में राधाकृष्णन कमीशन ने कहा है– स्त्री शिक्षा की वर्तमान पद्धति, पुरूषों की आवश्यकताओं पर आधारित होने के कारण उनको दैनिक जीवन की व्यावहारिक समस्याओं का समाधान करने की योग्यता प्रदान नहीं करती है।

स्त्रियों की वर्तमान शिक्षा उस जीवन के लिए पूर्णतया निरर्थक है, जो उनको व्यतीत करना है। इस हेतु महात्मा गांधी ने कहा है कि शिक्षा में उसी प्रकार अन्तर किया जाना चाहिए जैसा कि स्वयं प्रकृति माता ने उनमें किया है। अतः विद्यालय के पाठ्यक्रम में विभिन्नता को आधार बनाया जाये। उनको सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने के लिए विद्यालय स्तर से ही मानसिक स्तर के साथ ही शारीरिक स्तर पर भी किये जाने के प्रयास किये जायें।

बोध प्रश्न –

टिप्पणी – क : नीचे दिये गये रिक्त स्थान में अपने उत्तर लिखिये–

ख : इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों में से अपने उत्तर का मिलान कीजिये–

3. महिला एवं पुरूषों में किसे अधिक संवेदनशील माना गया है।

....

....

4. महिलाओं को अबला क्यों माना जाता है?

....

....

11.5 विकास से सम्बन्धित मुद्दे (Issues related to development)

असहाय रूप से जन्म लेने वाले शिशु में आयु वृद्धि के साथ–साथ उसकी योग्यताओं एवं क्षमताओं में नियमित प्रतिरूप (pattern) के अनुसार विकास होता है और समय के साथ उसके भार, लम्बाई, गामक क्रियाओं, प्रत्यक्षीकरण, संवेगात्मक

नियंत्रण, सामाजिक समायोजन, भाषा योग्यता इत्यादि में वृद्धि एवं विकास होते हुए वह समाज के एक सक्रिय सदस्य के रूप में विकसित हो जाता है। अतः विकसित होते हुए बालक के लिये किसी निश्चित आयु में पाठ्यक्रम तथा सह–पाठ्यक्रम सम्बन्धी क्रियाओं को नियोजित करते समय विकास के कारको और विकास के विभिन्न पक्षों का ज्ञान होना अति आवश्यक है। अतः प्रस्तुत ईकाई में विकास से सम्बन्धित विषय पर जानकारी प्रस्तुत की गयी है–

विकास का अर्थ (Meaning of development)

हरलांक के शब्दों में, विकास के परिणामस्वरूप व्यक्ति में नवीन विशेषतायें और नवीन योग्यतायें प्रकट होती हैं।

(Development results in new characteristics and new ability- Hurlock)

इस प्रकार विकास बहुमुखी, गुणात्मक व प्रगतिशील परिवर्तन है, जो व्यक्ति की क्रियात्मक क्षमता की सम्बद्ध व व्यवस्थित वृद्धि से सम्बन्धित है जो उसे उन्नत समायोजन की ओर अग्रसर करते हैं। (यहां सम्बद्ध व व्यवस्थित शब्द वर्तमान अवस्था का पूर्व व पश्चात अवस्थाओं में एक निश्चित सम्बन्ध को दर्शाता है)

विकास का अध्ययन करने की आवश्यकता एवं महत्व–

विकसित होते हुए बालक में समयानुसार वंशपराम्परा के अनुसार गुणों में विकास का आधार आनुवांशिकता है। इसी प्रकार वातावरण से सामंजस्य स्थापित करने के प्रयास में उसकी शारीरिक व मानसिक क्रियाओं में परिवर्तन कर सीखने की प्रक्रिया का आधार वातावरण है। अतः संक्षेप में यह कह सकते हैं कि बालक के विकास का आधार आनुवंशिकता तथा वातावरण है।

परन्तु विकास की इस प्रक्रिया में इन दोनों आधारों में कौन अधिक महत्वपूर्ण है आनुवंशिकता या वातावरण, प्रकृति (Nature) या पोषण (Nurture)। विकास की प्रक्रिया किस प्रकार की है एक समान व मंद या यह विभिन्न पदों में घटित होती है? बालक के विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं में प्राप्त अनुभव उस पर सर्वाधिक प्रभाव डालते हैं या बाद के प्राप्त अनुभव भी समान रूप से प्रभावी होते हैं? इन प्रश्नों के उत्तर ज्ञात करने हेतु हमें आनुवांशिकता तथा वातावरण से भली–भांति परिचित होना आवश्यक है और यह बालक के विकास को किस प्रकार प्रभावित करते हैं?

इस हेतु हमें सर्वप्रथम आनुवंशिकता व वातावरण के प्रत्ययों से परिचित होना आवश्यक है तथा बालक के विकास में होने वाले परिवर्तनों में निश्चित सिद्धान्तों के अनुसरण की प्रवृत्ति को समझना भी आवश्यक है। अतः सर्वप्रथम हम विकास के सिद्धान्तों का अध्ययन करेंगे।

विकास के सिद्धान्त (Principles of development)–

विकास की प्रक्रिया निम्नलिखित सिद्धान्तों के अनुरूप नियंत्रित होती है–

1. **विकास की दिशा का सिद्धान्त (Principle of developmental direction)**

इस सिद्धान्त के अनुसार शिशु का विकास सिर से पैर की दिशा में होता है जिसमें पहले शिशु का सिर, फिर धड़ और बाद में हाथ पैरों का विकास होता है। इसे सिर पुच्छीय दिशा (Cephalo- Caudal Direction) कहा जाता है।

2. **निरन्तर विकास का नियम (Principle of continuous growth)–**

इस सिद्धान्त के अनुसार शिशु के विकास में परिवर्तन आकस्मिक न होकर अविराम गति से निरन्तर चलता रहता है, जिसकी गति कभी धीमी और कभी तीव्र हो जाती है।

3. **परस्पर सम्बन्ध का सिद्धान्त (Principle of Interrelation)–**

बालक के विभिन्न पक्षों के विकास में परस्पर सम्बन्ध होता है। उसका शारीरिक विकास बौद्धिक विकास को प्रभावित करता है।

4. **सामान्य से विशिष्ट प्रतिक्रियाओं का सिद्धान्त (Principle of general to specific response)–**

बालक की विकास की विभिन्न अवस्थाओं में परिवर्तन सामान्य प्रतिक्रियाओं से विशिष्ट प्रतिक्रियाओं की ओर होता है।

आनुवंशिकता (Heredity)

जेम्स ड्रेवर के अनुसार– शारीरिक तथा मानसिक विशेषताओं का माता पिता से संतानों को हस्तांतरित होना वंशानुक्रम है।

Heredity is the transmission from parents to offspring of physical and mental characteristices. – James Drever

इस प्रकार आनुवंशिकता वह प्राणिशास्त्रीय विरासत (Biological heritage) है जिसमें जन्मजात गुणों का समुच्चय पूर्वजों से प्राणी को गुणसूत्रों (Chromosomes) के रूप में प्राप्त होता है।

आनुवांशिकता की विशेषतायें (Characteristics of Heridity)–

1. प्रत्येक प्राणी अपने समान या अपनी प्रतिकृति को ही जन्म देता है।
2. गाल्टन के अनुसार एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तान्तरित होने वाले गुण उसके माता पिता से ही नहीं बल्कि अन्य पूर्वजों से भी मिलते हैं। व्यक्ति की सम्पूर्ण विशेषताओं के योग का 1/2 भाग उसके माता–पिता, 1/4 भाग दादा दादी, 1/8 भाग परदादा–परदादी और क्रमशः इसी अनुपात में अन्य पूर्वजों से मिलता है।
3. आनुवंशिकता की प्रक्रिया में प्राणी को पूर्वजों से 3 प्रमुख गुण प्राप्त होते हैं– (1) अपने पूर्वजों से समान (2) पूर्वजों से असमान (3) कुछ असामान्य विशेषतायें। यह आनुवंशिकी के दो प्रकार के गुणों से सम्भव होता है– प्रभावी (Dominant) और अप्रभावी (Recessive)। ये दोनों प्रकार के गुण पिता से पुत्र को क्रमानुसार पीढ़ी दर पीढ़ी प्राप्त होते हैं और परिस्थितिजन्य कभी प्रभावी व कभी अप्रभावी होते हैं।

4. वंशानुक्रम में प्राप्त प्रत्येक गुण में औसत की ओर अग्रसर होने की प्रवृत्ति पायी जाती है। जैसे बहुत प्रतिभाशाली माता–पिता के बच्चे उनसे कम प्रतिभाशाली होते हैं तथा निम्न बुद्धि वाले माता पिता के बच्चे उनसे कुछ अधिक बुद्धि वाले होते हैं।

5. केवल कुछ गुणों में ही वंश परम्परा होती है। वंशानुक्रम में सभी मानवीय गुण सम्मिलित नहीं रहते हैं। केवल त्वचा का रंग, चेहरे की बनावट, रक्त वर्ग आदि कुछ ऐसे गुण हैं जो वंशानुक्रम से हस्तान्तरित होते हैं।

6. वंशानुक्रम संयोगवश बनने वाले वंशसूत्रों के समुच्चय पर निर्भर करता है इसलिए इसके विषय में कभी भी भविष्यवाणी नहीं की जा सकती है।

वातावरण (Enviornment)

वातावरण या पर्यावरण दो शब्दों 'परि' व 'आवरण' से संयुक्त होकर बना है जिसमें परि का अर्थ चारो ओर और आवरण का अर्थ– घेरने वाला है, अर्थात किसी वस्तु को चारों ओर चेतन या अचेतन रूप में घेरने वाली वस्तु को पर्यावरण कहते हैं। मनुष्य के संदर्भ में मानव विकास एवं उसके सामाजिक सम्बन्धों को प्रभावित करने वाली सभी वस्तुयें इसके अन्तर्गत आती हैं। वातावरण को डगलस तथा हालैण्ड ने इस प्रकार परिभाषित किया है–

वातावरण शब्द का प्रयोग उन समस्त वाह्य शक्तियों, प्रभावों तथा दशाओं को सामूहिक रूप से वर्णित करने के लिए किया जाता है जो जीवित प्राणियों के जीवन–स्वभाव, व्यवहार तथा वृद्धि–विकास व परिपक्वता को प्रभावित करती है।

The term enviornment is used to describe in aggregate all the external forces, influences and conditions, which affect the life, nature, behaviour and growth, development and maturation of living organism. – Douglas and Holland

उपरोक्त के आधार पर हम वातावरण की निम्नलिखित विषेशतायें बता सकते हैं–

1. व्यक्ति और वातावरण में निरन्तर पारस्परिक क्रिया के फलस्वरूप दोनों में परिवर्तन होता है। व्यक्ति द्वारा वातावरण में परिवर्तन और वातावरण द्वारा व्यक्ति के व्यवहार में परिर्वतन होता है।

2. बालक जिस रूप में वातावरण का प्रत्यक्षीकरण करता है, उसी रूप में वातावरण उसको प्रभावित करता है।

3. वातावरण ही वह एकमात्र कारक है जो यह निर्धारित करता है कि आनुवंषिक क्षमताओं का विकास किस प्रकार होगा।

4. वातावरण को आन्तरिक तथा वाह्य वातावरण के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है।

(a) आंतरिक वातावरण– जन्म से पूर्व माता के गर्भाशय के चारों ओर की परिस्थितियां जो क्रोमोसोम्स को प्रभावित कर उसके गुणों पर प्रभाव डालती है।

(b) वाह्य वातावरण– वाह्य वातावरण को निम्नलिखित में वर्गीकृत किया जा सकता है–

(i) भौतिक वातावरण– सभी प्राकृतिक वस्तुयें इसके अन्तर्गत आती हैं।

(ii) सामाजिक वातावरण– मानव समाज से सम्बन्धित सभी परिस्थितियां, रीति–रिवाज, रहन सहन के अंग आते हैं। इसको पुनः 3 भागों में बांटा जा सकता है।

– आर्थिक परिस्थिति

– सांस्कृतिक परिस्थिति

– मनःसामाजिक परिस्थिति

बोध प्रश्न

टिप्पणी – क : नीचे दिये गये रिक्त स्थान में अपने उत्तर लिखिये–

ख : इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों में से अपने उत्तर का मिलान कीजिये–

5. विकास क्या है?

....

....

6. आनुवंशिकता की प्रमुख विशेषता क्या हैं?

....

....

बालक के विकास में आनुवंशिकता एवं वातावरण का प्रभाव
(Role of Heredity and environment in development of child)

व्यक्ति के विकास निर्धारण में आनुवंशिकता तथा वातावरण में से कौन अधिक प्रभावी है। इस हेतु इनके तुलनात्मक अध्ययन के लिए कई प्रकार के प्रयोग किये गये। ये अध्ययन दो प्रकार के बच्चों के समूह पर किये गये।

1. जुड़वा बच्चों का अध्ययन (Studies of twin children)
2. पाल्य बच्चों का अध्ययन (Studies of foster children)

प्रथम समूह में आनुवंशिक योग्यतायें लगभग समान थीं और द्वितीय समूह को वातावरण प्रभाव के अध्ययन हेतु चयनित किया गया। इन दोनों प्रकार के समूहों पर किये गये विभिन्न अध्ययनों से प्राप्त परिणाम निम्नवत है–

1. जुड़वा बच्चों को समान वातावरण में रखा गया तो उनके व्यक्तित्व में सूक्ष्म असमानतायें होते हुए भी काफी समानतायें प्राप्त की गयीं।

2. जुड़वा बच्चों को असमान वातावरण में रखने पर उनके शारीरिक गुणों जैसे शरीर की ऊँचाई व भार की अपेक्षा वृद्धि अन्तर प्रदर्शित हुआ। परन्तु कम आयु से ही असमान वातावरण प्रदान करने पर व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों सहित शारीरिक गुणों में भी स्पष्ट अन्तर प्रदर्शित हुए।
3. पोषित बच्चों को अनुकूल व स्वस्थ वातावरण में विकसित होने के अवसर देने में उनकी बुद्धि स्तर में भी अनुकूल वृद्धि दिखाई दी।
4. पोषित बच्चों में अपने वास्तविक माता–पिता या पोष्य माता पिता में से किसका प्रभाव व्यक्तित्व पर अधिक पड़ता है। इस हेतु किये गये अध्ययनों से केवल आंशिक उत्तर प्राप्त हुए।

उपरोक्त अध्ययनों से प्राप्त निष्कर्षो के आधार पर निम्नलिखित तथ्य सामने आते हैं–

1. आनुवंशिकता तथा वातावरण में से किसी एक की अवहेलना करके बालक के विकास का अध्ययन नही किया जा सकता।
2. शारीरिक गुणों को वातावरण की अपेक्षा आनुवंशिकी अधिक प्रभावित करती हैं।
3. बुद्धि के निर्धारण में वातावरण तथा आनुवंशिकता दोनों का महत्व है, न कि किसी एक का। परन्तु अनुकूल वातावरण मिलने पर इसमें कुछ विकास किया जा सकता है।
4. अधिकांश मनोवैज्ञानिकों के अनुसार संवेगात्मक तथा सामाजिक विकास में वातावरण, वंशानुक्रम की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है।

अतः हम यह कह सकते हैं कि आनुवंशिकता तथा वातावरण किसी एक की अवहेलना करके बालक के विकास का अध्ययन सम्भव नहीं है। इसी संदर्भ में मैकाइवर व पेज ने दोनों के सापेक्षिक महत्व को स्वीकार करते हुए लिखा है– जीवन की प्रत्येक घटना दोनों का परिणाम होती है। किसी भी निश्चित परिणाम के लिए एक उतनी ही आवश्यक है जितनी की दूसरी। कोई भी न तो हटाई जा सकती है और न ही कभी अलग की जा सकती है।

Every phenomenon of life is the product of both each is as necessary to the result as the other. Neither can even be eliminated and neither can be isolated. – Mac-Iver & Page.

आनुवंशिकता व वातावरण तथा शिक्षा व्यवस्था–

(Heredity, environment and educational system)

आनुवंशिकता हमें विकसित होने की क्षमतायें प्रदान करता है जिनको विकसित करने के लिए पर्यावरण हमें अवसर प्रदान करता है। अतः शिक्षकों को वंशक्रम से प्राप्त कार्यशील पूँजी के निवेश हेतु उपयुक्त परिस्थिति प्रदान करने के लिये प्रकृति व पोषण के ज्ञान से युक्त होकर ही शैक्षिक व्यवस्था करनी चाहिए। शैक्षिक व्यवस्था में निम्नलिखित का समावेश किया जाना चाहिए–

1. शिक्षकों को बालकों के जैविकीय गुणों और क्षमताओं को ध्यान में रखकर शिक्षण व्यवस्था करनी चहिए।
2. बालक के वंषानुक्रम से परिचित होकर सामाजिक दृष्टि से अवांछनीय प्रवृत्तियों के मार्गान्तरीकरण का प्रयास करना चाहिए।
3. यदि अवांछनीयता उसके घर, परिवार या सामाजिक वातावरण के कारण है तो उसमें वांछनीय परिवर्तन हेतु प्रयास कर सकता है जिससे बालक को समायोजन करने में मदद मिलेगी।
4. आनुवंशिकता के कारण उत्पन्न शारीरिक विभिन्नता को दृष्टिगत कर उपयुक्त विकास हेतु षिक्षा व्यवस्था के विभिन्न स्तरों में उनकी क्षमतानुसार में शारीरिक शिक्षा व योग शिक्षा को सम्मिलित किया जाना चाहिए।
5. वातावरण सम्बन्धी ज्ञान होने पर विद्यालय में स्वस्थ, अनुकूल शैक्षिक वातावरण उत्पन्न करने हेतु समय–समय पर पाठ्य–विषयान्तर क्रियाओं का आयोजन भी कराना चाहिए।

विकास को प्रभावित करने वाले अन्य कारक

(Other factors affecting growth and development)

बालक के विकास की विभिन्न अवस्थाओं में उसके विभिन्न पक्षों को प्रभावित करने वाले विभिन्न कारक हैं, जो कि परस्पर सम्बन्धित होते हुए बालक के विकास की प्रक्रिया में पर्याप्त परिवर्तन करने योग्य होते हैं। ये कारक निम्नलिखित हैं–

1. पौष्टिक भोजन (Nutrition)
2. शुद्ध हवा तथा प्रकाश (Fresh air and light)
3. लिंग भेद (Sexual difference)
4. बुद्धि (Intelligence)
5. अन्तश्रावी ग्रन्थियां (Endocrine glands)
6. रोग तथा चोट (Disease and enjury)
7. पारिवारिक परिस्थितियां (Family condition) तथा परिवार में स्थान (Position in family)
8. संस्कृति (Culture)
9. प्रजाति (Race)

11.6 अभ्यास के लिए प्रश्न

प्र01. मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विकास का क्या अर्थ है?

प्र02. विकास के प्रमुख सिद्धान्तों को बताइये?

प्र03. वातावरण का क्या तात्पर्य है? वातावरण के प्रकारों को बताइये?

प्र04. बालक के विकास में वंशानुक्रम और वातावरण के तुलनात्मक प्रभाव की विवेचना कीजिए?

प्र05. तरूण अवस्था की प्रमुख विशेषतायें बताइये?

प्र06. तरूण अवस्था में आने वाली समस्याओं का वर्णन कीजिए?

प्र07. तरूणावस्था में आप किस प्रकार की शिक्षा व्यवस्था करना चाहेंगें?

प्र08. बालिकाओं की प्रमुख समस्याओं को बताइये?

प्र09. आप इनकी समस्याओं के निदान हेतु किस प्रकार के शैक्षिक प्रयास करेंगे।

11.7 सारांश

मनोवैज्ञानिकों ने विकास के दृष्टिकोण से मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन काल को 11 भागों में विभाजित किया है। 11 से 14 वर्ष की अवस्था वह सन्धिकाल है जिसमें मनुष्य बाल्यावस्था से किशोरावस्था में पदापर्ण करता है। इस अवस्था में तनाव होने का मूल कारण अन्तप्रेरणायें होती हैं। इस अवस्था में परिवार एवं विद्यालय में समायोजन में कठिनाई आती है। तरुणास्त्र में आत्म सम्मान की भावना प्रबल होती है। इस अवस्था को प्रभावित करने वाले प्रमुख कारक हैं –वंशानुक्रम का वातावरण, विद्यालय, शिक्षक,समूह आदि। समाज में व्याप्त समस्याओं का मुख्य कारण शिक्षा एवं जागरूकता का अभाव है। लिंग आधारित समस्याओं को दूर करने का प्रयास सरकार एवं समाज द्वारा किया जा रहा है जन्म लेने वाले शिशु में, आयु वृद्धि के योग्यताओं एवं क्षमताओं का भी विकास होता है। विकास पर आनुवंशिकता एवं वातावरण का प्रभाव पड़ता है।

11.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. शारीरिक एवं मानसिक परिवर्तन के कारण रूचियों में परिवर्तन दृष्टिगत होता है।
2. तरूणावस्था में युवा दिवास्वप्नों की अधिकता के कारण युवा कल्पना में डूब जाते हैं।
3. महिलाओं को अधिक संवेदनशील माना गया है।
4. महिलायें सदैव किसी न किसी के संरक्षण में रहती हैं।
5. विकास बहुमुखी, गुणात्मक एवं प्रगतिशील परिवर्तन है।
6. प्रत्येक प्राणी अपने समान या अपनी ही प्रतिकृति को जन्म देता है।

11.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. अरूण कुमार सिंह–शिक्षा मनोविज्ञान, भारती भवन पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रहब्यूटर्स 2001
2. अरूण कुमार सिंह व आशीष कुमार सिंह – प्रतियोगिता मनोविज्ञान, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली – 2003
3. जौहरी एवं पाठक – भारतीय शिक्षा और उसकी समस्यायें, विनोद पुस्तक मंदिर आगरा 1969
4. डा. एस.पी. गुप्ता व डा. अल्का गुप्ता – भारतीय शिक्षा का इतिहास, विकास एवं समस्यायें, शारदा पुस्तक भवन 2013

5. पी.डी. पाठक – शिक्षा मनोविज्ञान, अग्रवाल पब्लिकेशन्स, आगरा, 2007–08
6. G. Narayana Reddy & Suma Narayan Reddy - Women and child development, Chugh Pub. 1987
7. Michael Wertheimer and Leon Rappoport - Psychology and the problem of Today, Scott, Foresman and company, 1978
8. Prof. S.C. Chaube C, Adolescent Psychology, Vikas Publishing House P.W. Ltd. (1983).
9.. Ram Nath Sharma & Advanced Applied Psychology Rachana Sharma Atlantic publication and distributors - 2004.

तरूण अवस्था, लिंग एवं विकास से सम्बन्धित समस्यायें

इकाई–12 विकसित होते हुए बालक पर वातावरण (सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक) का प्रभाव

इकाई संरचना

12.1 प्रस्तावना
12.2 उद्देश्य
12.3 विकास में वातावरण के प्रभाव के अध्ययन की आवश्यकता एवं महत्व
12.4 वातावरण का अर्थ एवं परिभाषा
12.5 विकसित होते हुए बालक पर सामाजिक वातावरण का प्रभाव
12.6 विकसित होते हुए बालक पर सांस्कृतिक वातावरण का प्रभाव
12.7 विकसित होते हुए बालक पर राजनैतिक वातावरण का प्रभाव
12.8 अभ्यास हेतु प्रश्न
12.9 सारांश
12.10 बोध प्रश्नों के उत्तर
12.11 सन्दर्भ ग्रन्थ

12.1 प्रस्तावना

विकास के आरम्भिक कालखण्डों में जो मनुष्य निरूद्देश्य केवल अपने भोजन, वस्त्र जैसी मूलभूत आवश्यकताओं हेतु यहाँ–वहाँ एकल विचरण करता था, वह समय के अगले पड़ाव तक आते–आते एक दूसरे की आवश्यकताओं की पूर्ति में योगदान देने व सुरक्षा व स्थायित्व प्राप्ति जैसी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु एक सुगठित समाज के एक सक्रिय सदस्य के रूप में उद्देश्यपूर्ण जीवन व्यतीत करने लगा। उसने समाज की व्यवस्था सुचारू रूप से संचालित करने हेतु व अपने अनुभवों को अगली पीढ़ी में हस्तांरित करने के लिए कुछ नियमों को बनाया, जिनको सामाजिक नियम व सांस्कृतिक धरोहर के नाम से सम्बोधित किया गया। समय के साथ–साथ इनमें भी परिवर्तन हुआ परन्तु मूलभूत विशेषतायें नहीं बदली। ये पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होते–होते समाज में रच–बस गये और विभिन्न समाजों में उनकी विशिष्टता के रूप में प्रकट हुए।

इन्हीं समाजों में जब बालक जन्म लेता है तो समाज के विभिन्न सदस्यों जैसे माता–पिता, परिवार के सदस्यों संगी साथियों तथा अन्य व्यक्तियों के सम्पर्क में आकर उसका समाजीकरण होने लगता है, जिसके अन्तर्गत वह अपने समाज के विशिष्ट नियमों और सांस्कृतिक धरोहरों के रूप में सामाजिक परम्पराओं, मान्यताओं, रूढ़ियों आदि को अपनाकर इन्हीं के अनुरूप व्यवहार करना सीखता है और सामाजिक वातावरण में स्वयं को समायोजित करने का प्रयास करता है। सामाजिक विकास बालक के अन्य विकास

पक्षों के साथ–साथ चलता है, उन्हें प्रभावित करता है तथा उससे प्रभावित भी होता है तथा मानव व्यवहार के अधिकांश भाग को भी प्रभावित करता है।

12.2 उद्देश्य

प्रस्तुत ईकाई के अध्ययन के पश्चात छात्र निम्नलिखित को स्पष्ट करने योग्य हो जायेंगे–

1. बालक के विकास में सामाजिक वातावरण के प्रभाव को जान सकेंगे।
2. बालक के विकास में सांस्कृतिक वातावरण के प्रभाव का वर्णन कर योग्य हो सकेंगे।
3. बालक के विकास में राजैनतिक वातावरण के प्रभाव को स्पष्ट कर सकेंगे।
4. बालक के विकास को समुचित दिशा प्रदान करने के उपायों को जान सकेंगे।

12.3 विकास में वातावरण के प्रभाव के अध्ययन की आवश्यकता एवं महत्व

बालक जिस प्रकार के वातावरण में विकसित होता है उसका स्पष्ट प्रभाव उसके व्यक्तित्व के विकास पर पड़ता है। बालक के व्यक्तित्व के विकास पर प्रभाव डालने वाले वातावरणीय तत्व दो प्रकार से योगदान देते हैं–

1. बालक जिस वातावरण में रहता है, उसमें रहने वाले अन्य व्यक्तियों से सम्बन्धित उसके अनुभव व्यक्तित्व के निर्माण में काफी महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।
2. बालक के व्यक्तित्व के विकास में सांस्कृतिक तत्व भी काफी सक्रिय होते हैं। प्रभावशाली समाजयोजन के लिए जिस समाज में बालक रहता है उसके रहन सहन के तरीकों तथा उसकी मान्यताओं के अनुसार ही अपना व्यक्तित्व ढालने का प्रयत्न करता है।

इस प्रकार प्रारम्भिक काल के अनुभव तथा सांस्कृतिक अनुकूलन उसके विकास के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण हैं यही तत्व बालक के व्यवहार को दिशा देने में सर्वप्रथम स्थान रखते हैं इसलिए यह बहुत आवश्यक है कि बालक के विकास पर वातावरणीय प्रभावों का अध्ययन आवश्यक हो जाता है।

12.4 वातावरण का अर्थ एवं परिभाषा

मानव विकास में पर्यावरण का बहुत महत्व है। अनुकूल वातावरण में बालक का विकास स्वाभाविक तौर पर होता है और प्रतिकूल वातावरण में उसका विकास कुण्ठित हो जाता है। सामाजिक व मनोवैज्ञानिक दृश्टि से वातावरण के अन्तर्गत वे सभी तत्व विद्यमान होते हैं जो व्यक्ति के जीवन (गर्भाधान से मृत्यु तक), उसके व्यवहार और सामाजिक सम्बन्धों को प्रभावित करते हैं। यही कारण है कि पर्यावरण

को सामाजिक वंशानुक्रम भी कहते हैं। बोरिंग, लैंगफील्ड व गेल्ड के अनुसार पित्र्यैको के अलावा व्यक्ति को प्रभावित करने वाली वस्तु वातावरण है।

The environment is everything that affects the individual except this gene. -Boring Langfeld & Geld.

डगलस व हालैण्ड– वातावरण शब्द का प्रयोग उन सब वाह्य शक्तियों, प्रभावों और दशाओं का सामूहिक रूप से वर्णन करने के लिए किया जाता है जो जीवित प्राणियों के जीवन, स्वभाव, बुद्धि विकास और परिपक्वता पर प्रभाव डालते हैं।

The term enviornment is used to described in the aggregate all the external forces, influences, and conditiions, which affect the life, nature, behavioiur and the growth, development and maturation of living organism.

–Douglas and Holland

12.5 विकसित होते हुए बालक पर सामाजिक वातावरण का प्रभाव (Influence of social enviornmet on development of child)

सामाजिक पर्यावरण से अभिप्राय उन सभी परिस्थितियों से है जो बालक सर्वांगीण विकास को प्रभावित करती है। इसके अन्तर्गत मनुष्य की वे सब मान्यतायें और परम्परायें आती हैं जो कि पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित होती रहती है। मानव समाज में प्रचलित सभी परिस्थितियां रीति रिवाज, प्रथायें, रूढ़ियां, रहन सहन के तौर तरीके सामाजिक वातावरण की संरचना करते हैं और व्यक्ति इनके द्वारा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होता रहता है।

गेट्स के अनुसार– सामाजिक प्राणी के रूप में व्यक्ति के व्यवहार का विकास उसके व्यक्तित्व के विकास के रूप में होता है।

The development of a person's behaviour as a social creature proceeds apace with the development of his individuality.

सामाजिक प्रभाव (Social influence) से तात्पर्य किसी व्यक्ति के विश्वासों, मनोवृत्तियों, अभिप्रेरकों आदि में वैसे परिवर्तन से होता है जिसे किसी अन्य व्यक्ति या व्यक्तियों ने उत्पन्न किया है। इस तरह का प्रभाव अभिप्राय (intentional) हो सकता है या प्रासंगिक (unintentional) भी हो सकता है। सामाजिक प्रभाव तीन तरह के व्यवहारों द्वारा प्रतिबिम्बित होता है– समरूपता या अनुरूपता (conformity), अनुपालन (compiance) तथा आज्ञापलन (obedience)। यह प्रभाव धनात्मक भी हो सकता है और ऋणात्मक भी। इन प्रभावों की एक विशेषता यह है कि इसका स्वरूप सामाजिक शक्ति के स्त्रोंतो या आधारों द्वारा निर्धारित होता है।

- अनुरूपता (conformity) एक ऐसा व्यवहार है जिसके सहारे व्यक्ति दबाव के सामने झुक जाता है जबकि उसकी व्यक्तिगत अनुभूतियां दूसरे ढंग से विचार करना चाहती है।
- आज्ञापालन में एक व्यक्ति दूसरे को किसी आज्ञापालन का आदेश देता है।
- जब कोई व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के अनुरोध या निवेदन के अनुकूल व्यवहार करता है। तो इसे अनुपालन कहा जाता है।

समाज अपने विभिन्न साधनों या माध्यमों द्वारा बालक के विकास को निम्न प्रकार प्रभावित करता है–

- जन्म के समय बालक में सामाजिकता शून्य होती है उसका व्यवहार लगभग अपनी शारीरिक आवश्यकताओं से सम्बन्धित होता है। इस अवस्था में शारीरिक आवश्यकताओं की संतुष्टि तथा देखरेख की प्रतिक्रिया के स्वरूप उसका सामाजिक व्यवहार विकसित होता है।
- बालकों के विकास पर समाज की प्राथमिक संस्था– परिवार का प्रभाव अत्यधिक पड़ता है। रेमन्ट के अनुसार परिवार ही वह स्थान है जहाँ वे महान गुण उत्पन्न होते हैं जिनकी सामान्य विशेषता सहानुभूति है। घर में घनिष्ठ प्रेम की भावनाओं का विकास होता है। यही बालक, उदारता–अनुदारता, निस्वार्थ–स्वार्थ, न्याय और अन्याय, सत्य और असत्य और परिश्रम व आलस्य में अन्तर सीखता है। परिवार बालक की प्रथम पाठशाला के रूप में उसके व्यवहार को अभूतपूर्व ढंग से प्रभावित करती है। माता–पिता द्वारा अधिक प्रेम दुलार व स्नेह प्राप्त करने वाले बालकों में विपरीत वातावरण के बालकों की अपेक्षा सामाजिक शीलगुणों और सामाजिक योग्यताओं का विकास तेजी से होता है। इस वातावरण के बालकों में सुरक्षा की भावना, आत्मसम्मान, आत्मविश्वास आदि का गुण उत्पन्न होता है जिसके कारण भविष्य में बहुत तरह के सामाजिक रूप से अनुमोदित व्यवहार तेजी से विकसित होते हैं।
- मैक्डूगल के अनुसार बालक में सामूहिकता की मूलप्रवृत्ति (Instinct of Gregariousnè) होती है, यह उसे समूह में रहने के लिये प्रेरित करती है। बालक बड़ा होकर विभिन्न समूहों के सदस्य बनने लगता हैं। इन समूहों के विभिन्न सदस्यों के साथ अन्तःक्रिया के परिणामस्वरूप उनमें सामाजिक सहयोग की भावना जन्म लेती है। समूह की सदस्यता जहाँ उसमें सहयोग की भावना विकसित करती है दूसरी ओर उसमें प्रतियोगी व्यवहार को भी उत्पन्न करती हैं। बालक के घर और सामुदायिक वातावरण का प्रभाव उसके प्रतिद्वंद्विता के विकास के स्वरूप को निश्चित करता है। यदि बालक ऐसे वातावरण में है जहाँ प्रतियोगिकता के स्थान पर सहयोगी कार्य को प्रधानता दी जा रही है। वहाँ प्रतिद्वंदी भावना का अभाव होता है। विपरीत वातावरण में प्रतिद्विदिता एक प्रमुख प्रेरणा के रूप में विकसित होती है। बालक के

सहयोगी और प्रतियोगी व्यवहार किस प्रकार का विशिष्ट रूप धारण करेंगे यह इस पर भी निर्भर करेगा कि बालक जिस सामुदायिक वातावरण में रहता है उसके दृष्टिकोण के प्रति उसकी क्या भावना तथा प्रतिक्रिया है। प्रतियोगी व्यवहार बालक को अपने कर्तव्यों के पालन में तथा अपनी कुशलताओं की वृद्धि में काफी सहायक हो सकती है परन्तु इसकी धुन तथा अतिशयोक्ति दुख का कारण भी हो सकती है।

- विद्यालय में प्रवेश उपरान्त वहाँ का वातावरण बालक का विकास दो तत्वों पर निर्भर करता है। प्रथम विद्यालय का पर्यावरण व दूसरा बालक के ऊपर उसके पूर्व के वातावरण का प्रभाव। प्रथम तत्व के अन्तर्गत विद्यालय के शिक्षकों का दृष्टिकोण व संसाधन आते हैं। अध्ययनों से यह प्राप्त हुआ है कि शिक्षकों का विस्तृत दृष्टिकोण बालक के सामाजिक गुणों के विकास में सहायक होता है। एक अध्ययन के अनुसार विद्यालय में खेल स्थान या खेल सामग्री भी उनके विकास को प्रभावित करती है। ऐसे स्कूल जहां सीमित खेलने की सुविधायें थी वहां के बच्चों में अधिक झगड़ा और उग्र व्यवहार का प्रदर्शन हुआ।

  इस अवस्था में उनके सामाजिक व्यवहार का स्वरूप केवल उनकी अवबोध शक्ति के विकास पर ही नहीं निर्भर करता है। वह उन लोगों से अधिक प्रभावित होकर अनुकरण करता है जो उसे प्रोत्साहित या उपहार देकर उसकी ओर ध्यान देते रहते हैं।

- परिवार की आर्थिक स्थिति भी बालक के विकास को प्रभावित करती है। राबिन्सन के अनुसार आर्थिक विपन्न परिवारों में बालकों का समुचित सामाजिक विकास न हो पाने के कारण उनका सामाजीकरण अधूरा रह जाता है और बड़े होकर वे तरह–तरह के समाज विरोधी व्यवहार करने लगते हैं।

बालक के विकास में सामाजिक वातावरण की प्रभाविकता में शिक्षा एवं शिक्षक की भूमिका

1. बालक के स्वस्थ व उत्तम सामाजिक विकास के लिये विद्यालय का वातावरण जनतंत्रीय होना चाहिए।
2. सामाजिक सहभागिता (Social participation) को विकसित करने के लिए पर्याप्त मात्रा में पाठ्येन्तर कार्यक्रमों (Extracurricular activitiė) जैसे नाटक, राष्ट्रीय सामाजिक सेवा, खेलकूद, वाद विवाद प्रतियोगिताओं आदि का आयोजन करना चाहिए।
3. विद्यालय में खेलकूद का आयोजन बालकों में सहयोग, सामजंस्य, सहिष्णुता, नेतृत्व, आज्ञाकारिता तथा उत्तरदायित्व के गुणों के विकास में सहायक होता है। स्किनर और हैरीमैन के शब्दों में खेल का मैदान बालक का निर्माणस्थल है वहाँ उसे प्रदान किये जाने वाले सामाजिक और यान्त्रिक उपकरण उसके सामाजिक विकास को निश्चित करने में सहायता देते हैं।

4. बालकों में अपने शिक्षकों के प्रति अनुकरण की प्रवृत्ति होती है। अतः शिक्षक स्वयं शांत, शिष्ट तथा सहयोगी प्रवृत्ति को प्रदर्शित कर बालकों को प्रभावित कर सकते हैं।

बोध प्रश्न

टिप्पणी – क : नीचे दिये गये रिक्त स्थान में अपने उत्तर लिखिये–

ख : इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों में से अपने उत्तर का मिलान कीजिये–

1. बालक के व्यवहार को दिशा देने में किन तत्वों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है?

....

....

2. किसको सामाजिक वंशानुक्रम के नाम से भी जाता है ?

....

....

3. सामाजिक प्रभाव किस तरह के व्यवहारों द्वारा प्रतिबिम्बित होता है?

....

....

4. बालक को समूह में रहने के लिए कौन सी मूल प्रवृत्ति प्रेरित करती है?

....

....

5. आर्थिक रूप से विपन्न परिवारों के बालकों का समाजीकरण क्यों अधूरा रह जाता है?

....

....

6. सामाजिक सहभागिता के विकास हेतु विद्यालयों में किस प्रकार के कार्यक्रमों को आयोजित करना चाहिए?

....

....

12.6 विकसित होते हुए बालक पर सांस्कृतिक वातावरण का iHkko (Influence of cultural enviornment on the development)

सांस्कृतिक पर्यावरण का अर्थ विभिन्न अनुशासनों में भिन्न–भिन्न प्रकार से लिया गया है। इसके अर्थ को भली–भांति समझने के लिए सांस्कृतिक पर्यावरण के

मूल तत्व 'संस्कृति' से परिचित होना अति आवश्यक है। मनोवैज्ञानिकों ने संस्कृति को निम्न प्रकार से परिभाषित किया है–

ओटावे के अनुसार– किसी समाज की संस्कृति से अर्थ उस समाज की सम्पूर्ण जीवन पद्धति से होता है।

The culture of a society means the total way of life of the society. – Ottaway

मैकाइवर व पेज के अनुसार– संस्कृति हमारे रहन–सहन की विधियों, विचारों, हमारे दैनिक कार्यो, कला–साहित्य, धर्म और आमोद–प्रमोद के साधनों में हमारी प्रकृति की अभिव्यक्ति है।

Culture is the expression of our nature in our modes of living and of thinking in our everybody intercourse, in art in literature, in religion, in recreation and enjoyment. – Mac Iver and Page.

अतः उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर कह सकते हैं कि व्यक्ति के पर्यावरण में लोकहितकारी उपलब्धियां उसके सांस्कृतिक पर्यावरण का अंग होती है, इसमें संस्कृति के मूल तत्व रहन–सहन एवं खान–पान की विधियां, व्यवहार, प्रतिमान, आचार विचार, रीति–रिवाज, भाषा, साहित्य, कला कौशल, धर्म, दर्शन, आदर्श विश्वास और मूल्य आते हैं। इनमें सबसे अधिक शक्तिशाली तत्व धर्म है।

बालक के विकास में सांस्कृतिक तत्व भी काफी सक्रिय होते हैं। चूंकि, प्रत्येक बालक किसी न किसी समाज में जन्म लेता है और समाज से प्रभावशाली समायोजन स्थापित करने के लिए उसके रहन–सहन के तरीकों तथा उसकी मान्यताओं के अनुसार ही स्वयं को ढालने हेतु प्रयासरत होता है।

सांस्कृतिक पर्यावरण में सर्वप्रथम अपने परिवार से प्रभावित होता है जहाँ माता–पिता व परिवार के अन्य सदस्य अपने–अपने सांस्कृतिक व्यवहारों से बालक में सांस्कृतिक गुण उत्पन्न करते हैं। बालक अपने परिवार में रहकर विभिन्न त्योहारों व पर्वो पर सांस्कृतिक क्रियायें देखता है और धीरे–धीरे स्वयं उनको करने लगता है, समय के साथ ये गुण उसके व्यक्तिव का हिस्सा बन जाते हैं जोकि उसके व्यवहारों में प्रदर्शित होने लगते हैं। अतः विभिन्न समाजों में विकसित बालकों पर सांस्कृतिक पर्यावरण किस प्रकार प्रभाव डालता है यह अध्ययन योग्य विषय है।

समाज की विभिन्न संस्कृतियों में जन्मे बालकों के विकास में सांस्कृतिक वातावरण के प्रभाव को निम्नलिखित अध्ययन से समझा जा सकता है–

1. बालक के सांस्कृतिक पर्यावरण के तत्वों रीति–रिवाज व परम्पराओं का बालक पर स्पष्ट रूप से प्रभाव पड़ता है। मनोवैज्ञानिकों द्वारा किये गये विभिन्न अध्ययनों से यह निष्कर्ष प्राप्त हुआ कि समाज विशेष में जिस आदर्शो पर अधिक बल दिया जाता है उनका विकास अन्य की अपेक्षा तेजी से होता है। जैसे लाओसा, स्वार्ज तथा डियाज गुरेरो ने मेक्सिकन व अमेरिकन बच्चों की कलाकृतियों (Drawing) का तुलनात्मक अध्ययन करके यह पाया कि मैक्सिकन बच्चों की कलाकृतियों में

पुरूषत्व (Masculivity) का प्रभाव अधिक था जबकि एग्लो अमेरिकन बच्चों द्वारा बनायी गयी कलाकृतियों में स्त्री व पुरूषों की कलाकृतियों में कोई खास अन्तर नहीं था। इसका कारण यह निर्धारित किया गया कि मेक्सिको की संस्कृति में पुरूषत्व को अधिक श्रेष्ठ माना जाता है इसलिए बच्चों में भी इसका विकास अधिक हुआ।

2. बालकों के पालन–पोषण (child rearing) की विधियां भी बालकों के विकास को बहुत अधिक प्रभावित करती हैं। जब बच्चों के पालन पोषण में दण्ड का प्रयोग कम किया जाए और माता–पिता बच्चों को अधिक समय दें तो ऐसी परिस्थिति में पले बढ़े बच्चों में भविष्य में बहिर्मुखता (Extroversion), जिज्ञासु प्रवृत्ति (Curosity), सृजनात्मकता (Creativity) जैसे गुणों का विकास होता है। इसकी विपरीत परिस्थितियों में पोषित बच्चों में भविष्य में आत्महीनता, अन्तर्मुखता (Introversion), आक्रामकता (aggressiveness), विद्वेश (hostility) का विकास तेजी से होता है।

3. कुछ अध्ययनों से यह भी ज्ञात हुआ कि बुद्धि तथा सृजनात्मकता का विकास भी सांस्कृतिक पर्यावरण से प्रभावित होता है। सांस्कृतिक भिन्न (Cultural difference) पर्यावरण में रहने वाले बच्चों के अध्ययन में यह स्पष्ट हुआ कि जिस सांस्कृतिक पर्यावरण में बच्चों की प्रारम्भ से ही ज्ञान बढ़ाने के अवसर, उत्तेजक वातावरण (Stimulating enviornment), शिक्षकों एवं माता–पिता का प्रोत्साहन आदि मिलता है। उनमें सृजनात्मकता का विकास तेजी से होता है जबकि विपरीत परिस्थिति में इसके विकास की गति मन्द हो जाती है।

4. मानवशास्त्री (Anthropologist) मीड ने अपने अध्ययन में यह पाया कि संस्कृति में विभिन्नता का कारण यौन विभिन्नतायें (Sex difference) है। ऐसे समाज जहां स्त्री व पुरूष जाति में यौन विभिन्नता कम महत्वपूर्ण होती है वहाँ दोनों के व्यवहारों में सहयोग (Co-operativenes), भद्रता (Gentlenes) तथा विनम्रता (submissiveness) अधिक होती है और स्त्री व पुरूष दोनो में ही नारीत्व (Feminity) से सम्बन्धित गुणों पर बल दिया जाता है। दूसरी ओर पुरूषत्व (Masculivity) से सम्बन्धित गुण को महत्वपूर्ण मानने वाले पर्यावरण में आक्रमशीलता (Aggressivenes), विद्रोही (violent) गुणों का विकास होता है।

5. ऐसी संस्कृतियां जिनमें सामाजिक श्रेणी (Social order) को महत्व दिया जाता है, वहां बालकों में अपनी सामाजिक श्रेणी से उच्चतर सामाजिक श्रेणी में जाने की प्रवृत्ति विकसित होती है जिस हेतु उनमें सजगता (alertness), प्रतिद्वंद्विता (competition), विद्वेश (Hostility) तथा वीरता (Bravery) जैसे गुणों का विकास होता है।

6. कुछ जातियों का सांस्कृतिक पर्यावरण इस प्रकार का है कि वहाँ ईर्ष्या (Jealousy), क्रोध (resentment) और संदेह (suspicion) जैसे गुण पाये जाते हैं फलतः बालकों में भी इन्हीं गुणों का विकास तेजी से होता है।
7. कुछ ऐसी जातियां भी हैं जहाँ व्यक्तिगत प्रभुत्व (personal dominance) और दूसरों पर आधिपत्य जमाने की प्रवृत्ति को बुरा माना जाता है। फलस्वरूप बालकों में भी नेतृत्व क्षमता (leadership) तथा सांवेगिक अभिव्यक्ति (emotional expression) का विकास नहीं हो पाता और उनके व्यवहार में दब्बूपना, विनम्रता, सांवेगिक अस्थिरता प्रदर्शित होती है।

उपर्युक्त अध्ययनों से यह कह सकते हैं कि बालक की सामाजिक मनोवृत्ति तथा सामाजिक मूल्य बहुत हद तक सांस्कृतिक पर्यावरण द्वारा निर्धारित होते हैं और इसी के अनुसार उनके सामाजिक एवं धार्मिक अधिकार तथा कर्तव्यों का भी निर्धारण होता है।

बालक के विकास में सांस्कृतिक वातावरण की प्रभाविकता में शिक्षा एवं शिक्षक की भूमिका–

1. विद्यालयों में भिन्न–भिन्न पर्यावरण से बालक आते हैं और प्रत्येक विद्यालय की कुछ अपनी परम्परायें व नियम होते हैं परन्तु यह आवश्यक है कि बालकों को उन परम्पराओं और नियमों को मानने के लिए विवश नहीं करना चाहिए बल्कि प्रेरित करना चाहिए कि वे सर्वमान्य भाषा और आचरण की विधियों को अपनायें।
2. शिक्षण हेतु सामूहिक विधि का प्रयोग करना चाहिए।
3. सहपाठ्यचारी क्रियाओं को सामुदायिक क्रियाओं से सम्बन्धित किया जाये जिससे द्वारा बालक में नेतृत्व करने, परोपकार व सहयोग जैसे गुणों का विकास हो सके।
4. स्कूल में भिन्न प्रकार की पाठ्यपुस्तकें छात्रों को पढ़ने के लिए दी जानी चाहिए जिनके अनुसार बालक की सामाजिक मनोवृत्ति तथा सांस्कृतिक मूल्यों का निर्माण हो। इन पुस्तकों से विभिन्न संस्कृतियों से परिचित होने का अवसर मिले और वह परसंस्कृति ग्रहण (Acculturation) की ओर बढ़े।
5. इस हेतु विभिन्न संस्कृतियों के त्योहार व पर्वो को विद्यालय में प्रतीक रूप में मनाना चाहिए जिससे सभी बालक दूसरी संस्कृतियों की विशेषताओं से परिचित हो सके और अर्न्तसांस्कृतिक भावना का उदय हो।
6. पाठ्यपुस्तकों में देश–विदेश की संस्कृतियों से सम्बन्धित लेख सम्मिलित किये जायें।
7. दैनिक सामूहिक सभा का आयोजन होना चाहिए जिनमें विभिन्न संस्कृतियों के विषय में तटस्थ होकर जानकारी दी जाए और उनकी विशेषताओं से छात्रों को परिचित कराया जाए।
8. विद्यालय की सभी क्रियाये–खेल और भ्रमण बालक में सांस्कृतिक व्यवहार उत्पन्न करने के अवसर प्रदान करते हैं। इससे बन्धुत्व व प्रेम के भाव उत्पन्न होते हैं।

बोध प्रश्न

टिप्पणी – क : नीचे दिये गये रिक्त स्थान में अपने उत्तर लिखिये–

ख : इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों में से अपने उत्तर का मिलान कीजिये–

7. ओटावे के अनुसार समाज की संस्कृति का क्या अर्थ है?

....

....

8. सामाजिक संस्कृति के शिक्षण हेतु किस विधि का उपयोग सर्वाधिक उपयुक्त है?

....

....

9. बालकों में नेतृत्व, परोपकार व सहयोग जैसे गुणों को विकसित करने के लिए सहपाठ्यचारी क्रियाओं को किन क्रियाओं से सम्बन्धित किया जाना चाहिए?

....

....

12.7 विकसित होते हुए बालक पर राजनैतिक वातावरण का प्रभाव (Influence of political environment on the growing child)

प्रारम्भिक काल में मनुष्यों ने अपनी सुव्यवस्था के लिये सामाजिक समूहों की रचना की और अपने–अपने समूहों का नेता चुना जिसकी आज्ञा का पालन करना समूह विशेष के प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य होता था। कालान्तर में इन्हीं समूह विशेषों को राज्य और नेता विशेषों को राजा की संज्ञा दी गयी। परन्तु जैसे–जैसे मानव सभ्यता का विकास होता गया, राज्य और राजा के सम्प्रययों में भी परिवर्तन किया। गिलिन व गिलिन ने राज्य को निम्न प्रकार से परिभाषित किया है– राज्य एक निश्चित भूभाग में बसे व्यक्तियों का प्रभुसत्ता सम्पन्न राजनैतिक संगठन है।

The state is a sovereign political organization of the individuals occupying a definite territory. – Gillin & Gillin

इस प्रकार राज्य एक सामाजिक समूह होता है जिसकी अपनी भौगोलिक सीमा, जनसंख्या, सरकार और प्रभुसत्ता होती है। आज संसार में अनेक प्रकार की राजनैतिक व्यवस्थायें हैं जिनकी कार्यप्रणाली, मूल्यों व अन्य पक्षों में काफी विविधतायें हैं। इन राज्यों में रहने वाले लोगों को राजनैतिक वातावरण में भिन्नता के अनुसार अपने कर्तव्यों का पालन करना होता है। यह भिन्नता उस वातावरण में जन्में बालक के विकास को किस प्रकार प्रभावित करती है, यह अध्ययन योग्य है। राजनैतिक वातावरण में बालक उसके सदस्यों, समुदायों, राष्ट्र की अर्थव्यवस्था उसकी आवश्यकताओं व शासन व्यवस्था से प्रभावित होकर विकसित होता है। राज्यों को उनकी सरकारों

के मानव जीवन के पक्षों पर अधिकार की दृष्टि से दो भागों में विभाजित किया गया है। सर्वाधिकारी राज्य (Totalilarian states) और उदारवादी राज्य (Liberal states)

1. सर्वाधिकारी राजनैतिक वातावरण में बालक का विकास– इस राज्य व्यवस्था में सरकार का मानव जीवन के सभी पक्षों पर अधिकार होता है। वहां सरकार द्वारा मनुष्य की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति की जाती है और योग्यता व कार्यक्षमता के अनुसार रोजगार की गारंटी दी जाती है। सत्ता प्रमुख के बनाये गये कानूनों को कोई चुनौती नहीं दे सकता है। व्यक्तियों को राजनैतिक विचारधारा के विषय में कुछ भी कहने की स्वतंतत्रा नहीं होती है। राज्य के औपचारिक व अनौपचारिक शिक्षण अभिकरण पूर्णरूप से राज्य के नियंत्रण में होते हैं। इस प्रकार के वातावरण में विकसित बालकों में स्वतंत्र चिंतन का अभाव, पहल करने, प्रतियोगी व नेतृत्व करने के गुणों का विकास नहीं हो पाता। प्रायः उनमें शासन के प्रति आज्ञाकारिता, असंवेगात्मकता, पलायनवादी, उदासीनता, साहस जैसे गुणों के अधिक विकसित होने की संभावना बढ़ जाती है।

2. दूसरी तरफ उदारवादी राज्य है जिसमें शासक अथवा शासकतंत्र का मनुष्य जीवन के कम से कम पक्षों पर अधिकार होता है। व्यक्तियों को विचार अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतंत्रता होती है तथा शिक्षा के अभिकरणों पर राज्य का पूर्ण नियंत्रण नहीं होता है। उदारवादी राजनैतिक वातावरण में विकसित बालकों में स्वतंत्र विचार अभिव्यक्ति, रचनात्मक शक्ति, मैत्रीपूर्ण व्यवहार, नेतृत्व के गुण, (पहल शक्ति, साहस, दूरदर्शिता, निर्णय लेने की शक्ति, व्यक्ति पहचान की शक्ति, सहनशक्ति, आत्मविश्वास आदि) का विकास उचित रूप से होता है।

राज्यों के एक अन्य वर्गीकरण में सरकार में व्यक्तियों की भागीदारी के आधार पर स्वतंत्र (Autocracy), अल्पतंत्र (Plutocracy) और प्रजातंत्र (Democracy) तीन भागों में विभाजित किया गया है।

1. एकतंत्र दो स्वरूप है– प्रथम वह राज्य जिनमें शासन अधिकार एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के हाथ में वंश परम्परा के आधार पर जाता है उन्हें राजतंत्र कहते हैं। दूसरा वह स्वरूप जिसमें शासन एक व्यक्ति से दूसरा व्यक्ति अपनी क्षमता के आधार पर प्राप्त कर लेता है या छीन लेता है। इसे अधिनायकतंत्र कहते हैं। किसी दल विशेष की शासन व्यवस्था निरंकुशतंत्र के अन्तर्गत रखी जा सकती है। इसमें प्रथम प्रकार के एकतंत्र में शासन के प्रति विश्वसनीयता, का विकास होता है इसके अतिरिक्त नेतृत्व क्षमता, प्रतियोगी भावना का विकास समुचित रूप से नहीं हो पाता है। द्वितीय प्रकार के राजनैतिक वातावरण में अस्थिरता व्याप्त होने से बालक में भी सन्देहशीलता विकसित होने की संभावना बढ़ जाती है। व्यवस्था से संतुष्ट न होने पर पलायनवादी गुण का विकास होता है। इस वातावरण में रहने वाले बालक संकोची व कमजोर व्यक्तित्व वाले होते हैं।

2. अल्पतंत्र व्यवस्था दो प्रकार की होती है कुलीन तंत्र (Aristocracy) और ६
ानिक तंत्र (Oligracy)। दोनों प्रकार की व्यवस्थाओं में दो प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था की जाती है– एक सत्ता वर्ग के बच्चों के लिये और दूसरी शासित वर्ग के बच्चों के लिये। सत्ता वर्ग के बच्चों के लिये व्यवसाध्य उच्च शिक्षा की

व्यवस्था होती है और लम्बे समय तक चलती है। शासित वर्ग के बच्चों के लिये सामान्य शिक्षा की व्यवस्था की जाती है यह कम व्यय वाली व थोड़े समय तक चलती है। दोनों प्रकार की शिक्षा के स्वरूप में भी अन्तर पाया जाता है। सत्ता वर्ग के बच्चों को प्रशासन में ऊँचे पदों पर कार्य करने और शासित वर्ग के बच्चों को शासन के प्रति वफादारी और बिना किसी विद्रोह के जीवन व्यतीत करने का गुण शिक्षा के माध्यम से उत्पन्न करने का प्रयास होता है। इस प्रकार के वातावरण में वर्गभेद को बढ़ावा मिलता है और दोनों वर्गो के बालकों के शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक, सामाजिक आदि सभी पक्षों के विकास में स्पष्ट अन्तर दिखाई देता है।

3. जनतंत्र व लोकतंत्र वह राजनैतिक व्यवस्थायें हैं जिसमें शासन मूलतः जनता के हाथ में होता है। जनता निश्चित समयावधि के उपरान्त नये प्रतिनिधियों का चुनाव करती है। चुने गये व्यक्ति सामाजिक एवं आर्थिक विकास के लिये नीति निर्धारित कर उसको जनता के सहयोग से क्रियान्वित करते हैं। इस व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व का आदर किया जाता है। उसे स्वतंत्र चिन्तन एवं स्वतत्र अभिव्यक्ति के अवसर दिये जाते हैं, शैक्षिक उद्देश्य व्यापक होते हैं और पाठ्यचर्या में बहुत विविधता दिखाई देती है। प्रत्येक बालक के व्यक्तित्व को विशिष्ट मानते हुए शारीरिक स्वास्थ्य की रक्षा एवं संवर्द्धन की ओर ध्यान दिया जाता है। बालकों के मानसिक विकास में सूझ–बूझ व चातुर्य के विकास पर बल दिया जाता है। प्रत्येक को अपनी रूचि, रूझान, व योग्यतानुसार विकसित होने का अवसर मिलता है। नेतृत्व क्षमता प्रेम, सहानुभूति और सहयोग जैसे गुणों का विकास होता है।

उपरोक्त सभी व्यवस्थाओं के अतिरिक्त बालक के वातावरण में व्याप्त भ्रष्टाचार, साम्प्रदायिकता, जातीयता, क्षेत्रीयता, आदि कारकों की उपस्थिति से उसमें नकारात्मक गुणों के विकास को बढ़ावा मिलता हैं।

विकसित होते हुए बालक पर राजनैतिक वातावरण की प्रभाविकता में शिक्षक व शिक्षा की भूमिका

विद्यालय औपचारिक संस्था के रूप में समाज के आदर्शो की पूर्ति हेतु निर्मित होती है। यदि विद्यालय में जनतंत्रीय वातावरण है तो इसमें बालक का विकास स्वस्थ एवं उत्तम रूप से होता है, किन्तु यदि विद्यालय का वातावरण एकतंत्रीय (निरंकुश) हो अर्थात् दमनात्मक नीति पर आधारित हो तो बालक का विकास स्वाभाविक रूप से स्वस्थ दिशा में नहीं होता।

बालक के विकास में शिक्षक का व्यक्तित्व, सम्पर्क, सम्बन्ध और उसका व्यवहार बहुत प्रभावी होता है। निरंकुश प्रवृत्ति का शिक्षक कक्षा में कड़ा अनुशासन रखते हैं। फलस्वरूप छात्र भय के वातावरण में उपस्थित रहते हैं वे स्वेच्छापूर्वक बैठ नहीं सकते और भय के कारण कोई प्रश्न नहीं पूंछ सकते। उनकी जिज्ञासाओं की असंतुष्टि व डांट फटकार से वह दब्बू प्रवृत्ति के बन जाते हैं। अन्दर ही अन्दर आक्रोश पनपने पर उनमें समाज विरोधी भावनाओं के जन्म लेने की आशंका बढ़ जाती है।

यदि शिक्षक स्वयं दुर्बल व्यक्तित्व या सीधे–सादे हो और कक्षा में उचित अनुशासन रखने में सक्षम न हो तो बालकों में अनुशासनहीनता व उदंडता की प्रवृत्ति जन्म लेती है। अतः शिक्षक को शिष्ट, शान्त और सहयोगी होना चाहिए जो बालकों में सहकारिता की भावना को जन्म दें। शिक्षक द्वारा ऐसी शिक्षण विधियों का प्रयोग किया जाये जिससे बालक स्वयं निरीक्षण व प्रयोग करके निर्णय निकाले। पाठ्यक्रम विविधता युक्त हो और शिक्षक द्वारा मध्यमार्गी अनुशासन का प्रयोग किया जाये।

बोध प्रश्न

टिप्पणी – क : नीचे दिये गये रिक्त स्थान में अपने उत्तर लिखिये–

ख : इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों में से अपने उत्तर का मिलान कीजिये–

10. "राज्य एक निश्चित भू–भाग में बसे व्यक्तियों का प्रभुतासम्पन्न राजनैतिक संगठन है।" कथन किसका है?

....

....

11. किस प्रकार के राज्य में शासक का हस्तक्षेप मानव जीवन पर न्यूनतम होता है?

....

....

12. बालक के उत्तम विकास हेतु विद्यालय का वातावरण किस प्रकार का होना चाहिए?

....

....

12.8 अभ्यास हेतु प्रश्न

प्र01. सामाजिक वातावरण से क्या तात्पर्य है?

प्र02. समाज के कौन–कौन से कारक बालक के विकास को प्रभावित करते हैं?

प्र03. बालक के विकास में सामाजिक वातावरण के प्रभाव के अध्ययन की आवश्यकता क्यों है?

प्र04. बालक के विकास में खेलकूद की क्या भूमिका ह?

प्र05. बालक के विकास में विद्यालय का वातावरण किस प्रकार सहयोग कर सकता है?

प्र06. परिवार किस प्रकार से बालक के विकास को प्रभावित करता है?

प्र07. बालक के विकास को सामाजिक वातावरण किस प्रकार प्रभावित करता है?

प्र08. बालक के विकास में सांस्कृतिक वातावरण के प्रभाव का अध्ययन करना क्यों आवश्यक है?

प्र09. राजनैतिक वातावरण के प्रकारों का वर्णन कीजिए?

प्र010. राजनैतिक वातावरण विकसित होते हुए बालक को कैसे प्रभावित करता है?

विकसिंत होते हुए बालक पर वातावरण का प्रभाव

12.9 सारांश

बालक के विकास पर सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक वातावरण का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। वातावरण या पर्यावरण दोनों समनार्थी शब्द है। जिसका अर्थ चारों ओर के आवरण से है। अर्थात जिस समाज में व्यक्ति रहता है वही उसका वातावरण है।

बालक समाज में जन्म लेता है और सामाजिक परिवेश के आधार पर ही उसका विकास होता है। सजाज के विभिन्न व्यक्तियों जैसे – माता–पिता, भाई–बहन, पड़ोसियों, मित्रों, शिक्षकों तथा विद्यालयों आदि के सम्पर्क के फलस्वरूप बालक का समाजीकरण होता है। समाजीकरण के फलस्वरूप बालक अपने समाज की संस्कृति, परम्पराओं, रीति–रिवाजों, नियमों आदि के आधार पर अपने व्यवहार में परिमार्जन करके समाज सम्मत व्यवहार करना सीखता है।

वातावरण में वे सभी तत्व सम्मिलित रहते हैं जो व्यक्ति के जीवन, व्यवहार व सामाजिक सम्बन्धों को प्रभावित करते हैं।

इस प्रकार बालक के विकास में सामाजिक वातावरण का अत्यधिक प्रभाव पडता है क्योंकि वह जिस प्रकार के सामाजिक वातावरण में रहता हैं। उसका विकास उसी प्रकार से होता है।

सामाजिक वातावरण के साथ–साथ सांस्कृतिक वातावरण भी बालक के विकास को प्रभावित करता है। परिवार के सांस्कृतिक पर्यावरण का प्रभाव सर्वप्रथम एवं सर्वाधिक होता है। माता–पिता तथा परिवार के अन्य सदस्य अपने सांस्कृतिक व्यवहारों से बालक में सांस्कृतिक गुणों का विकास करते हैं। अनेकों अध्ययनों में पाया गया है कि सांस्कृतिक पर्यावरण का बालक पर प्रभाव बहुत अधिक पड़ता है। बालकों की मनोवृत्ति तथा मूल्य अधिकांशतः सांस्कृतिक वातावरण द्वारा निर्धारित होते हैं।

राजनैतिक वातावरण का भी प्रभाव बालक पर पड़ता है। जिस राष्ट्र व समाज की राजनैतिक वातावरण जिस प्रकार का होगा वहॉ उसी प्रकार के नागरिक तैयार होंगे। यदि कोई राष्ट्र या समाज लोकतांत्रिक मूल्यों को मानने वाला है तो वहॉ के नागरिकों में लोकतांत्रिक मूल्यों का विकास होगा। यदि वहॉ की राजनैतिक व्यवस्था में अपराध, भ्रष्टाचार, जातिवाद क्षेत्रीयता आदि को बढ़ावा दिया जा रहा है तो वहॉ के नागरिकों में इन्हीं गुर्दुणों का विकास होगा जो उस राष्ट्र या समाज को पतन की ओर ले जायेगें। इस प्रकार बालक के विकास को वहॉ का राजनैतिक वातावरण भी प्रभावित करता। शिक्षा के द्वारा उचित सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक वातावरण तैयार करके सम्यक विकास किया जा सकता है जो प्रबुद्ध नागरिक तैयार कर राष्ट्र विकास में योगदान दे सकते हैं।

12.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. बालक के व्यवहार को दिशा देने में अनुभव तथा सांस्कृतिक अनुकूलन की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

2. पर्यावरण को सामाजिक वंशानुक्रम भी कहा जाता है।
3. सामाजिक प्रभाव समरूपता, अनुपालन तथा आज्ञापालन जैसे व्यवहारों से प्रतिबिम्बित होता है।
4. बालक को समूह में रहने के लिए सामूहिकता की मूल प्रवृत्ति प्रेरित करती है।
5. आर्थिक रूप से विपन्न परिवारों के बालकों को समुचित सामाजिक विकास न होने के कारण समाजीकरण अधूरा रह जाता है।
6. सामाजिक सहभागिता के विकास हेतु विद्यालयों में पाठ्येत्तर कार्यक्रमों जैसे – नाटक, खेल–कूद, राष्ट्रीय, सामाजिक सेवा, वाद–विवाद प्रतियोगिता आदि का आयोजन करना चाहिए।
7. किसी समाज की संस्कृति का अर्थ उस समाज की सम्पूर्ण जीवन पद्धति से है।
8. सामाजिक संस्कृति के शिक्षण हेतु सामूहिक शिक्षण विधि अधिक उपयुक्त है।
9. सामुदायिक कियाओं से ।
10. गिलिन एवं गिलिन।
11. उदारवादी राज्य
12. बालक के उत्तम विकास हेतु विद्यालय का वातावरण लोकतांत्रिक होना चाहिए।

12.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. अरूण कुमार सिंह– शिक्षा मनोविज्ञान, भारती भवन पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स (2001)
2. गणपतराम शर्मा, हरिश्चन्द्र व्यास– अधिगम शिक्षण और विकास के मनो सामाजिक आधार राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर। (2006)
3. डा0 प्रफुल्ल एन0 दवे– डा0 विपिन सिंह रायजादा, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर (1983)
4. डा0 मालती सारस्वत, शिक्षा मनोविज्ञान की रूपरेखा, आलोक प्रकाशन लखनऊ (2000)
5. डा0 राम शकल पाण्डे, उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षक,आर0 लाल बुक डिपो– (2008)
6. पी0डी0 पाठक– शिक्षा मनोविज्ञान, अग्रवाल पब्लिकेशन्स, आगरा (2008)
7. रमन बिहारी लाल– शिक्षा के दार्शनिक व समाजशास्त्रीय आधार रस्तोगी

   पब्लिकेशन्स, मेरठ – 2002

खण्ड

5

प्रौढ़ावस्था का संक्रमणकाल

इकाई - 13 5

मनोवैज्ञानिक कुशलता, आत्म-पहचान का निर्माण एवं स्वप्रत्यय

* Psychologial Well-being
* Formation of identity
* Self Concept

इकाई - 14 27

प्रौढ़ावस्था का संक्रमणकाल-भूमिका एवं उत्तरदायित्व

इकाई - 15 39

जीवन कौशल और वृत्ति चयन

संरक्षक एवं मार्गदर्शक

प्रो0 एम0 पी0 दुबे	कुलपति, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

विशेषज्ञ समिति

प्रो0 एस0पी0 गुप्ता	पूर्व निदेशक, शिक्षा विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
प्रो0 के0एस0मिश्रा	आचार्य, शिक्षा शास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
प्रो0 अखिलेश चौबे	पूर्व आचार्य, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ
प्रो0 विद्या अग्रवाल	आचार्य, शिक्षा शास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
प्रो0 प्रतिभा उपाध्याय	आचार्य, शिक्षा शास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

लेखक

डा0 उमा टण्डन	एसोसियएट प्रोफेसर, डी0बी0एस0 कालेज, कानपुर (इकाई-1 से 9)
डा0 अर्पिता सिंह	असि. प्रोफेसर, एच.एन.मिश्रा कालेज आफ एजूकेशन, कानपुर (इकाई- 10,11,12)
डा0 सुधांशु सिन्हा	असि. प्रोफेसर, टी.डी. कालेज, जौनपुर (इकाई- 13,14,15)

सम्पादक

प्रो0 सुजाता रघुवंश	आचार्य, शिक्षा शास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद

परिमापक

प्रो0प्रदीप कुमार पाण्डेय	प्रभारी निदेशक, शिक्षा विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

समन्वयक

डॉ0 रंजना श्रीवास्तव	प्रवक्ता, शिक्षा विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

प्रकाशक

डॉ० जी० एस० शुक्ल	कुलसचिव, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
ISBN-UP-978-93-83328-03-1

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठ्यसामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

नोट : पाठ्य सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आकड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय उत्तरदायी नहीं है।
प्रकाशन -उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

B.Ed.SE-01 : मानव वृद्धि एवं विकास

खण्ड–एक मानव विकास के उपागम

इकाई–1 वृद्धि व विकास की अवधारणाएँ व सिद्धान्त

इकाई–2 मानव विकास की अवस्थाएँ

इकाई–3 विकास के आयाम

खण्ड–दो विकास के सैद्धान्तिक उपागम

इकाई–4 संज्ञानात्मक व सामाजिक–संज्ञानात्मक सिद्धान्त

इकाई–5 मनोसामाजिक सिद्धान्त (एरिक्सन) तथा मनोविश्लेषण सिद्धान्त (फ्रॉयड)

इकाई–6 विकास के जैव–पारिस्थितिक (ब्रीफॉनब्रेनर)तथा समग्र सिद्धान्त (स्टाइनर)

खण्ड–तीन प्रारम्भिक वर्ष (जन्म से 8 वर्ष तक)

इकाई–7 जन्मपूर्व गर्भकालीन तथा नवजात शिशु विकास

इकाई–8 विकास में मील के पत्थर

इकाई–9 पूर्व बाल्यावस्था को प्रभावित करने वाले वातावरण के कारक

खण्ड–चार मध्य बाल्यावस्था से किशोरावस्था (9 वर्ष से 18 वर्ष)

इकाई–10 शारीरिक, सामाजिक, संवेगात्मक, संज्ञानात्मक,सृजनात्मक व नैतिक पक्षों से सम्बन्धित उदीयमान योग्यतायें

इकाई–11 तरुण अवस्था, लिंग एवं विकास से सम्बन्धित समस्यायें

इकाई–12 विकसित होते हुए बालक पर वातावरण (सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक) का प्रभाव

खण्ड–पॉच प्रौढ़ावस्था का संकमणकाल

इकाई–13 मनोवैज्ञानिक कुशलता, आत्म–पहचान का निर्माण एवं स्वप्रत्यय

इकाई–14 प्रौढ़ावस्था का संकमणकाल–भूमिका एवं उत्तरदायित्व

इकाई–15 जीवन कौशल और वृत्ति चयन

खण्ड– 5 : प्रौढ़ावस्था का संक्रमणकाल (Transition into Adulthood)

खण्ड परिचय -

मानव के सम्पूर्ण जीवनकाल में उसके आकार, आकृति तथा मनोवैज्ञानिक गठन में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से मानव विकास की सम्पूर्ण प्रक्रिया को विभिन्न अवस्थाओं में विभक्त कर सकते हैं जैसे, गर्भकालीन अवस्था, शैशवावस्था, बाल्यावस्था, यौनारम्भ, किशोरावस्था, युवा प्रौढ़ावस्था, मध्यावस्था और वृद्धावस्था। पिछले खण्डों में आप प्रौढ़ावस्था के पूर्व की अवस्थाओं का अध्ययन कर चुके हैं। प्रौढ़ावस्था वह अवस्था है जिसमें व्यक्ति का विकास पूर्ण आकार ले लेता है। या पूर्णता को प्राप्त कर लेता है। विशेषताओं के आधार पर प्रौढ़ावस्था और वृद्धावस्था।

प्रारम्भिक प्रौढ़ावस्था जो 18 वर्ष की उम्र के बाद शुरू होती और लगभग 35 वर्ष की उम्र तक चलती है को समस्याओं की उम्र भी कहते हैं। इस अवस्था में उत्तरदायित्वों का भार काफी बढ़ जाता है। व्यक्ति को अपने जीवन से सम्बन्धित विभिन्न क्षेत्रों जैसे व्यवसाय, जीवनसाथी चयन, सन्तानोत्पत्ति, सामाजिक प्रत्याशा आदि के बारे में निर्णय लेना और उनको पूरा करना पड़ता है।

इस खण्ड में युवा प्रौढ़ावस्था तथा उससे सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं का जैसे वैयक्तिक पहचान का विकास और आत्म प्रत्यय, मनोवैज्ञानिक कुशलता (Psychological Well being) भूमिका एवं उत्तरदायित्व, जीवन कौशल और कैरियर विकल्प आदि का विवेचन किया गया है। इस खण्ड में तीन इकाइयॉ है।। इकाई 13 में व्यक्ति के अस्तित्व से जुड़े प्रश्नों जैसे, मैं कौन हूँ? या मेरी पहचान क्या है? मैं कैसे खुश रहूँगा या मुझे किन कार्यो को करने में खुशी होती है? के उत्तरों की तलाश की जायेगी। ऐसे प्रश्न हमारे अन्दर अचानक से उत्पन्न नहीं हो हो जाते अपितु ये हमारे और वातावरण की अन्तर्क्रिया एवं अनुभवों पर आधारित होते हैं। इनका भी विकास होता है। इस इकाई में आत्म या स्व, वैयक्तिक पहचान का निर्माण मनोवैज्ञानिक कुशलता आदि की विवेचना की गई हैं। इकाई 14 इस इकाई में युवा प्रौढ़ावस्था में व्यक्ति को कौन कौन सी भूमिका का निर्वहन करना पड़ता है और उनके कौन कौन से उत्तरदायित्व होते हैं, इनकी चर्चा की गई है।

इकाई 15 का सम्बन्ध जीवन कौशल और वृत्तिचयन से है। में युवा को अपने जीवन में अपनी योगयता एवं क्षमता के अनुरूप उच्चतम प्रदर्शन हेतु किन किन कौशलों की आवश्यकता होती है और उनसे जुड़े वृत्ति चयन पर प्रकाश डाला गया है।

इकाई– 13 मनोवैज्ञानिक कुशलता, आत्म पहचान का निर्माण एवं स्वप्रत्यय (Psychological Well-being formation of Identity and Self-Concept)

13.1 प्रस्तावना

13.2 उद्देश्य

13.3 आत्म–विकास

13.3.1 आत्म या स्व की अवधारणा

13.3.2 स्व के विभिन्न पक्ष

13.3.3. स्व–प्रत्यय की अवधारणा

13.3.4 स्व एवं स्व–प्रत्यय में अन्तर

13.3.5 स्व–प्रत्यय के घटक

13.3.6 सकारात्मक एवं नकारात्मक स्व–प्रत्यय

13.3.7 विद्यार्थियों के सकारात्मक स्व–प्रत्यय के विकास में अध्यापक की भूमिका

13.4 आत्म–पहचान एवं उसका विकास

13.4.1 आत्म–पहचान की अवधारणा

13.4.2 पहचान की संरचना

13.4.3 पहचान संकट और पहचान–निर्माण

13.4.4 पहचान के प्रकार

13.5 मनोवैज्ञानिक कुशलता

13.5.1 मनोवैज्ञानिक कुशलता प्रत्यय की उत्पत्ति एवं अवधारणा

13.5.2 मनोवैज्ञानिक कुशलता के घटक

13.5.3 मनोवैज्ञानिक कुशलता के विकास में अध्यापक की भूमिका

13.6 अभ्यास कार्य

13.7 सारांश

13.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

13.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

13.1 प्रस्तावना

मानव एक चिन्तनशील प्राणी है। यदि हम सोचे की हमारे चिन्तन के प्रमुख बिन्दु क्या–क्या है? तो हम पायेंगे कि सबसे अधिक समय हम व्यक्ति – स्वयं या दूसरों के बारे में ही चिन्तन करने में व्यतीत करते है। हमारे जीवन में स्व या आत्म का प्रमुख स्थान है। स्वयं को जानने की अभिलाषा मानवीय जिज्ञासा का एक अभिन्न अंग है। हम अपने अन्दर झाँकते है और अपने गुणों या कमियों का विश्लेषण करते हैं। हमारे किसी भी निर्णय में स्व की भूमिका अहम होती है। हमारे द्वारा समाज में अदा की जाने वाली विभिन्न भूमिकाएँ कहीं न कहीं हमारे स्व–प्रत्यय से प्रभावित होती है। हमारा पूरा व्यक्तित्व हमारे स्व के ज्ञान की नींव पर खड़ा होता है। इस अध्याय का उद्देश्य आपको स्व तथा मनोवैज्ञानिक कुशलता की अवधारणा और उसके विभिन्न पक्षों को समझने में मदद करना है।

13.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप इस योग्य होंगे कि –

- स्व की अवधारणा को स्पष्ट कर सकेंगे;
- स्व के विभिन्न पक्षों को परिभाषित एवं उनमें अन्तर कर सकेंगे;
- 'स्व–प्रत्यय' को स्पष्ट कर सकेंगे;
- स्व–प्रत्यय के विभिन्न क्षेत्रों की पहचान कर सकेंगे;
- आत्म–पहचान की अवधारणा को स्पष्ट कर सकेंगे;
- आत्म–पहचान की संरचना के तत्वों को बता सकेंगे;
- आत्म विकास कैसे होता है? स्पष्ट कर सकेंगे;
- मनोवैज्ञानिक कुशलता की अवधारणा को स्पष्ट कर सकेंगे;
- मनोवैज्ञानिक कुशलता के प्रमुख घटकों की सूची बना सकेंगे;
- कक्षा में विद्यार्थियों में धनात्मक स्व–प्रत्यय एवं आत्म पहचान के विकास में अध्यापक की भूमिका की व्याख्या कर सकेंगे।

13.3 आत्म विकास (Development of Self)

मैं कौन हूँ? या आप कौन हैं? जैसे प्रश्नों के उत्तर जो आप दे सकते हैं, उदाहरण के तौर पर मैं एक विद्यार्थी हूँ, मैं एक शिक्षक हूँ, मैं भारतीय नागरिक हूँ, मैं हिन्दू हूँ आदि, यही आपके आत्म को इंगित करता है। हमारी यह भावना हमारे अपने अनुभवों, विचारों और अन्तर्क्रियाओं पर आश्रित होती है। यह एक विकासात्मक प्रक्रिया है।

13.3.1 आत्म या स्व की अवधारणा (Concept of Self) -

आप सभी इस बात से सहमत होंगें कि हम सभी अपने बारे में (स्व) चिन्तन या विचार–विमर्श करने में काफी समय व्यतीत करते हैं। हम अपने 'स्व' से जुड़े संज्ञानों, अनुभवों, प्रत्यक्षों, विचारों (वास्तविक या कल्पित) में तल्लीन रहते हैं। हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्व और कृतित्व का आधार हमारा 'स्व' ही होता है। अतः हम 'स्व' को अपने अस्तित्व बोध के अनुभवों पर आधारित एक संगठित संज्ञानात्मक संरचना के रूप में देख सकते हैं। जिसे हम स्वयं अपने अनुभवों पर निर्मित करते हैं।

मर्फी (1947) ने 'स्व' को 'व्यक्ति द्वारा स्वयं को जानना' के रूप में परिभाषित किया है।

'किम्बल यंग' (1952) के अनुसार, 'स्व' का आशय उसके आत्म से है, जो स्वयं के द्वारा सामाजिक अन्तःक्रिया के परिप्रेक्ष्य में देखा या जाना गया है।

बाउमन (2001) के अनुसार 'स्व' एक प्रिज़्म की तरह कार्य करता है, जिसके द्वारा हम सामाजिक घटनाओं की सत्यता को देखने, ग्रहण करने और परीक्षण करने का प्रयास करते हैं।

शैफर एवं कीप (2007) के अनुसार, आत्म का आशय शारीरिक एवं मनोवैज्ञानिक विशेषताओं के समुच्चय से है, जो कि व्यक्ति विशेष के लिए विशिष्ट होता है।

ज्ञाता तथा ज्ञेय के रूप में स्व – जब हम स्व के बारे में विचार करते हैं तो दो शब्दों का प्रयोग करते हैं– 'मैं' और 'मेरा' जैसे, मैं अध्यापक हूँ या मेरे पास दो मकान है। 'मैं' शब्द 'स्व' के ज्ञाता पक्ष (देखने या जानने वाला) को और 'मेरा' शब्द 'स्व' के ज्ञेय पक्ष (देखी या जानी जाने वाली वस्तु) को प्रदर्शित करता है।

13.3.2 'स्व' के विभिन्न पक्ष (Different Aspects of Self) -

विभिन्न मनोवैज्ञानिकों द्वारा समय–समय पर 'स्व' का अध्ययन किया जाता रहा है, जिसके कारण 'स्व' के विभिन्न पक्ष उभर कर सामने आये हैं, जिसमें से कुछ प्रमुख निम्न हैं –

स्व–चेतना (Self- Consciousness) - स्व के इस पक्ष में हम अपने स्व के प्रति चेतन या सजग रहते हैं अर्थात् आत्मकेन्द्रित होते हैं।

आत्म–गौरव (Self- Esteem) - आत्म–गौरव से तात्पर्य किसी व्यक्ति द्वारा अपने आत्म से सम्बन्धित गुणों के मापन पर आधारित योग्यता के मूल्यांकन से है अर्थात् यह स्व के महत्व से सम्बन्धित अवधारणा है। दूसरे शब्दों में किसी व्यक्ति द्वारा अपनी विशेषताओं, योग्यताओं और व्यवहार को महत्त्व देना ही आत्म–गौरव है।

स्व–दक्षता (Self- Efficacy) - (I think I can, I think I can........) यह एक व्यक्ति द्वारा अपनी क्रियाओं द्वारा वांछित प्रभाव उत्पन्न करने की योग्यता से सम्बन्धित आत्म–मूल्यांकन है।

आत्म–निगरानी (Self- Monitoring) - किसी व्यक्ति द्वारा वाह्य परिस्थितियों और दूसरे व्यक्तियों की प्रतिक्रियाओं के आधार पर अपने व्यवहार में नियमन/ परिवर्तन करना (उच्च आत्म–निगरानी) अथवा आन्तरिक कारकों जैसे विश्वास, सोच, अभिवृत्ति, मूल्य के आधार पर अपने व्यवहार में नियमन/ परिवर्तन करना (निम्न आत्म निगरानी) है।

स्व–प्रकटन (Self- Disclosure) - अपने बारे में दूसरों के समक्ष मुक्त भाव से बातें करना (उच्च स्व–प्रकटन), जबकि अपने बारे में दूसरे के समक्ष बातचीत करने में कठिनाई का अनुभव करना (निम्न स्व–प्रकटन) है।

इसका एक पक्ष स्व–प्रत्यय (Self Concept) भी है।

13.3.3 स्व–प्रत्यय की अवधारणा (Meaning of Self- Concept) -

स्व–प्रत्यय अपने 'स्व' के अनुभवों पर आधारित एक संगठित, संज्ञानात्मक संरचना है। आपके स्व–प्रत्यय का निर्माण आपके परिवार से प्रारम्भ होकर आपके पूरे जीवनकाल में आने वाले सभी व्यक्तियों के साथ सामाजिक अन्तर्क्रिया का परिणाम है।

पर्किन्स (1952) के अनुसार – "ऐसे प्रत्यक्षीकरण, विश्वास, अभिवृत्ति और अनुभव जिन्हें व्यक्ति द्वारा अपनी स्वयं की विशेषताओं के रूप में देखा जाता है, को स्व–प्रत्यय के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।"

जरसिल्ड (1965) के अनुसार, "किसी भी व्यक्ति के विचार एवं अनुभव, आशा और निराशा, भय और कल्पना, उसके स्वयं के बारे में विचार, वह क्या बन चुका है? भविष्य में क्या बनेगा? और अपनी योग्यता के प्रति अभिवृत्ति का योग ही स्व–प्रत्यय कहलाता है।"

स्व–प्रत्यय एक स्थायी और न बदलने वाला संगठित संज्ञानात्मक प्रत्यय माना जाता है, परन्तु एक लम्बी अवधि के पश्चात् स्व–प्रत्यय में परिवर्तन सम्भव है। समय के साथ हम सभी में परिवर्तन होता रहता है। आप जैसे आज हैं, ठीक इसी तरह 10 वर्ष पश्चात् भी होंगें, सम्भव नहीं है। हम सभी में लम्बी अवधि के पश्चात् कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्य हो जाते हैं। कभी–कभी हम लोग यह कल्पना भी करते हैं कि 10 वर्ष पश्चात् हम कैसे हो जायेंगे, जैसे कॉलेज की पढ़ाई के बाद हमारा जीवन कैसा होगा? इसे हम लोग 'सम्भावित स्व' कहते हैं। हम लोग 'सम्भावित स्व' के बारे में भी जागरूक रहते हैं।

स्व–प्रत्यय में 'स्व' से सम्बन्धित सभी सूचनाओं के साथ व्यक्ति द्वारा अधिकृत वस्तुएँ भी सम्मिलित हैं, जैसे– मेरा घर, मेरी गाड़ी, मेरा विद्यालय आदि।

13.3.4 स्व एवं स्व–प्रत्यय में अन्तर (Difference between Self and Self- Concept) -

जैसे–जैसे व्यक्तित्व के सिद्धान्तों का विकास हुआ, मनोवैज्ञानिकों ने 'स्व' और 'स्व–प्रत्यय'में 'अन्तर स्पष्ट करने का प्रयास किया। उन्होंने 'स्व' को व्यवहार की सम्बद्ध व्यवस्थित प्रणाली के रूप में जबकि स्व–प्रत्यय को व्यक्ति द्वारा स्वयं की पहचान और मूल्यांकन के रूप में परिभाषित किया।

'स्व' व 'स्व–प्रत्यय' के सम्बन्ध को **मैक डेविड** और **हरारी** द्वारा दिये गये 'चीज और बर्गर'के उदाहरण द्वारा और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है।

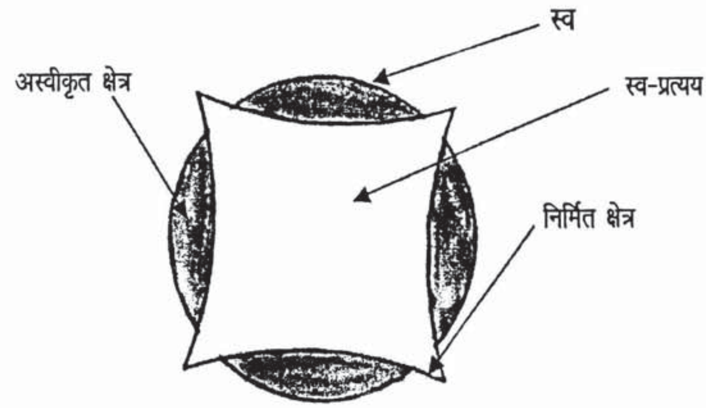

चित्र : स्व और स्व-प्रत्यय

स्रोत - मैक डेविड, जे०डब्ल्यू० और हरारी, एच० सोशल साइकोलॉजी (न्यूयार्क : हार्पर और रो, 1986, पृ० 222)

चित्र का गोल भाग (बर्गर) 'स्व' को परिलक्षित करता है जबकि चौकोर बढ़ा हुआ भाग (बर्गर पर चीज) स्व–प्रत्यय को दर्शाता है। स्व–प्रत्यय में वास्तविक स्व का कुछ भाग नकारा (अस्वीकृत क्षेत्र) जाता है और इसके साथ ही साथ कुछ ऐसे भाग का निर्माण (निर्मित क्षेत्र) भी किया जाता है जो वास्तविक स्व का भाग नहीं होता है। एक समायोजित व्यक्ति में वास्तविक स्व और स्व–प्रत्यय (चीज लगभग पूरे बर्गर को घेरे रखता है) लगभग एक समान होता है।

13.3.5 स्व–प्रत्यय के घटक (Components Self Concept) -

रेन्स और **हेफ्नर (1994)** के अनुसार, "स्व–प्रत्यय के विभिन्न घटक हो सकते हैं। इनमें से कुछ घटक सामाजिक पहचान और कुछ घटक व्यक्तिगत विशेषताओं से सम्बन्धित होते हैं।"

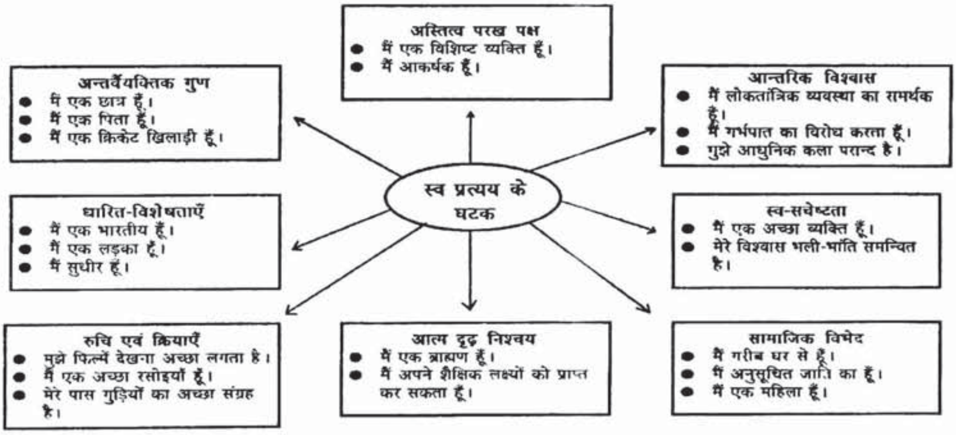

स्रोत - बैरॉन, आर0ए0 और बॉरनी, डी0 (1998) सोशल साइकोलॉजी, पेज-154, दिल्ली; प्रेन्टिस हॉल ऑफ इण्डिया

हरलॉक (1974) ने स्व–प्रत्यय के निम्नलिखित प्रकार बताये हैं –

- मूल स्व–प्रत्यय (Basic Self- Concept)
- क्षणिक स्व–प्रत्यय (Transitory Self- Concept)
- सामाजिक स्व–प्रत्यय (Social Self- Concept)
- आदर्श स्व–प्रत्यय (Ideal Self- Concept)

13.3.6 सकारात्मक और नकारात्मक स्व–प्रत्यय (Positive and Negative Self Concept) -

स्व–प्रत्यय परीक्षण पर अधिक अंक अर्जित करने वाले व्यक्ति का स्व–प्रत्यय सकारात्मक या उच्च होता है, जबकि कम अंक प्राप्त करने वाले व्यक्ति का स्व–प्रत्यय नकारात्मक या निम्न होता है। सकारात्मक स्व–प्रत्यय वाले छात्रों की अकादमिक या शैक्षिक उपलब्धि, सृजनात्मक पठन क्षमता, अपसारी चिन्तन और शैक्षिक लक्ष्य उच्च स्तर के होते है ख्रन्वर (1986), पाण्डेय (1989), जैन (1990) और राय (1990),।

13.3.7 विद्यार्थियों के सकारात्मक स्व–प्रत्यय के विकास में अध्यापक की भूमिका (Role of Teacher in Developing Positive Self Concept among Students) -

हम अध्यापकों का कर्त्तव्य है कि अपने विद्यार्थियों के सकारात्मक और स्वस्थ्य स्व–प्रत्यय के विकास में अहम भूमिका निभायें। इसके लिए सर्वप्रथम हमें अपने विद्यार्थियों को सम्मान की दृष्टि से देखना चाहिए और साथ ही साथ उनके अस्तित्व को भी स्वीकार करना चाहिए। विद्यार्थियों की स्व अभिव्यक्ति को बढ़ाने हेतु अवसर प्रदान करने चाहिए। हमें अपने विद्यार्थियों के व्यक्तित्व के अच्छे गुणों की पहचान करके उन्हें उससे अवगत करना चाहिए। हमारा यह भी प्रयास होना चाहिए कि छात्रों की अपेक्षाओं और माँग के द्वन्द को समाप्त करने में उनकी आवश्यकतानुसार मदद करें। विद्यार्थियों की छोटी–छोटी गलतियों पर उन्हें डॉटे नहीं। अगर बात–बात पर उन्हें हम यह एहसास दिलायेगें की वे यह कार्य नहीं कर सकते या वे मूर्ख है तो भविष्य में उनके वैसे होने की संभावना बढ़ जाती है। हमें चाहिए कि हम उनके अच्छे व्यवहार की तारीफ या प्रशंसा करें। कभी–कभी हमारे िद्यार्थी अपनी योग्यता से कम निम्न या अधिक उच्च लक्ष्यों का निर्धारण कर लेते है। ऐसे समय में हमें उनके

द्वारा उनकी योग्यतानुसार यथार्थ लक्ष्यों के चयन में मद्द करनी चाहिए। वंचित विद्यार्थियों के साथ भी हमारा व्यवहार एक समान होना चाहिए।

उपर्युक्त बातों का कक्षा में ध्यान रखकर छात्रों के सकारात्मक स्व प्रत्यय का विकास किया जा सकता है।

बोध प्रश्न

टिप्पणी – क : नीचे दिये गये रिक्त स्थान में अपने उत्तर लिखिये–

ख : इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों में से अपने उत्तर का मिलान कीजिये–

1. मर्फी ने सव को किस रूप में परिभाषित किया है?

....

....

2. स्व के विभिन्न पक्ष बताइए ?

....

....

3. हरलाक ने 'स्व' प्रत्यय के कितने प्रकारों का वर्णन किया है ?

....

....

13.4 आत्म–पहचान एवं उसका विकास (Self Identity And it's Development)

मानव विकास की यात्रा में बालक/छात्र द्वारा अपनी स्वयं की पहचान या अस्मिता का निर्माण भी एक प्रमुख पहलू है। हम सभी समाज में अपनी पहचान स्थापित करना चाहते है। आत्म–पहचान एक सतत् प्रक्रिया है, जैसे–जैसे समाज में हमारी भूमिकाएँ एवं उत्तरदायित्व बदलते रहते है हमारी आत्म–पहचान भी परिवर्तित होती रहती है। वैयक्तिक (आत्म) पहचान के विक़ास पर अनेक कारकों का प्रभाव पड़ता है, जैसे–संज्ञानात्मक कारक, पारिवारिक प्रभाव, विद्यालयी प्रभाव, सामाजिक–सांस्कृतिक प्रभाव आदि।

13.4.1 आत्म पहचान की अवधारणा (Concept of Self- Identity) -

आत्म–पहचान के स्थापन में हमें यह सुनिश्चित करना होता है कि हम जीवन में क्या बनना चाहते है? या मुझे क्या होना है? (Who Am I to Be\), हमारी यही भावना आत्म–पहचान के नाम से जानी जाती है। इसका अर्थ समाज में अपना विशिष्ट स्थान/पहचान बनाने से है। हमारी पहचान हमारे आत्म पर आधारित होती है। आत्म पहचान के तत्व स्व–प्रत्यय के तत्वों से भिन्न होते है क्योंकि आत्म–पहचान केवल संज्ञानात्मक प्रत्यय नहीं है बल्कि समाज से जुड़ा प्रत्यय है। उदाहरण के तौर पर एक छोटे बच्चे का कोई स्व–प्रत्यय नहीं होता है जबकि उसकी एक पहचान होती है। वह एक परिवार से सम्बन्धित होता है, कुछ दिनों के बाद उसका एक नाम भी होता है।

आत्म पहचान के तीन प्रकार्यात्मक पहलू है– प्रथम, अन्तर्वैयक्तिक पहलू है जिसमें व्यक्ति की सामाजिक भूमिका और प्रतिष्ठा निहित है जबकि द्वितीय एवं तृतीय पहलू उसकी क्षमता और मूल्य से सम्बन्धित होता है।

शैफर एवं किप (2007) के अनुसार, "आत्म–पहचान का अर्थ है कोई क्या है? जीवन में उसकी दिशा क्या है? और वह समाज में स्वंय को किस रूप में स्थापित करता हैं, से है।"

13.4.2 पहचान की संरचना (Structure of Identity) -पहचान का प्रत्यय दो धारणाओं पर आधारित है– समानता और असमानता पर। महाविद्‌यालय के छात्रों को कैम्पस का परिचय पत्र उनमें एक समानता और वही समाज के अन्य लोगों से असमानता प्रदर्शित करता है। समानता और असमानता के स्रोत जितने अधिक होगें, पहचान की समझ उतनी ही दृढ़ होगी।

पारिवारिक स्थिति, स्थायी सुरक्षित नौकरी, सन्तुलित पारिवारिक रिश्ते, स्थापित प्रतिष्ठा आदि ऐसे तत्व है जो किसी भी व्यक्ति की पहचान को सुरक्षा एवं स्थायित्व प्रदान करते है और ऐसी विशेषताओं से युक्त व्यक्तियों में पहचान सम्बन्धी समस्या कम आती है।

आधुनिक जीवन में पहचान प्रत्यय को और अधिक महत्व दिया जा रहा है। इसका एक प्रमुख कारण यह है कि व्यक्तियों से जुड़ी समानता और असमानता बहुत दिनों तक स्थायी नहीं रह रही है, उनमें समय के साथ बहुत जल्दी–जल्दी बदलाव हो रहा है। प्राचीन समय में लोगों का सम्पूर्ण जीवन एक स्थान पर रहकर, एक ही

पड़ोसी और एक ही साथियों के साथ व्यतीत हो जाता था जबकि आजकल व्यक्ति अधिक गतिशील हो गया है, इसी कारण उसका घर, परिवार, पड़ोसी, मित्र सभी बदलते रहते है।

13.4.3 पहचान संकट और उसका विकास (Identity Crisis And Indentity Formation) -

प्राचीन समय में पहचान–संकट की धारणा महत्वपूर्ण नहीं थी। भारतीय संस्कृति में भी पहचान–संकट बहुत कम दृष्टिगोचर है। पहचान–संकट आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति का एक प्रमुख लक्षण है। यह शब्द पहली बार सन् 1940 में **एरिक एरिक्सन** द्वारा प्रतिपादित किया गया। एरिक्सन के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपनी किशोरावस्था में पहचान–संकट से गुजरता या अनुभव करता है क्योंकि आगे चलकर यही युवा प्रौढ़ावस्था का आधार बनता है। एरिक्सन का सिद्धान्त **मनो–सामाजिक सिद्धान्त** कहा जाता है। इन्होंने मानव विकास को आठ–अवस्थाओं में बाँटा है। मनो–सामाजिक विकास की पाँचवी अवस्था (13–18 वर्ष) को **व्यक्ति की पहचान** बनाम **भूमिका द्वन्द** के नाम से जाना जाता है। एरिक्सन के अनुसार पहचान–संकट प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अपने माता–पिता से अलग पहचान की आवश्यकता के कारण उत्पन्न होता है और व्यक्ति द्वारा अपने जीवन से सम्बन्धित मूल निर्णयों जैसे मूल्य, लक्ष्य, जीवन–आकांक्षा आदि को लेने में समर्थ होता है। बहुत सारे व्यक्ति में पहचान–संकट अचेतन स्तर पर होता है।

जेम्स मार्सिया (1966) ने पहचान–संकट के उत्पन्न होने और उनके समाध ान के प्रयास पर आधारित चार प्रकार बताये हैं –

(i) पहचान– उपलब्धि (Identity Achievement) - ऐसा व्यक्ति जो पहचान के संकट से ग्रस्त होता है और उसका समाधान कर लेता है तो उसे पहचान–उपलब्धि अवस्था कहते है। पहचान के विकास की यह शीर्ष अवस्था है।

(ii) विलम्बन (Moratorium) -ऐसे युवा जिनमें पहचान–संकट उत्पन्न होता है परन्तु उसके समाधान हेतु वह कोई ठोस प्रयास नहीं करता है तो इसे पहचान की विलम्बन अवस्था कहा जाता है। इस वर्ग में आने वाले व्यक्ति उहापोह की मानसिकता वाले होते है।

(iii) पहचान मोचन निषेध (Identity Force Closure)- ऐसे किशोर अपनी पहचान के विभिन्न पहलुओं को अनुभव किये बिना दूसरे व्यक्तियों की पहचान से

प्रभावित होकर उसको पाने हेतु प्रयास प्रारम्भ कर देती है। जैसे–माँ–बाप, अध्यापक या रोल मॉडल जैसे बनने का प्रयास।

(iv) पहचान विसरण (Identity Diffusion) - ऐसे किशोर जो भविष्य में क्या बनना चाहते है? या आगे उनका जीवन कैसा होगा? के बारे में दिशाहीन होते है और पहचान संकट अनुभव नहीं करते वे पहचान बिखराव का अनुभव करते हैं। ऐसे लोग विभिन्न विचारों, सम्प्रत्यओं या धारणाओं के बारे में अनिश्चय की स्थिति में होते है। पहचान बिखराव का अनुभव करने वाले युवा धीरे–धीरे समाज से अलग–थलग होने लगते है और इनके गलत रास्ते पर चलने की संभावनाएँ बढ़ जाती है। यहाँ पर पहचान संकट से जुड़े दो अन्य सम्प्रत्यओं– पहचान न्यूनता एवं पहचान द्वन्द का उल्लेख आवश्यक है।

पहचान–न्यूनता और पहचान– द्वन्द (Identity& Deficit and Identity &Conflict) - हर व्यांक्त पहचान संकट अनुभव करे यह आवश्यक नहीं परन्तु हममें से बहुत लोग इसका अनुभव करते है। पहचान संकट में दो प्रकार के संकट समाहित होते है। जब कोई व्यक्ति अपने आत्म के किसी महत्वपूर्ण पहलू के प्रति भिज्ञ नहीं होता है या भिज्ञ होते हुए भी उसे स्वीकार नहीं करता है तो उसके अन्दर एक खालीपन/रिक्तता आ जाती है। इसे ही पहचान न्यूनता कहा जाता है।

कभी–कभी किसी व्यक्ति के आत्म के विभिन्न पहलुओं के बीच किसी निर्णय को लेकर मतभेद उत्पन्न हो जाता है। इसे पहचान द्वन्द कहते है।

13.4.4 पहचान के प्रकार (Types of Identity) - किसी भी व्यक्ति की पहचान व्यक्ति की आत्म–पहचान के अतिरिक्त उसकी समाज के विभिन्न घटकों में पहचान से बनती है। अतः किसी भी व्यक्ति की पहचान को निम्नलिखित प्रकारों में विभक्त किया जा सकता है –

(i) नृजातीय एवं राष्ट्रीय पहचान (Ethinic and National Identity) - किसी व्यक्ति की पहचान उसके पूर्वजों, नृजातियता और आनुवंशिकता पर भी आधारित होती है। जैसे– मैं एशियन हूँ, मैं यूरोपियन हूँ, मैं आर्य हूँ, मैं द्रविण हूँ, इत्यादि। दूसरे व्यक्तियों द्वारा आपको विशेष नृजातीय समूह में रखना ही इस प्रकार की पहचान को मजबूत बनाता है। एक नृजातीय समूह के सदस्य प्रायः आपस में संस्कृति, व्यवहार, भाषा, रीति–रिवाज एवं धार्मिक लक्षणों में समान होते हैं। इस प्रकार के पहचान की प्रक्रिया नृ–जातिय उत्पत्ति (ethnogenesis) कहलाती है।

हम में से प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी देश का नागरिक होता है और अपने देश से जुड़ी अपनी पहचान ही राष्ट्रीय पहचान कहलाती है। जैसे– मैं एक भारतीय हूँ।

(ii) सांस्कृतिक पहचान (Cultural Identity) - किसी भी व्यक्ति की सांस्कृतिक पहचान वह भावना है, जो किसी समूह और उसकी संस्कृति से जुड़े होने के कारण होती है।

(iii) धार्मिक पहचान (Religious Identity) - किसी भी व्यक्ति की धार्मिक पहचान उससे जुड़े समुदाय के विश्वास, रीति–रिवाज, इतिहास, सांस्कृतिक परम्परा, मान्यताएँ और अनुभवों का वह समुच्चय है, जिस पर वह विश्वास करता है और साथ ही साथ उसका पालन भी करता है। धार्मिक पहचान के निर्माण का प्रारम्भ परिवार में माँ–बाप द्वारा अपनाये जाने या मानने वाले धर्म से प्रारम्भ होता है, परन्तु कभी–कभी कुछ व्यक्तियों में माँ–बाप द्वारा अपाये गये धर्म से हटकर भी दूसरे धर्म से सम्बन्धन भी देखा जाता है।

(iv) लिंग पहचान (Gender Identity) - लिंग पहचान से तात्पर्य व्यक्ति का पुरुष या महिला होने के साथ ही साथ किसी विशेष सामाजिक संरचना से जुड़े कार्यों, विशेषताओं, व्यवहारों, वरियताओं, शिष्टाचार और सामाजिक मान्यताओं से है। किसी भी व्यक्ति की लिंग पहचान सामाजिक संरचना, नृजातीय समूह, रोजगार स्तर, धर्म और परिवार पर आधारित होती है। किसी भी व्यक्ति की लिंग पहचान का जैविक विभिन्नता के अतिरिक्त प्रारम्भ उसके परिवार से होता है। माता–पिता द्वारा बच्चों को यह बताना कि वह लड़का है या लड़की और उनके कार्य व व्यवहार क्या होने चाहिए? जैसे– कपड़े क्या पहनें? बाल कैसे रखें? घर के कौन–कौन से कार्य करें? आदि लिंग–पहचान को सुदृढ़ करता है।

(v) सामूहिक पहचान (Group Identity) - किसी भी व्यक्ति की सामूहिक पहचान उस व्यक्ति द्वारा किसी समूह के सदस्य के रूप में सम्बद्धता की भावना से है, जो कि इतनी सुदृढ़ होती है कि व्यक्ति अपना सम्पूर्ण जीवन उस समूह को अर्पित कर देता है।

किसी व्यक्ति द्वारा सामाजिक या समूहिक पहचान उसके समाज या समूह से सम्बद्धता या जुड़ाव के कारण उत्पन्न होती है। एक व्यक्ति अपने जीवनकाल में विभिन्न समूहों का सदस्य होता है। जैसे– परिवार, समाज, विद्‌यालय, धर्म, कार्यस्थल, मित्र मण्डली आदि। किसी भी व्यक्ति के पहचान के विकास में इन समूहों का विशेष स्थान होता है। उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि वैयक्तिक पहचान पर अनेक कारकों का प्रभाव पड़ता है। अभिभावकों, विद्यालय से जुड़े अन्य सदस्यों के साथ ही साथ शिक्षकों को भी

चाहिए कि वे बच्चों में स्वयं को समझने जीवन कौशलों को अर्जित करने तथा योग्यतानुरूप, जीवन लक्ष्यों के बारे में निर्णय लेने की क्षमता विकसित करने पर ध्यान दें। यदि विद्यालयों या किशारों में अपने स्व, सकारात्मक स्व–प्रत्यय, आत्म–पहचान की समझ आ जाये अर्थात् वे कौन है? उन्हें क्या होना है? तो उनमें आत्म पहचान के विकास को उचित दिशा मिल सकेंगी जिससे वे अपने और समाज के हित में योगदान दे सकेंगे।

बोध प्रश्न

टिप्पणी – क : नीचे दिये गये रिक्त स्थान में अपने उत्तर लिखिये–

ख : इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों में से अपने उत्तर का मिलान कीजिये–

4. आत्म–पहचान के स्थापन में हमें क्या सुनिश्चित करना होता है?

....

....

5. 'पहचान संकट' शब्द का प्रतिपादन किसके द्वारा किया गया है ?

....

....

6. व्यक्ति के पहचान के प्रकार कौन से हैं ?

....

....

13.5 मनोवैज्ञानिक कुशलता (Psychological Well- being)

क्या हमारे देश के लोग खुश है? या क्या हम लोग खुश है? इस प्रश्न के उत्तर में हम लोग जीवन में विभिन्न पहलुओं जैसे–आर्थिक, सामाजिक और स्वास्थ्य से सम्बन्धित विभिन्न आकड़ों या सांख्यिकीय को जो की केन्द्र सरकार, राज्य सरकारों, स्थानीय निकायों या गैर सरकारी संस्थानों द्वारा एकत्रित किये गये है, को गिनाते, विश्लेषित करते या मापते है। आर्थिक पहलुओं में बेरोजगारी की दर, गरीबी रेखा के नीचे रहने वाले लोगों की संख्या, औसत वार्षिक आय, रोजगार के अवसर, शेयर बाजार की स्थिति जबकि सामाजिक पहलूओं में अपराध हत्या, चोरी, बलात्कार, तलाक, एकल परिवार, एकल अभिभावक परिवार, गर्भपात, बाल यौन–शोषण, बालश्रम, आत्महत्या आदि आते है। स्वास्थ्य से सम्बन्धित मानकों में औसत आयु, गम्भीर

बीमारियों से ग्रस्त लोगों की संख्या, जन्मदर, शिशु मृत्युदर, अवसाद, मनस्ताप, चिन्ता आदि से ग्रसित लोगों की संख्या, आत्महत्या, स्वास्थ्य आदि आते हैं।

उपर्युक्त वर्णित सामाजिक एवं आर्थिक सूचकांको से मानव के जीवन की गुणवत्ता प्रदर्शित नहीं हो पाती है। हमारे आर्थिक स्थिति में पिछले कई दशको से निरन्तर सुधार हो रहा है परन्तु इसके पश्चात् भी जीवन की गुणवत्ता में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है अर्थात् हम कह सकते है कि कोई एक ऐसा तत्व है जो जीवन की गुणवत्ता के मापन में सम्मिलित नहीं है।

13.5.1 मनोवैज्ञानिक–कुशलता प्रत्यय की उत्पत्ति एवं अवधारणा (Origin and Concept of Psychological well-being) –

विभिन्न मनोवैज्ञानिकों द्वारा इस बिन्दु पर विचार करने के बाद यह तत्व 'आनन्द, सुख या जीवन सन्तुष्टि' के रूप में सामने आया। जीवन की गुणवत्ता के वस्तुनिष्ठ मानकों का व्यक्ति के जीवन की आत्म सन्तुष्टि से कम सम्बन्ध होता है।

डाइनर (1984) ने इस परिप्रेक्ष्य में आत्मिक कुशलता (SWB) सम्प्रत्यय का प्रतिपादन किया। आत्मिक कुशलता (Subjective Well-being) जीवन सन्तुष्टि और धनात्मक सवेंगात्मक अनुभवों की दर या मात्रा पर निर्भर करती है। जो व्यक्ति अपने जीवन से जितना सन्तुष्ट होगा और उसके सकारात्मक संवेगात्मक अनुभव जितने अधिक होगे वह व्यक्ति उतना ही अधिक आत्मकुशल होगा या आत्मिक कुशलता का अनुभव करेगा। आत्मिक कुशलता सुख, आनन्द और संन्तुष्टि पर आधारित होती है। इसी को हम हेडोनिक हैप्पीनेश कहते है। आत्मिक कुशलता व्यक्ति को अपने जीवन की गुणवत्ता के सम्बन्ध में स्वयं के निर्णय को प्रदर्शित करती है। आत्मिक–कुशलता के तीन प्रमुख घटक होते है–जीवन सन्तुष्टि, सकारात्मक प्रभाव और ऋणात्मक प्रभाव। क्या एक अच्छे जीवन के लिए आनन्द पर्याप्त है? अगर आप अपने जीवन में केवल खुश रहे तो क्या आप अपने जीवन से सन्तुष्ट होंगे।

कैरल रिफ (1989) अपने एक लेख– "Happiness is Everything or is it" में आत्मिक कुशलता के त्रिवियामी मॉडल पर प्रश्नचिहन लगाते हुए कहा कि यह मॉडल किसी व्यक्ति के जीवन के विभिन्न पहलुओं को जो कि कुशलता से सम्बन्धित है, कि सही व्याख्या नहीं करता है। **रिफ** के अनुसार कुशलता जीवन में आनन्द से अधिक कुछ और है। व्यक्ति का जुझारूपन, कुशलता का एक प्रमुख अंग है। उदाहरण स्वरूप समाज में ऐसे भी व्यक्ति है जिनको दूसरो को परेशान करने/चिढ़ाने में ही आनन्द आता है, उन्हे कुशल नहीं कहा जा सकता है वे खुश तो है लेकिन साथ ही साथ बीमार भी है।

विपरित परिस्थितियों में व्यक्ति का जुझारूपन सकारात्मक कार्यशैली, दृढ़ प्रतिज्ञता और मानसिक स्वास्थ्य कुशलता के प्रमुख घटक है।' प्यूडाईमोनिक हैप्पीनेश का प्रत्यय सकारात्मक और नकारात्मक आनन्द की खुशी में अन्तर करता है।"

रिफ ने इस आधार पर कुशलता का एक नया मॉडल विकसित किया। जिसे इन्होंने मनोवैज्ञानिक–कुशलता (PWB) का नाम दिया। इस मॉडल का आधार धनात्मक मनोविज्ञान और सामाजिक प्राकार्य है। इसमें (PWB) मानसिक स्वास्थ्य का धनात्मक पक्ष शामिल होता है जबकि आत्मिक–कुशलता मानसिक स्वास्थ्य के धनात्मक पक्षों को नकारता है।

डेजी और रयॉन (2008) के अनुसार, "मनोवैज्ञानिक कुशलता एक ऐसी अवधारणा है जिसमें सकारात्मक भावात्मक अवस्था जैसे– आनन्द (हेडोनिक पक्ष) और व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में (यूडाइमोनिक पक्ष) उच्चतम प्रभावशीलता के साथ कार्य करने का संयोजन है।"

हूपर्ट (2009) के अनुसार, "मनोवैज्ञानिक कुशलता अच्छी तरह से जीवन यापन से सम्बन्धित है। यह अच्छा अनुभव करने और प्रभावशीलता के साथ कार्य करने का संयोजन है।" इस परिभाषा के अनुसार उच्च मनोवैज्ञानिक कुशलता वाले व्यक्ति आनन्द का अनुभव करते है, समर्थ होते है, अच्छी तरह से समर्थित होते है और जीवन से सन्तुष्ट होते है।

13.5.2 मनोवैज्ञानिक कुशलता के घटक (Components of Psychological well-being) -

रिफ और उनके साथियों ने मनोवैज्ञानिक कुशलता को छः प्रमुख घटकों में विभाजित किया है या दूसरे शब्दों में सामाजिक कुशलता के मापन में हम इन छः घटको का अध्ययन करते है। ये छः घटक निम्न है–

i. आत्म स्वीकृति (Self Acceptance)

ii. व्यक्तिगत वृद्धि (Personnel growth)

iii. जीवन उद्देश्य (Purpose in life)

iv. पर्यावरणीय प्रभुत्व (Environmental Mastery)

v. स्वायतत्ता (Autonomy)

vi. दूसरों के साथ सकारात्मक सम्बन्ध (Positive Relation with other)

उच्च मनोवैज्ञानिक–कुशलता वाले व्यक्ति और निम्न मनोवैज्ञानिक– कुशलता वाले व्यक्ति उपर्युक्त घटकों में निम्नलिखित विशेषताएँ प्रदर्शित करते है–

(i) आत्म स्वीकृति –

उच्च अंक प्राप्तकर्त्ता –

- स्वयं के प्रति एक सकारात्मक दृष्टिकोण रखता है।
- आत्म के विभिन्न पहलुओं–अच्छे एवं बुरे गुणों को स्वीकार करता है और महत्व देता है।
- व्यतीत जीवन के बारे में सकारात्मक सोच रखता है।

निम्न अंक प्राप्तकर्त्ता –

- स्वयं से असन्तुष्ट रहता है।
- वह अपने अतीत से खुश नहीं होता है।
- कुछ व्यक्तिगत गुणों को लेकर परेशान रहता है। वह वर्तमान में जैसा है, उससे भिन्न होने की इच्छा रखता है।

(ii) व्यक्तिगत विकास –

उच्च अंक प्राप्तकर्त्ता –

- निरन्तर विकास की भावना रखता है।
- अपने आत्म का विकास और विस्तारित होते हुए देखता है।
- अपनी संभावित क्षमता को पहचानने की समझ रखता है।
- नये अनुभवों को ग्रहण करने के लिए तत्पर रहता है।
- स्वयं के साथ अपने आत्म और व्यवहार में सुधार देखता है।
- वह अपने को इस तरह परिवर्तित करता है जिसमें उसकी और अधिक आत्मज्ञान और प्रभावशीलता हो सकती है।

निम्न अंक प्राप्तकर्त्ता –

- व्यक्तिगत विकासहीनता की भावना रखता है।
- समय के साथ सुधार या विस्तार की भावना का अभाव रखता है।
- जीवन के प्रति ऊबन एवं अरुचि रखता है।

- अपने को नये दृष्टिकोण और व्यवहार के विकास में असमर्थ पाता है।

(iii) जीवन का उद्देश्य –

उच्च अंक प्राप्तकर्त्ता –

- जीवन के लक्ष्य निर्धारित होते हैं और दिशा–निर्देशन की भावना से युक्त होता है।
- अतीव और वर्तमान जीवन को महत्व देता है।
- ऐसे विश्वास या दृष्टिकोण रखता है कि जीवन को उद्देश्यपूर्ण बना दे।
- जीवन के लक्ष्य और उद्देश्य उच्च होते हैं।

निम्न अंक प्राप्तकर्त्ता –

- जीवन के लक्ष्यों का निर्धारण नहीं होता है।
- जीवन के अर्थयुक्त होने की भावना का अभाव होता है।
- जीवन के कुछ ही लक्ष्य या उद्देश्य होते हैं।
- जीवन को निर्देशित करने की भावना का अभाव होता है।
- अतीत जीवन को व्यर्थ महसूस करते हैं।
- ऐसे विश्वासों या दृष्टिकोणों का अभाव जो जीवन को अर्थयुक्त या महत्वपूर्ण बना दे।

(iv) पर्यावरणीय प्रभुत्व –

उच्च अंक प्राप्तकर्त्ता –

- पर्यावरण के प्रबन्धन हेतु आवश्यक प्रभुत्व और क्षमता होने की भावना होती है।
- जटिल वाह्य परिस्थितियों को निस्तारित कर लेता है।
- उपलब्ध अवसरों का प्रभावी उपयोग करता है।
- व्यक्तिगत मूल्यों और आवश्यकताओं के अनुसार अनुकूलित वातावरण का चयन या निर्माण करने की योग्यता रखता है।

निम्न अंक प्राप्तकर्त्ता –

- दैनिक कार्यों के प्रबन्धन में कठिनाई महसूस करता है। आस–पास के सन्दर्भित वातावरण को परिवर्तित करने में असमर्थ होता है।

- उपलब्ध अवसरों से अनभिज्ञ रहता है।
- वाह्य परिस्थितियों के ऊपर नियंत्रण की भावना का अभाव रहता है।

(अ) स्वायत्तता –

उच्च अंक प्राप्तकर्त्ता –

- दृढ़ प्रतिज्ञ और स्वतंत्र होते हैं।
- सामाजिक दबाव के अनुरूप सोचने और कार्य करने के निश्चित तरीकों के विरुद्ध संघर्ष करने की क्षमता होती है।
- अपने व्यवहार को भीतर से नियंत्रित कर लेते हैं।
- व्यक्तिगत मानकों के अनुरूप स्वयं का मूल्यांकन करने की क्षमता होती है।

निम्न अंक प्राप्तकर्त्ता –

- यह दूसरे व्यक्तियों की अपेक्षाओं और उनके मूल्यांकन से सम्बन्ध रखता है।
- प्रमुख निर्णय लेते समय, दूसरे के निर्णयों/विचारों पर निर्भर होते हैं।
- सामाजिक दबाव के अनुरूप निश्चित तरीकों से ही किसी कार्य को करता या सोचता है।

(vi) दूसरों के साथ सकारात्मक सम्बन्ध –

उच्च अंक प्राप्तकर्त्ता –

- दूसरों के साथ घनिष्ठ, विश्वसनीय और सन्तोषजनक सम्बन्ध रखता है।
- दूसरों के कल्याण के बारे में चिन्तित रहता है।
- सहानुभूति, स्नेह और अन्तरंगता प्रदर्शित करता है।
- मानवीय रिश्तों में आदान–प्रदान की समझ रखता है।

निम्न अंक प्राप्तकर्त्ता –

- कुछ लोगों के साथ विश्वसनीय और करीबी रिश्ते होते हैं।
- दूसरों के साथ गर्मजोशी, खुलापन और जुड़ाव महसूस करने में कठिनाई होती है। शीघ्रता से दोस्त बनाने में कठिनाई होती है।
- अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों में ये अलग–थलग और कुण्ठाग्रस्त होते हैं।
- दूसरों के साथ सम्बन्धों को बनाये रखने के लिए आवश्यक समझौतों के लिए इच्छुक नहीं होते हैं।

मनोवैज्ञानिक कुशलता के घटकों को अभी और अधिक परिमार्जित करने की जरूरत है। इसलिए इस क्षेत्र में अनुसंधान की अभी और आवश्यकता है। सम्पूर्ण विश्व में इस विषय को और अधिक स्पष्ट करने के लिए शोध कार्य चल रहे हैं।

13.5.3 मनोवैज्ञानिक कुशलता के विकास में अध्यापक की भूमिका (Role of Teacher in Development of Psychological well-being) -

किसी भी व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक–कुशलता उसके अपने जीवन से संतुष्टि, सकारात्मक प्रभाव, ऋणात्मक प्रभाव, आनन्द और व्यक्ति के जुझारूपन पर आश्रित होती है। व्यक्ति को जीवन से संतुष्टि तभी प्राप्त होगी, जब वह अपने निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त कर लेता है। अध्यापक का कर्त्तव्य है कि वह अपने छात्रों में वास्तविक लक्ष्यों के निर्धारण हेतु उनको अभिप्रेरित करें और उन्हें प्राप्त करने में उनकी सहायता और दिशा निर्देशन करें। स्व–नियन्त्रण या स्व–नियमन द्वारा व्यक्ति अपने निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त कर सकता है। अध्यापकों को चाहिए कि वह अपने विद्यार्थियों को स्व–नियमन की विभिन्न विधियों से परिचित करायें और उन्हें उनकी स्व–नियमन योजना बनाने के लिए प्रेरित करें। शिक्षकों को स्वयं आशावादी होना चाहिए और छात्रों में भी प्रतिकूल परिस्थितियों से जूझने की क्षमता का विकास आवश्यक है। अध्यापकों का कर्तव्य है कि वह अपने आचरण और कृत्यों द्वारा छात्रों के सामने आदर्श प्रस्तुत करें जिसमें छात्र भी उसका अनुसरण कर सकें। छात्रों में विभिन्न भूमिकाओं के उत्तरदायित्वों का वहन करने की क्षमता का भी विकास आवश्यक है।

हम अध्यापक, अगर ऐसा करने में समर्थ हुए तो निश्चित रूप से हम समाज को एक ऐसा सदस्य देंगे जो अपने साथ–साथ समाज के विकास में भी अहम् योगदान दे सकेगा।

बोध प्रश्न

टिप्पणी – क : नीचे दिये गये रिक्त स्थान में अपने उत्तर लिखिये–

ख : इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों में से अपने उत्तर का मिलान कीजिये–

7. आत्मिक कुशलता के सम्प्रत्यय का प्रतिपादन किसने किया?

....

....

8. मनोवैज्ञानिक कुशलता के प्रमुख घटक बताइए ?

....

....

9. रिफ द्वारा विकसित मनोवैज्ञानिक कुशलता मॉडल के आधार क्या है ?

....

....

13.6 अभ्यास कार्य

1. स्व क्या है और उसका विकास कैसे होता है?
2. स्व–प्रत्यय की अवधारणा क्या है और यह स्व से कैसे भिन्न है?
3. स्व के विभिन्न घटक कौने–कौने से है?
4. विद्यार्थियों के सकारात्मक स्व–प्रत्यय के निर्माण में अध्यापक की भूमिका की विवेचना करें।
5. वैयक्तिक पहचान से क्या तात्पर्य है? इस सन्दर्भ में एरिक्सन के सिद्धान्त का वर्णन कीजिए।
6. मर्सिया के आत्म–पहचान से सम्बन्धित सिद्धान्त की विवेचना कीजिए।
7. पहचान के प्रकार को संपष्ट कीजिए।
8. मनोवैज्ञानिक कुशलता की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए उसकी तुलना आत्मनिष्ठ कुशलता से कीजिए।
9. मनोवैज्ञानिक कुशलता के घटकों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
10. आप छात्रों में कुशलता के विकास के लिए किन युक्तियों/प्रविधियों का प्रयोग करेंगे? एक सूची बनायें।

13.7 सारांश

स्व की अवधारणा समाज के विभिन्न व्यक्तियों द्वारा अन्तः क्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। स्व की अवधारण स्थिर होते हुए भी लम्बी अवधि में परिवर्तित होती रहती है। एक प्रक्रिया के रूप में स्व, मैं और 'मेरा' के बीच एक वार्तालाप है। स्व के

विभिन्न पक्ष होते हैं, जैसे–स्वचेतना, आत्म–गौरव, स्व–दक्षता, आत्म–निगरानी, स्व–प्रकटन और स्व–प्रत्यय।

किसी भी व्यक्ति का स्व–प्रत्यय उसका स्वयं के बारे में ऐसी धारणा है जो उसके प्रत्यक्षीकरण, विचारों, अभिवष्तियों, अनुभवों आदि पर आधारित होती है। इसमें व्यक्ति द्वारा अधिकृत वस्तुएँ भी निहित होती है। स्व–प्रत्यय सकारात्मक और नकारात्मक दो प्रकार का होता है।

किसी भी व्यक्ति की आत्म–पहचान से तात्पर्य– कोई क्या है? जीवन में उसकी दिशा क्या है? और वह समाज में स्वयं को कैसे स्थापित करता है? से है। पहचान का प्रत्यय दो धारणाओं–समानता और असमानता पर आधारित है। पहचान के निर्माण में एरिक एरिक्सन और जेम्स मारसिया के सिद्धान्त महत्वपूर्ण है। एरिक्सन ने हमें जहाँ पहचान–संकट से वही मारसिया ने पहचान–संकट की प्रक्रिया के चार प्रकारों पहचान–उपलब्धि, विलम्बन, पहचान–मोचन निषेध और पहचान–विसरण से अवगत कराया। किसी भी व्यक्ति की पहचान को विभिन्न कारक प्रभावित करते हैं, जैसे–परिवार, विद्यालय, नृजातियता, राष्ट्र, धर्म, लिंग समाज और विभिन्न समूह आदि।

किसी भी व्यक्ति की कुशलता (Well being) उसके आत्मिक कुशलता (SWB) और मनोवैज्ञानिक कुशलता (PWB) का संगम है। मनोवैज्ञानिक कुशलता का आधार धनात्मक मनोविज्ञान और सामाजिक प्राकार्य है। मनोवैज्ञानिक कुशलता में मानसिक स्वास्थ्य के धनात्मक पक्ष आते है। रिफ और उनके साथियों ने मनोवैज्ञानिक कुशलता के छः प्रमुख घटकों में विभाजित किया है– आत्म–स्वीकृति, व्यक्तिगत वृद्धि, जीवन उद्देश्य, पर्यावरणीय प्रभुत्व, स्वायत्तता, दूसरों के साथ सकारात्मक सम्बन्ध।

विद्यार्थियों में स्व–प्रत्यय का विकास पहचान संकट की उत्पत्ति एवं उसका निराकरण के साथ–साथ मनोवैज्ञानिक कुशलता के विकास में अध्यापक की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

13.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. मर्फी ने स्व को "व्यक्ति द्वारा स्वयं को जानना" के रूप में परिभाषित किया है।
2. स्व के विभिन्न पक्ष निम्न हैं – (i) स्व–चेतना (ii) आत्म गौरव (iii) स्व–दक्षता (iv) आत्म निगरानी (v) स्व–प्रकटन ।

3. हरलॉक के अनुसार स्व–प्रत्यय के 4 प्रकार हैं – (i) मूल स्व'–प्रत्यय (ii) क्षणिक स्व–प्रत्यय (iii) सामाजिक स्व–प्रत्यय (iv) आदर्श स्व–प्रत्यय।
4. आत्म पहचान के स्थापन में हमें सुनिश्चित करना होता है कि हम जीवन में क्या बनना चाहते हैं? या मुझे क्या होना है?
5. पहचान संकट 'शब्द का प्रतिपादन एरिक एरिक्सन द्वारा किया गया है।
6. नृजातीय एवं राष्ट्रीय पहचान (i) सांस्कृतिक पहचान (ii) धार्मिक पहचान (iii) लिंग पहचान (iv) सामूहिक पहचान
7. आत्मिक कुशलता के सम्प्रत्यय का प्रतिपादन डाइनर (1984) ने किया ।
8. मनोवैज्ञानिक कुशलता के प्रमुख घटक निम्नलिखित हैं –

   (i) आत्म स्वीकृति (ii) व्ययक्तिगत वृद्धि (iii) जीवन उद्‌देश्य (iv) पर्यावरणीय प्रभुत्व (v) स्वायत्तता (vi) दूसरों के साथ सकारात्मक सम्बन्ध
9. रिफ द्वारा विकसित मनोवैज्ञानिक कुशलता मॉडल के आधार धनात्मक मनोविज्ञान एवं सामाजिक प्राकार्य हैं।

13.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. गुप्ता, एस0 पी0 (2015) उच्चतर शिक्षा मनोविज्ञान, इलाहाबाद : शारदा पुस्तक भवन।
2. सिंह, अरुण कुमार (2004), उच्चतर मनोविज्ञान, पटना : बनारसी दास अग्रवाल पब्लिकेशन्स ।
3. मंगल, एस0 के0 (2002), एडवान्स्ड एजुकेशनल साइकोलाजी, दिल्ली : एच0 पी0 पब्लिकेशन्स ।
4. Wollfolk, Anita (2005), Educational Psychology, New Delhi : Pearson Education (Singapur) Pvt. Ltd.
5. Baron, Robert, A and Byrne D. (1998). Social Psychology, New Delhi : Prentice Hall of India Pvt. Ltd.

इकाई–14 प्रौढ़ावस्था का संक्रमणकाल– भूमिका एवं उत्तरदायित्व

(Transition into Adulthood- Roles and Responsibilities)

संरचना :

14.1 प्रस्तावना

14.2 उद्देश्य

14.3 प्रौढ़ावस्था का अर्थ एवं अवस्थायें

14.4 प्रौढ़ावस्था का संक्रमणकाल (Transition into Adulthood)

14.4.1 प्रौढ़ावस्था के संक्रमणकाल की विशेषताएँ

14.4.2 प्रौढ़ावस्था का संक्रमणकाल – भूमिका और उत्तरदायित्व

14.4.3 प्रौढ़ावस्था का संक्रमणकाल – समस्याएँ

14.4.3.1 व्यावसायिक समस्याएँ

14.4.3.2 वैवाहिक और पारिवारिक समस्याएँ

14.5 अभ्यास–कार्य

14.6 सारांश

14.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

14.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

14.1 प्रस्तावना

प्रकृति में परिस्थितियों का निर्माण होता है और प्रकृति ही समायोजन के प्रति तैयार करती है, यदि ऐसा नहीं होता तो शायद इसके यथार्थ अस्तित्व पर अवश्य ही खतरा मड़रा रहा होता। विकास के विभिन्न चरणों/अवस्थाओं में, बालक भिन्न–भिन्न व्यवहार प्रदर्शन करता है और समायोजन करने का भी प्रयास करता है। प्रौढ़ावस्था के संक्रमणकाल में व्यक्ति का शारीरिक विकास लगभग पूर्ण हो चुका होता है और वह परिपक्वता के पूर्णता की ओर अग्रसर होता है और शीघ्र ही पूर्ण विकसित अवस्था को प्राप्त होता है।

मानव विकास के प्रत्येक अवस्था में व्यक्ति को कुछ निश्चित संकृत्य/कार्यों को सीखना पड़ता है। इन्हें विकासात्मक संकृत्य कहा जाता है। प्रौढ़ावस्था के

संक्रमणकाल में भी व्यक्ति को स्वयं और समाज से समायोजन के साथ ही साथ उसे सामाजिक स्थापन हेतु अनेक नवीन कार्यों को सीखना पड़ता है। इन्हीं नवीन कार्यों को हम उनकी भूमिका और उत्तरदायित्व कहते हैं।

इस अध्याय में हम लोग प्रौढ़ावस्था के संक्रमणकाल में व्यक्तियों की भूमिका और उनके उत्तरदायित्व के साथ ही साथ व्यावसायिक, वैवाहिक और पारिवारिक समायोजन और उसमें आने वाली कठिनाईयों का भी अध्ययन करेंगे।

14.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप इस योग्य हो जायेंगें कि–

1. प्रौढ़ावस्था का अर्थ और उसकी विभिन्न अवस्थाओं को बता सकेंगें।
2. प्रौढ़ावस्था के संक्रमणकाल की विभिन्न विशेषताओं की विवेचना कर सकेंगे।
3. प्रौढ़ावस्था के संक्रमणकाल में व्यक्ति की भूमिका एवं उनके उत्तरदायित्वों का वर्णन कर सकेगें।
4. इस काल में व्यक्तियों की व्यावसायिक, वैवाहिक और पारिवारिक समायोजन और उनमें आने वाली कठिनाईयों की पहचान तथा उसका उल्लेख कर सकेंगें।

14.3 प्रौढ़ावस्था का अर्थ एवं अवस्थाएँ (Meaning of Adulthood and its Stages)

मानव विकास की विभिन्न अवस्थाओं में प्रौढ़ावस्था, किशोरावस्था के पश्चात् आती है। प्रौढ़ावस्था में व्यक्ति का शारीरिक विकास पूर्ण हो चुका होता है परन्तु शारीरिक रूप से पूर्ण विकसित व्यक्ति को ही प्रौढ़ कहना उचित नहीं होगा बल्कि इसके लिए सवेंगात्मक परिपक्वता जरूरी है।

हरलॉक के अनुसार, "प्रौढ़ वह व्यक्ति है जिसने वृद्धि की प्रक्रिया को पूर्ण कर लिया है तथा समाज में अन्य प्रौढ़ों के साथ अपनी भूमिका को ग्रहण करने के लिए तैयार रहता है।"

प्रौढ़ व्यक्ति से समाज अपेक्षाएँ रखता है और प्रौढ़ उन्हें पूरे करने का प्रयास भी करता है अर्थात् हम कह सकते है कि वह समाज में अपनी भूमिका निर्वाह के लिए तैयार है।

प्रौढ़ावस्था लगभग 20 वर्ष की आयु से प्रारम्भ होकर 65 वर्ष से अधिक की आयु तक होती है। यह लम्बी और अत्यन्त महत्वपूर्ण अवस्था है। इस अवस्था के विभिन्न चरणों में व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक, सांवेगिक, सामाजिक प्रत्याशा भूमिका भिन्न–भिन्न होती है। इसी आधार पर इस अवस्था की तीन प्रमुख भागों में बाँटा गया है–

- युवा प्रौढ़ावस्था (18–40 वर्ष)
- परिपक्व प्रौढ़ावस्था (40–65 वर्ष)
- वृद्ध प्रौढ़ावस्था अथवा वृद्धावस्था (65 वर्ष से अधिक)

14.4 प्रौढ़ावस्था का संक्रमणकाल (Transition into Adulthood)

व्यक्तियों में किशोरावस्था कब तक चलती है? और यह कब एक स्थिति पर आकर पूरी हो जाती है? इसकी कोई निश्चित उम्र नहीं है। विभिन्न मनोवैज्ञानिकों के अनुसार किशोरावस्था लगभग 18 वर्ष तक पूर्ण हो जाती है, वहीं युवा प्रौढ़ावस्था लगभग 20 वर्ष से लेकर या दूसरे शब्दों में मानव विकास में एक निश्चित परिपक्वता ग्रहण करने से प्रारम्भ होती है। युवा प्रौढ़ावस्था का प्रारम्भ अचानक नहीं हो जाता है। किशोरावस्था के समापन (लगभग 18 वर्ष) और युवा प्रौढ़ावस्था के प्रारम्भ (लगभग 20 वर्ष) के बीच का समय (लगभग 18–20 वर्ष) संक्रमणकाल होता है और इसे प्रौढ़ावस्था का संक्रमणकाल कहा जाता है।

इस अवस्था को **जेफ्रे अर्नेट (2000)** महोदय ने उदीयमान प्रौढ़ावस्था (Emergying Adulthood) का नाम दिया। अधिकांश मनोवैज्ञानिक प्रौढ़ावस्था के संक्रमणकाल को युवा प्रौढ़ावस्था के प्रारम्भिक अवधि तक इसका विस्तार करते है या युवा प्रौढ़ावस्था को भी इसमें सम्मिलित करते हैं। वर्तमान समय में एक युवा के लिए प्रौढ़ावस्था तक की यात्रा एक लम्बी यात्रा है। वह 18 वर्ष की अवस्था में घर छोड़ देता है, अविवाहित रहता है और अपने व्यावसायिक और वैवाहिक जीवन के प्रति सजग रहता है। यह अवस्था बड़े सपनों और आशाओं की अवस्था है साथ ही साथ चिन्ता और अनिश्चितता की अवस्था भी है। आगे हम इस काल की अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषताओं के बारे में चर्चा करेंगे।

14.4.1 प्रौढ़ावस्था के संक्रमणकाल की विशेषताएँ: (Characteristics of Transition into Adulthood)

प्रौढ़ावस्था के संक्रमणकाल की प्रमुख विशेषताएं निम्न है–

- **पहचान की खोज** – पहचान की खोज इस अवस्था की सबसे प्रमुख विशेषता है। यह ऐसा समय है जब युवा अपने जीवन के विभिन्न क्षेत्रों मुख्य रूप से कार्य और प्यार की विभिन्न संभावनाओं की खोज करता है। इस प्रक्रिया में वह अपनी पहचान, वह क्या है? और वह अपने जीवन से क्या चाहता है? के बारे में और अधिक स्पष्ट हो जाता है। यह अवस्था स्व को जानने का सबसे अच्छा अवसर प्रदान करती है। इस अवस्था के उत्तरार्द्ध में व्यक्ति लिंग, प्रभाव, योग्यता और सामाजिक परिदृष्य के अनुसार अपनी स्वयं की पहचान स्थापित करने का प्रयास करता है।

- **अस्थायित्व** – यह अवस्था अस्थायी अवस्था है, क्योंकि इस अवस्था के युवा संभावनाओं और अवसरों की तलाश में रहते हैं, उनके सम्मुख अनेक विकल्प होते हैं। वे स्वयं को परिवार और समाज से स्वतन्त्र महसूस करते हैं। उनके ऊपर कोई पारिवारिक जिम्मेदारी (अविवाहित) नहीं होती है। इस दौरान व्यवसाय परिवर्तन के आसार बहुत अधिक होते हैं, क्योंकि उनकी कार्य–सन्तुष्टि एवं अपेक्षाएँ बहुत अधिक होती है। इस अवस्था के युवाओं में सामाजिक गतिशीलता भी अधिक होती है।

- **आत्मकेन्द्रित** – मानव विकास की अवस्थाओं में से यही वह अवस्था है जिसमें व्यक्ति सबसे अधिक आत्मकेन्द्रित रहता है। बच्चे और किशोर भी आत्मकेन्द्रित होते हैं, परन्तु उनकी अभिभावक, बड़े भाई–बहनों के प्रति भी जवाबदेही होती है। उन्हें घर के नियमों को मानना पड़ता है, प्रौढ़ों की अभिभावकों के साथ–साथ पत्नी के प्रति भी जवाबदेही होती है। इस अवस्था के युवा अधिकांशतः घर से बाहर रहने के कारण एवं अविवाहित होने के कारण अधिक आत्मकेन्द्रित होते हैं। वे अपने व्यावसायिक चयन के कारण परिवार से दूर रहते हैं।

- **संक्रमण की भावना** – इस अवस्था के युवा न तो अपने को किशोर समझ पाते हैं और न ही प्रौढ़। वे संक्रमण की भावना से ग्रसित होते हैं। यही कारण है कि यह अवस्था अस्थायित्व की अवस्था है।

- **पुनरुत्पादक अवस्था** – इस काल की यह एक विशिष्ट विशेषता है। भारत में पुरुष एवं महिला के विवाह की न्यूनतम आयु 21 एवं 18 वर्ष है। यहाँ के कुछ युवा इस अवधि में विवाहित हो जाते हैं। अपने परिवार की वृद्धि और माँ–बाप की भूमिका का निर्वहन करते हैं। इस वर्ग के अधिकांश लोग जो विवाह नहीं

करते हैं और वे अध्ययन या वृत्ति को आगे बढ़ाने में व्यस्त रहते हैं तो उन्हें भी परिवार के अन्य प्रौढ़ों के बच्चों के साथ संरक्षण की भूमिका निभानी पड़ती है।

- **सामाजिक पृथक्करण** – इस अवस्था के अधिकांश युवक अध्ययन हेतु घर से बाहर जाते हैं, जिसके कारण उनका अपने पुराने सहपाठियों या अन्य मित्रों का साथ छूट जाता है। माँ–बाप से भी वे दूर हो जाते हैं और एक नये वातावरण में अपने आपको अकेला पाते हैं। इस प्रक्रिया को सामाजिक पृथक्करण कहते हैं।

- **सृजनात्मक अवस्था** – इस अवस्था के युवक की योग्यताएँ, क्षमताएँ, शारीरिक और संज्ञानात्मक विकास पूर्ण हो चुका होता है। ऐसा युवा माता–पिता और शिक्षक के प्रभाव एवं दबाव से भी मुक्त हो चुका होता है। अतः वह अपनी क्षमताओं और योग्यताओं का प्रयोग नवीन एवं सृजनात्मक कार्यों की तरफ केन्द्रित करने लगता है।

- इस अवस्था के अन्तिम वर्षों में व्यक्ति सामाजिक मानदण्डों के अनुसार खुद को स्थापित करने का प्रयास प्रारम्भ कर देता है।

- इस अवस्था के युवा ऐसे कौशल प्रशिक्षण कार्यों में स्वयं को प्रशिक्षित करना चाहते हैं, जिनका उपयोग वे भविष्य में अपनी उत्तरदायित्वों के निर्वहन में कर सकें।

- इस अवस्था के युवा आकर्षक वस्तुओं के प्रति अधिक लगाव रखते हैं व्यक्तिगत श्रृंगार में भी उनकी रुचि होती है। वह आकर्षक दिखने हेतु प्रयासरत रहते हैं और अच्छे वस्त्र, जूते, मोबाइल आदि को स्टेट्स सिम्बल मानते हैं।

14.4.2 प्रौढ़ावस्था का संक्रमणकाल – भूमिका एवं उत्तरदायित्व (Transition into Adulthood- Roles and Responsibilities) -

मानव की विकास यात्रा के विभिन्न अवस्थाओं में व्यक्ति का व्यवहार परिवर्तित होता रहता है। विभिन्न अवस्थाओं की विभिन्न परिस्थितियों में व्यक्ति को अपने को समायोजित करने हेतु विभिन्न संकृत्य या कार्य सीखने पड़ते है। इन्हें विकासात्मक संकृत्य कहा जाता है। प्रौढ़ावस्था संक्रमणकाल में भी व्यक्ति को अनेक प्रकार के नवीन कार्य सीखने पड़ते है अर्थात उन्हें कुछ नवीन भूमिकाओं एवं उत्तरदायित्वों का

निर्वहन करना पड़ता है। भूमिका एवं उत्तरदायित्व में केवल पद एवं क्रिया के आशय से अन्तर किया जा सकता है।

भारतीय परिप्रेक्ष्य में प्रौढ़ावस्था के संक्रमणकाल (लगभग 18–20 वर्ष) से सम्बन्धित भूमिका एवं उत्तरदायित्व, पश्चिमी सभ्यता के भूमिका एवं उत्तरदायित्वों से कुछ भिन्न है। भारतीयों की प्रमुख विशेषता 'भिन्नता में एकता' है। इस देश में बहुत से धर्मों, सम्प्रदायों, रीति–रिवाजों, संस्कृतियों, नृ–जातियों, भाषाओं, भौगोलिक परिस्थितियों, वर्गों, जातियों, समुदायों, सामाजिक–आर्थिक स्तरों, मूल्यों इत्यादि का प्रभाव उनके विकास पर भी पड़ता है। इसलिए प्रौढ़ावस्था के संक्रमणवस्था से सम्बधित भूमिका एवं उत्तरदायित्वों में भी विभिन्नता पाई जाती है इस अवधि में व्यक्ति की मुख्य भूमिकायें एवं उत्तरदायित्व निम्न है –

(i) परिवार के आय में योगदान – इस अवधि में व्यक्ति को धनार्जन की बराबर चिन्ता बनी रहती है। वह समाज के अन्य सदस्यों की तरह धनार्जन करके समाज में पद, प्रतिष्ठा, स्वीकार्यता एवं सार्थकता स्थापित करना चाहता है। इस दौरान व्यक्ति अल्प मात्रा में ही परिवार की आय में योगदान और साथ ही साथ अपने व्यक्तिगत खर्च को भी उठाने का प्रयास करता है।

(ii) जीवन साथी का चुनाव – इस अवधि में अधिकांश लोग जीवन साथी का चुनाव करके उनके साथ अधिक से अधिक वक्त व्यतीत करना चाहते है। वे एक दूसरे का विश्वास जीतने एवं आपसी समझ विकसित करने का प्रयास करते है।

(iii) पितृत्व – इसं अवधि की एक महत्वपूर्ण भूमिका पिता/माँ बनने की है। विवाह उपरान्त शिशु का जन्म और उसकी यथोचित देखभाल युवा प्रौढ़ों का सर्वाधिक महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व बन जाता है। माँ और पिता के अतिरिक्त घर के अन्य सदस्यों के समक्ष भी नये उत्तरदायित्व आ जाते हैं।

(iv) मित्रता – इस काल में व्यक्ति किशोरावस्था की तरह से लोकप्रियता को नहीं अपितु व्यवसाय, अध्ययन, घर–परिवार आदि पर अधिक केन्द्रित हो जाता है। उसके मित्रों की संख्या कम हो जाती है परन्तु घनिष्ठता बढ़ जाती है। मित्रों के चयन में रुचि, व्यवसाय और निवास की भूमिका अधिक होती है। वे अपने दोस्तों से अपनी बातें साझा करते है।

(v) सामाजिक एवं धार्मिक संगठनों में सहभागिता – इस अवधि के सदस्य सामाजिक/धार्मिक संगठनों जैसे– चुनावी दलों, संघ विशेष, धर्म प्रचार–प्रसार सभाओं,

सामाजिक उत्थान, स्वच्छता अभियानों, जल संरक्षण कार्यक्रमों में सहभागिता कर समाज के विकास में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं अर्थात् नये प्रतिमानों, सामाजिक मानदण्डों, मूल्यों इत्यादि की स्थापना करते हैं।

(vi) मनबहलाव / मनोरंजन – मनोविनोद, शौक (Hobbies) और मनबहलाव, मनोरंजन के ही रूप हैं। जहाँ शौक में व्यक्ति की सक्रिय भागीदारी होती है, वहीं मनोरंजन में व्यक्ति निष्क्रिय रूप से परिस्थितियों या क्रियाकलापों का आनन्द उठाता है। प्रत्येक अवस्था में व्यक्ति इसे व्यवहार में लाता है, परन्तु प्रौढ़ावस्था के संक्रमणकाल एवं युवा प्रौढ़ावस्था में इसकी लोकप्रियता काफी बढ़ जाती है। आज के युवा फिल्म देखने, सोशल–साइट, कम्प्यूटर, इण्टरनेट, वीडियोगेम के माध्यम से आनन्द का अनुभव करते हैं। मनबहलाव के प्रमुख श्रोतों में पढ़ना, संगीत, फिल्म, रेडियो, टेलीविजन, खेल इत्यादि हैं। इस अवधि में व्यक्तियों की खेलों में सक्रिय भागीदारी धीरे–धीरे घटती है, जबकि निष्क्रिय भागीदारी में वृद्धि होती है।

14.4.3 प्रौढ़ावस्था का संक्रमणकाल–समस्याएँ (Transition into Adulthood - Problems) -

प्रौढ़ावस्था के संक्रमणकाल जिसका विस्तार युवा प्रौढ़ावस्था के प्रारम्भिक वर्षों तक माना गया है, में विभिन्न प्रकार के विकासात्मक संकृत्यों / कार्यों को निष्पादित करना होता है जैसे– व्यावसायिक, वैवाहिक, पितृत्व आदि। इस अवस्था में युवाओं को जीवन–यापन के लिए व्यवसाय स्थापन, विवाह, सन्तानोत्पत्ति, बच्चों की देखभाल तथा वैवाहिक और पारिवारिक सम्बन्धों का निर्वहन करना पड़ता है। यदि इन कार्यों का चुनाव एवं निष्पादन इनकी योग्यता, अपेक्षा, रुचि, कौशल आदि के अनुरूप हुआ तो वह सुखद जीवन का प्रमुख कारण बनता है। इसके विपरीत यदि परिस्थितियाँ अनुकूल नहीं रही तो वे विभिन्न प्रकार की समस्याओं से ग्रसित हो जाते है। आगे हम व्यावसायिक, वैवाहिक और पारिवारिक समायोजन समस्याओं के ऐसे ही कुछ पक्षों पर विचार करेंगे।

14.4.3.1 व्यावसायिक समस्याएँ (Vocational Problems) -

वर्तमान समाज में बड़ी तीव्र गति से परिवर्तन हो रहा है। आज का युग संचार या तकनीकी का युग है। नये–नये व्यावसायिक क्षेत्र उभर कर सामने आ रहे हैं। कार्य बल का ढाँचा बदल चुका है। पुरुषों के साथ ही साथ बहुत सारी महिलायें भी व्यवसाय से जुड़ी हुई हैं। महिलाओं को दोहरी भूमिका निभानी पड़ रही है अर्थात् उन्हें कार्य और परिवार के बीच सामंजस्य स्थापित करना पड़ रहा है। सुखद पारिवारिक

जीवन व्यतीत करने के लिए व्यावसायिक समायोजन स्थापित करना आवश्यक है, परन्तु बहुत से ऐसे कारण हैं, जिससे समायोजन करने में कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है –

i. कार्य के अनुरूप योग्यता का न होना।

ii. रुचि के अनुरूप कार्य का न होना।

iii. व्यवसाय की प्रकृति/प्रकारों में लगातार परिवर्तन।

iv. अनुभव की कमी।

v. लगातार परिवर्तित हो रहे व्यवसाय/कार्य योग्य स्वयं को बनाने में समय और धन का अभाव।

vi. कार्य अवधि (रात्रि सेवा) से समायोजन में कठिनाई।

vii. व्यवसाय से जुड़े अन्य लोगों, जैसे– अधिकारी, सहकर्मी, सहायक कर्मचारी से सम्बन्ध स्थापित करने में कठिनाई।

viii. उच्च स्तर के व्यवसाय की प्रबल इच्छा।

ix. कार्यस्थल की निवास से अधिक दूरी।

x. अपेक्षित कार्य संस्कृति का अभाव।

xi. व्यवसाय के कारण पति और पत्नी का अलग–अलग रहना।

xii. एकल अभिभावकत्व।

xiii. लैंगिक भेदभाव।

xiv. कार्य–परिवार सन्तुलन।

xv. एकल परिवार आदि।

14.4.3.2 वैवाहिक और पारिवारिक समायोजन (Marriage and Family Problems) -

इस अवधि में व्यक्ति जीवनसाथी की भी तलाश करता है। प्रत्येक समाज में विवाह की परम्परा है। भारतीय समाज में जीवनसाथी का चुनाव माँ–बाप या परिवार के अन्य सदस्यों द्वारा किया जाता है। बदलते परिवेश में युवा अपनी पसन्द से जीवनसाथी का चुनाव भी कर रहे हैं। इस अवधि में कुछ युवा और युवती ऐसे भी हैं, जिन्हें परिवार में चल रही शादी के बारे में चर्चा से डर लगता है। उन्हें लगता है कि इससे उनकी जिन्दगी की स्वतन्त्रता में बाधा उत्पन्न होगी और वे सीमाओं में बँध जायेगें। विवाह की

जिम्मेदारियाँ वे कैसे उठा पायेंगे? ऐसे युवा जिनका कॅरियर अभी स्थापित नहीं हुआ है, वे शादी की जिम्मेदारियों को लेकर और अधिक चिन्तित और भयभीत हो जाते हैं।

ऐसे युवा जिनका विवाह हो जाता है, वे अपने जीवन के नये क्षेत्र में प्रवेश करते हैं। उन्हें अब नये जीवनसाथी उसके परिवार और समाज द्वारा उत्पन्न नयी अपेक्षाओं से समायोजन स्थापित करना होता है। नव विवाहित युवतियों को जो बिल्कुल एक नये परिवार और वातावरण में प्रवेश करती है, उन्हें उस परिवार के विभिन्न सदस्यों, रीति–रिवाजों, खान–पान, बात–व्यवहार, मूल्यों आदि से समायोजन स्थापित करना पड़ता है।

सुखद वैवाहिक जीवन के लिए आवश्यक है कि नव दम्पत्ति इन परिस्थितियों से समायोजन स्थापित करे, परन्तु बहुत से ऐसे कारक हैं, जो समायोजन स्थापित करने में कठिनाई उत्पन्न करते हैं। इनका बिन्दुवार विवरण निम्न है –

- नवदम्पत्ति की पारिवारिक पृष्ठभूमि का परस्पर समान न होना।
- युवाओं और युवतियों द्वारा मन में एक आदर्श पति/पत्नी की छवि बनाना।
- कॅरियर में स्थायित्व की कमी।
- नव दम्पत्ति की रुचियों में असमानता।
- बदलते परिवेश में बदलती भूमिका प्रत्याशा – पत्नी द्वारा घरेलू कार्यों में पति के सहयोग की अपेक्षा और पति द्वारा बाहरी कार्यों जैसे– बच्चों को स्कूल छोड़ना या ले आना, बाजार जाना आदि की पत्नी से अपेक्षा।
- नव–दम्पत्ति में आपसी विश्वास की कमी।
- असन्तुष्ट शारीरिक सम्बन्ध।
- पति–पत्नी के रिश्ते में पारिवारिक हस्तक्षेप।

विवाहोपरान्त बच्चे का जन्म और उसकी देखभाल युवा प्रौढ़ों का सर्वाधिक महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व है। इसमें माँ–बाप को जहाँ एक तरफ खुशी और नया अनुभव प्राप्त होता है, वहीं दूसरी तरफ उन्हें विभिन्न कठिनाईयों का सामना भी करना पड़ता है। बच्चे की जिम्मेदारी के साथ–साथ अन्य कार्यों, जैसे– गृह–कार्य, जॉब, घर के अन्य सदस्यों के प्रति कर्त्तव्य आदि में नये सिरे से सामंजस्य स्थापित करना पड़ता है।

नवदम्पत्तियों द्वारा उपर्युक्त समस्याओं से अगर उचित समायोजन स्थापित नहीं किया गया तो दम्पत्ति के सम्बन्धों में तनाव उत्पन्न हो जाता है। कभी–कभी

वैवाहिक सम्बन्ध इतने खराब हो जाते हैं कि उन्हें संभालना कठिन हो जाता है और इसकी परिणति विवाह–विच्छेद के रूप में देखने को मिलती है। विवाह–विच्छेद दोनों ही पक्षों के लिए अत्यन्त कष्टकारी स्थिति है। विवाह– विच्छेद के उपरान्त समायोजन की नयी समस्यायें उत्पन्न हो जाती है।

बोध प्रश्न

टिप्पणी – क : नीचे दिये गये रिक्त स्थान में अपने उत्तर लिखिये–

ख : इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों में से अपने उत्तर का मिलान कीजिये–

1. युवा प्रौढ़ावस्था का समयकाल क्या है?

....

....

2. संक्रमणकाल की अवस्था किसे कहा जाता है?

....

....

3. प्रौढ़ावस्था के संक्रमणकाल की प्रमुख विशेषताएँ बताइये।

....

....

4. प्रौढ़ावस्था में व्यक्ति की प्रमुख भूमिकाएं बताइये ?

....

....

14.5 अभ्यास प्रश्न

i. प्रौढ़ावस्था से आप क्या समझते हैं? इसके प्रमुख भाग कौन–कौन से हैं?

ii. प्रौढ़ावस्था के संक्रमणकाल का क्या अर्थ है? इस काल की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

iii. प्रौढ़ावस्था के संक्रमणकाल में व्यक्ति की प्रमुख भूमिकाओं और उत्तरदायित्वों की विवेचना कीजिए।

iv. प्रौढ़ावस्था के संक्रमणकाल में व्यावसायिक समायोजन में आने वाली विभिन्न कठिनाईयों की एक सूची बनाइये।

v. प्रौढ़ावस्था के संक्रमणकाल में वैवाहिक और सामाजिक समायोजन से आप क्या समझते हैं? सुखी वैवाहिक जीवन व्यतीत करने हेतु हमें किन–किन बातों को ध्यान देना चाहिए?

vi. निम्नलिखित प्रत्ययों से आपका क्या आशय है –

अ– आत्मकेन्द्रित

ब– सामाजिक–पृथक्करण

स– विकासात्मक संकृत्य

द– कार्यबल

य– भूमिका प्रत्याशा।

14.6 सारांश

प्रौढ़ावस्था में संक्रमणकाल, व्यक्ति की स्वयं की पहचान और सामाजिक पहचान के इर्द–गिर्द घूमती है। प्रौढ़ावस्था लगभग 20 वर्ष की आयु से प्रारम्भ होकर 65 वर्ष से अधिक की आयु तक होती है। इस अवस्था को तीन प्रमुख अवस्थाओं– युवा प्रौढ़ावस्था, परिपक्व प्रौढ़ावस्था और वष्द्धा प्रौढ़ावस्था के नाम से जाना जाता है। किशोरावस्था के समापन (18 वर्ष) और युवावस्था के प्रारम्भ (लगभग 20 वर्ष) या प्रारम्भिक युवा प्रौढ़ावस्था का समय प्रौढ़ावस्था का संक्रमणकाल कहलाता है। यह अवस्था बड़े सपनों और आशाओं की अवस्था है और साथ ही साथ चिन्ता और अनिश्चितता की अवस्था है। इस अवस्था की प्रमुख विशेषताओं में पहचान की खोज, अस्थायित्व, आत्मकेन्द्रित, संक्रमण की भावना, पुनरुत्पादकता, सामाजिक पृथक्करण और सृजनात्मकता प्रमुख हैं।

इस अवस्था में भी व्यक्ति को अपने को पर्यावरण से समायोजित करने हेतु विभिन्न संकृत्य सीखने पड़ते हैं। इन्हें विकासात्मक संकृत्य कहा जाता है अर्थात् कुछ नवीन भूमिकाओं एवं उत्तरदायित्वों का निर्वहन करना पड़ता है। इस अवधि की मुख्य भूमिका एवं उत्तरदायित्वों में परिवार की आय में योगदान, जीवनसाथी का चुनाव, पितृत्व, सामाजिक एवं धार्मिक संगठनों में सहभागिता एवं मनोरंजन प्रमुख है। इन कार्यों के निर्वहन में व्यक्ति को विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों से समायोजन करना

पड़ता है। इन परिस्थितियों में व्यावसायिक, वैवाहिक और सामाजिक परिस्थितियों से समायोजन प्रमुख है।

14.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. युवा प्रौढ़ावस्था का समयकाल 18 से 40 वर्ष है।
2. किशोरावस्था के समापन एवं प्रौढ़ावस्था के प्रारम्भ के बीच का समय (18–20 वर्ष) को संक्रमण काल कहा जाता है।
3. प्रौढ़ावस्था के संक्रमणकाल की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं – (i) पहचान की खोज (ii) अस्थायित्व (iii) आत्मकेन्द्रित (iv) संक्रमण की भावना (v) पुनरुत्पादक अवस्था (vi) सामाजिक पृथक्करण (vii) सृजनात्मक अवस्था
4. प्रौढ़ावस्था में व्यक्ति की प्रमुख भूमिकाएं निम्नलिखित है –
   - (i) परिवार के आय में योगदान
   - (ii) जीवन साथी का चुनाव
   - (iii) पितृत्व
   - (iv) मित्रता
   - (v) सामाजिक एवं धार्मिक संगठनों में सहभागिता
   - (vi) मनोरंजन

14.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. गुप्ता, एस0 पी0 (2015) उच्चतर शिक्षा मनोविज्ञान, इलाहाबाद : शारदा पुस्तक भवन।
2. सिंह, अरुण कुमार (2004), उच्चतर मनोविज्ञान, पटना : बनारसी दास अग्रवाल पब्लिकेशन्स ।
3. मंगल, एस0 के0 (2002), एडवान्स्ड एजुकेशनल साइकोलाजी, दिल्ली : एच0 पी0 पब्लिकेशन्स ।
4. Wollfolk, Anita (2005), Educational Psychology, New Delhi : Pearson Education (Singapur) Pvt. Ltd.
5. Baron, Robert, A and Byrne D. (1998). Social Psychology, New Delhi : Prentice Hall of India Pvt. Ltd.

इकाई–15 जीवन कौशल और वृत्ति चयन (Life Skills and Career Choice)

संरचना -

15.1 प्रस्तावना

15.2 उद्देश्य

15.3 जीवन कौशल

15.3.1 अवधारणा एवं परिभाषा

15.3.2 जीवन कौशल के क्षेत्र

15.3.3 युवा और जीवन कौशल

15.3.4 युवा के लिए आवश्यक जीवन कौशल

15.3.5 युवाओं में जीवन कौशल विकास

15.3.5.1 फोर. एच. उपागम

15.3.5.2 जीवन कौशल शिक्षा

15.4 वृत्ति चयन

15.4.1 वृत्ति चयन को प्रभावित करने वाले कारक

15.4.2 युवाओं की उपयुक्त वृत्ति चयन सम्बन्धी कठिनाईयाँ

15.4.3 उचित वृत्ति चयन कैसे करें?

15.4.4 वृत्ति नियोजन में शिक्षक की भूमिका

15.4.5 युवा प्रौढ़ साझेदारी

15.5 अभ्यास कार्य

15.6 सारांश

15.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

15.8 अध्ययन हेतु सहायक पुस्तकें

15.1 प्रस्तावना

मानव के वृद्धि एवं विकास में उसका वृत्तिक विकास भी महत्वपूर्ण है। प्रौढावस्था के संक्रमणकाल या युवा प्रौढ़ावस्था में व्यक्ति के सामने वृत्ति चयन

सम्बन्धी समस्याएँ आती है। वृत्तिक विकास जीवन पर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में बहुत सारे विकल्पों में से अपनी रूचि, योग्यता, मूल्य, प्रवृत्तियों एवं सामाजिक सन्दर्भो के आधार पर निर्णय लेना पड़ता है। इस निर्णय को लेने के लिए युवाओं को कुछ योग्याताओं के साथ–साथ विभिन्न प्रकार के व्यवसायों की भी जानकारी होनी चाहिए।

युवाओं को वृत्ति के साथ–साथ जीवन के विभिन्न क्षेत्रों, जैसे–पारिवारिक, सामाजिक, वैवाहिक आदि में अपनी योग्यता के सर्वोत्तम उपयोग हेतु बहुत सारे कौशलो की आवश्यकता होती है। इस अध्याय में हम इन्हीं कौशलों और वृत्ति चयन सम्बन्धी विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करेंगे।

15.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य हो जायेंगे कि–

i. जीवन कौशल के अर्थ एवं सम्प्रत्यय को स्पष्ट कर सकेंगे।

ii. जीवन कौशल के विभिन्न क्षेत्रों का वर्णन कर सकेंगे।

iii. 21वीं सदी में युवाओं के लिए आवश्यक जीवन कौशलों की सूची बना सकेंगे।

iv. युवाओं में जीवन कौशल विकास हेतु उपयुक्त पद्धति का उपयोग कर सकेंगे।

v. जीवन कौशल विकास की **4H** उपागम की विवेचना कर सकेंगे।

vi. वृत्ति चयन को स्पष्ट कर सकेंगे।

vii. वृत्ति चयन को प्रभावित करने वाले विभिन्न कारकों को पहचान सकेंगे।

viii. युवाओं की वृत्ति सम्बन्धी कठिनाईयों की विवेचना कर सकेंगे।

ix. युवाओं के वृत्ति नियोजन में शिक्षकों की भूमिका का वर्णन कर सकेंगे।

x. युवा–प्रौढ़ साझेदारी की आवश्यकता एवं प्रकृति को स्पष्ट कर सकेंगे।

15.3 जीवन कौशल (Life Skill)

प्रौढ़ावस्था के संक्रमणकाल के या युवा प्रौढ़ावस्था के व्यक्ति, विकास सम्बन्धी कुछ महत्वपूर्ण कार्य करते है, जैसे– वृत्ति चयन एवं उसका विकास, विवाह, सन्तानोत्पत्ति, परिवार में परिवर्तन, आत्म–पहचान स्थापित करना आदि। इन सभी विकासात्मक कार्यो को करने के लिए युवाओं को विभिन्न प्रकार के कौशलों की आवश्यकता होती है।

इन्हीं कौशलों का समुच्चय ही जीवन–कौशल का आधार होता है।

15.3.1 अवधारणा एवं परिभाषा (Concept and Definition)

डेलर्स कमीशन ने अपने प्रतिवेदन, "लर्निंग : द ट्रेजर विद इन" में अधिगम को ज्ञान के लिए, स्व के विकास के लिए, कार्यो को सम्पादित करने हेतु और समाज में एक साथ रहने के लिए आवश्यक माना है। इन सभी कार्यो को सम्पादन हेतु आवश्यक कौशलों को सीखना ही हमारे जीवन का मुख्य लक्ष्य होता है। कुछ वर्षो पूर्व तक हम लोगों ने जीवन के लिए आवश्यक कौशलों को केवल जीवित रहने और आय के अर्जन हेतु कौशलों तक ही सीमित कर रखा था परन्तु समय के साथ–साथ इस अवधारणा में परिवर्तन हुआ और आज हम लोग जीवन कौशल को जीवकोपार्जन हेतु कौशलों के रूप में न देखकर बल्कि व्यक्ति की क्षमताओं के सर्वोत्तम प्रयोग और दैनिक जीवन में प्रतिभाग के रूप में देखते है। यह एक मानो–सामाजिक कौशल है।

जीवन कौशल व्यक्ति की वह योग्यताएँ है जो व्यक्ति को उसके पर्यावरण में अच्छी तरह से कार्य करने में सहायक होती है। यह एक सतत् प्रक्रिया है अर्थात् व्यक्ति इसे क्रमागत चरणों में सीखता है। जीवन कौशल का विकास व्यक्ति की आयु और विकास अवस्था पर आधारित होता है। जीवन कौशल का अधिगम, "करके सीखना" से सम्बन्धित क्रियाओं के अभ्यास पर निर्भर करता है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक स्वयं करके सीखेगा वह उतना ही अधिक जीवन कौशल में निपुण हो जायेगा।

विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO) ने जीवन कौशल को इस प्रकार परिभाषित किया है, "जीवन कौशल अनुकूल और सकारात्मक व्यवहार के लिए वे मानसिक क्षमताएँ है, जो किसी व्यक्ति को उसके दैनिक जीवन में आने वाली आवश्यकताओं और चुनौतियों से प्रभावकारी ढंग से निपटने योग्य बनाती है।"

युनीसेफ (UNICEF) के अनुसार "जीवन कौशल मनो–सामाजिक और अन्तर्वैयक्तिक कौशलों का एक व्यापक समूह है जो व्यक्तियों के निर्णय लेने, प्रभावकारी सम्प्रेषण, स्व–प्रबन्धन और समायोजन के विकास करने में सहायता प्रदान कर स्वस्थ्य और उत्पादक जीवन जीने में मदद करता है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं की विवेचना के पश्चात् हम कह सकते है कि जीवन कौशल व्यवहार, अभिवृत्ति और ज्ञान से जुड़ी संज्ञानात्मक और असंज्ञानात्मक कौशलों और योग्यताओं का एक व्यापक समुच्चय है। जिसको युवा अपने सम्पूर्ण जीवनकाल में विकसित और धारण कर सकते है। जीवन कौशल युवाओं की कुशलता (well being) में वृद्धि करती है और उन्हें अपने समुदाय के सक्रिय और उत्पादक सदस्य बनने में सहायता प्रदान करती है। जीवन कौशल को मोटे तौर पर तीन भागों में बाँटा जा सकता है।

15.3.2 जीवन कौशल के क्षेत्र (Area of life Skill) -

जीवन कौशल के तीन प्रमुख क्षेत्र निम्न है–

(i) संज्ञानात्मक कौशल (Cognitive Skill) -

यह कौशल सूचनाओं के विश्लेषण और उसके प्रयोग से सम्बन्धित है जैसे–सोचना, तार्किक चिन्तन, समस्या समाधान, परिणामों की समझ, निर्णय लेना, सृजनात्मकता, अनुकूलता आदि।

(ii) सांवेगिक समायोज़ना कौशल (Emotional Adjustment Skill) -

यह कौशल व्यक्ति के स्वयं के विकास और प्रबन्धन से सम्बन्धित है जैसे–अभिप्रेरणा, प्रतिबद्धता, उत्तरदायित्व की भावना, प्रतिबल प्रबन्धन, स्व– प्रबन्धन, स्व–निगरानी, स्व–समायोजन आदि।

(iii) अन्तर्वैयक्तिक या सामाजिक कौशल (Interpersonal / Social Skill) -

यह कौशल, समाज में दूसरों के साथ सम्बन्ध बनानें, सम्प्रेषण करने और प्रभावकारी ढंग से अन्तःक्रिया करने से सम्बन्धित है, जैसे–सम्प्रेषण, सहयोग, टोली कार्य, समानुभूति, मुखरता आदि।

15.3.3 युवा और ज़ीवन कौशल (Youth and Life Skill) –

आज सम्पूर्ण संसार में युवाओं की औपचारिक शिक्षा में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही है। वे स्नातक और परास्नातमक उपाधियों को ग्रहण कर रहे है परन्तु इन

उपाधियों को ग्रहण करने के पश्चात् भी वे विभिन वृत्तियों के प्रति अपने को पर्याप्त तैयार नहीं पा रहे है। इस समस्या का प्रमुख कारण यह है कि आधुनिक आर्थिक युग में उन्हें जिन तकनीकी और मृदु कौशलों की आवश्यकता है, उसे हमारी पारम्परिक शिक्षा व्यवस्था उन्हें नहीं दे पा रही है। रोजगार दाताओं द्वारा यह महसूस किया जा रहा है कि युवाओं के पास जो कौशल या योग्यता है वह आज की आवश्यकताओं के अनुरूप नहीं है अर्थात् कौशल बेमेल ";पससस डपे.डंजबी) की समस्या है। आज के युवाओं के सामने यह एक कठिन चुनौती है और इस चुनौती पर विजय प्राप्त करने का एक महत्वपूर्ण उपागम है, युवाओं को जीवन कौशल में प्रशिक्षण प्रदान करना।

अमेरिका में "बच्चों एवं परिवार के प्रशासन" विभाग द्वारा 2008 में किये गये शोध कार्यो के द्वारा यह धारणा बनती है कि कक्षा आधारित जीवन कौशल प्रशिक्षण, प्रौढ़ावस्था के संक्रमणकाल के युवाओं की कुशलता ";मसस इमपदह) को अधिक प्रभावित करते है।

जीवन कौशलों में दक्ष या निपुण एक युवा की निम्नलिखित विशेषयाताएँ होती है– सफलता, उपलब्धि, समस्या समाधान की क्षमता, सृजनात्मकता, अभिप्रेरणा, लक्ष्य उन्मुखता, सकारात्मकता, स्व–जागरूकता, योग्यता, आत्मविश्वास, प्रतिबद्धता, संगतता आदि।

15.3.4 युवाओं के लिए आवश्यक जीवन कौशल क्षेत्र (म्मदजपंस स्पमि "ापससे वित 'सस ल्वनजी) –

युवाओं को अपने जीवन में अपनी योग्यता/क्षमता के सर्वोत्तम प्रयोग हेतु विभिन्न कौशलों की आवश्यकता होती है। ये कौशल जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित होते है। जिनमें से प्रमुख निम्न है–

21वीं सदी में युवाओं के प्रमुख जीवन कौशल

क्र0सं0	क्षेत्र	कौशल/दक्षता
1.	गृहकार्य	आवास विकल्प, किराया व्यवस्था, नियमित रख–रखाव, स्वच्छता, जल उपयोग, पाइप लाइन का रख–रखाव, गैस चुल्हे का प्रयोग आदि।

15.3.3 युवा और जीवन कौशल (Youth and Life Skill) -

आज सम्पूर्ण संसार में युवाओं की औपचारिक शिक्षा में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही है। वे स्नातक और परास्नातमक उपाधियों को ग्रहण कर रहे है परन्तु इन उपाधि ायों को ग्रहण करने के पश्चात् भी वे विभिन वृत्तियों के प्रति अपने को पर्याप्त तैयार नहीं पा रहे है। इस समस्या का प्रमुख कारण यह है कि आधुनिक आर्थिक युग में उन्हें जिन तकनीकी और मृदु कौशलों की आवश्यकता है, उसे हमारी पारम्परिक शिक्षा व्यवस्था उन्हें नहीं दे पा रही है। रोजगार दाताओं द्वारा यह महसूस किया जा रहा है कि युवाओं के पास जो कौशल या योग्यता है वह आज की आवश्यकताओं के अनुरूप नहीं है अर्थात् कौशल बेमेल (Skilll Miss-Match) की समस्या है। आज के युवाओं के सामने यह एक कठिन चुनौती है और इस चुनौती पर विजय प्राप्त करने का एक महत्वपूर्ण उपागम है, युवाओं को जीवन कौशल में प्रशिक्षण प्रदान करना।

अमेरिका में "बच्चों एवं परिवार के प्रशासन" विभाग द्वारा 2008 में किये गये शोध कार्यो के द्वारा यह धारणा बनती है कि कक्षा आधारित जीवन कौशल प्रशिक्षण, प्रौढ़ावस्था के संक्रमणकाल के युवाओं की कुशलता (Well being) को अधिक प्रभावित करते है।

जीवन कौशलों में दक्ष या निपुण एक युवा की निम्नलिखित विशेषयाताएँ होती है– सफलता, उपलब्धि, समस्या समाधान की क्षमता, सृजनात्मकता, अभिप्रेरणा, लक्ष्य उन्मुखता, सकारात्मकता, स्व–जागरूकता, योग्यता, आत्मविश्वास, प्रतिबद्धता, संगतता आदि।

15.3.4 युवाओं के लिए आवश्यक जीवन कौशल क्षेत्र (Essential Life Skills for all Youth) -

युवाओं को अपने जीवन में अपनी योग्यता/क्षमता के सर्वोत्तम प्रयोग हेतु विभिन्न कौशलों की आवश्यकता होती है। ये कौशल जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित होते है। जिनमें से प्रमुख निम्न है–

21वीं सदी में युवाओं के प्रमुख जीवन कौशल

क्र0सं0	क्षेत्र	कौशल/दक्षता
1.	गृहकार्य	आवास विकल्प, किराया व्यवस्था, नियमित रख–रखाव, स्वच्छता, जल उपयोग, पाइप लाइन का रख–रखाव, गैस चुल्हे का प्रयोग आदि।

2.	वित्तीय साक्षरता	नेट/सकल आय का ज्ञान, बजट बनाने की कला, दस्तावेजों का रख–रखाव, बचत योजना, अकाउण्ट खोलना और बैलेन्स चेक करना, ए0 टी0 एम0 का उपयोग, आन लाइन बैंकिंग, क्रेडिट कार्ड का आवेदन और उपयोग, कर की गणना एवं भुगतान आदि।
3.	नगरिकता	वोटिंग के लिए नामांकन, वोट करने के नियम का ज्ञान, पर्यावरण जागरूकता और कर्त्तव्य, सामुदायिक कार्यो में सहभागिता, नागरिकों के अधिकार को जानना और कर्तव्यों को निभाना आदि।
4.	व्यक्तिगत वेश–भूषा	कपड़ों में बटन लगाना, कपड़ों पर स्त्री करना, कपड़ों की धुलाई करना, कपड़ों को तहियाना, कपड़ों के सुरक्षा लेबल के अनुसार देखभाल करना, लाण्ड्री का ज्ञान, दाग धब्बे छुड़ाने का ज्ञान, दाढ़ी बनाना, उपर्युक्त कपड़ों का चयन, सौन्दर्य प्रसाधनों का प्रयोग आदि।
5.	स्वास्थ्य एवं कल्याण	बुनियादी प्राथमिक चिकित्सा का ज्ञान, संन्तुलित आहार, नियमित व्यायाम, स्वस्थ्य जीवन शैली का ज्ञान, स्वच्छता, व्यक्तिगत सुरक्षा आदि।
6.	रोजगार	सम्प्रेषण कला (सुनना, बोलना, लिखना, ग्राहक सेवायें) अन्तर्वैयक्तिक कौशल (नेतृत्व, सामाजिक कौशल, टीम वर्क), व्यक्तिगत गुण (कार्य, मूल्य, समस्या समाधान योग्यता, कल्पना, दूरदर्शिता, विश्लेषण क्षमता, संसाधनों का प्रबन्धन, तकनीकी का प्रयोग, समय प्रबन्धन और आजीवन सीखने का मूल्य, आवेदन पत्र भरने का गुण) आदि।
7.	परिवहन	सार्वजनिक परिवहन का प्रयोग, रास्ते और समय–सारणी की जानकारी, परिवहन विकल्प का ज्ञान, आनलाइन टिकट आरक्षण का ज्ञान, वाहन–बीमा का ज्ञान, ड्राइविंग लाइसेन्स, वाहन पंजीकरण की जानकारी, ट्रैफिक नियमों की जानकारी, ड्राइविंग दक्षता, मानचित्र के अध्ययन की जानकारी आदि।

8.	समाज और मनोरंजन	शौक (Hobbies) के अवसरों का अन्वेषण, शौक का विकास, स्वस्थ्य पारिवारिक रिश्ते और दोस्ती का विकास, अच्छे पड़ोसी का धर्म निभाना, सामाजिक रिश्तों को निभाना आदि।

15.3.5 युवाओं में जीवन कौशल विकास (Development of Life Skills in Youth)

पीछे हम लोगों ने युवाओं के लिए जीवन कौशल का प्रशिक्षण क्यों आवश्यक है? इस पर चर्चा की थी। युवाओं में जीवन कौशल का विकास कैसे किया जाये? उन्हें जीवन कौशल में कैसे प्रशिक्षित किया जाये? इस मुद्दे पर हम लोग यहाँ चर्चा करेंगे।

युवाओं में जीवन कौशल विकास के दो प्रमुख उपागम है– 4H उपागम और जीवन कौशल शिक्षा।

15.3.5.1 फोर एच उपागम (4H Approach)

जीवन कौशल के परिणामों को जीवन की गुणवत्ता के मापक के रूप में देखा जाता है। युवा विकास कार्यक्रम का केन्द्र, युवा और प्रौढ़ों को ऐसे जीवन कौशल में दक्ष बनाना है जिससे वे योग्य, दक्ष और अच्छे नागरिक बन जाये। लाव राज्य विश्वविद्यालय प्रतिपादित जीवन कौशल प्रतिमान जिसे लक्ष्यित जीवन कौशल (Targetting Life Skill) मॉडल भी कहते हैं (Hendricks, Pat, 1998), युवाओं में जीवन कौशल के विकास हेतु सर्वाधिक प्रयोग किया जाता है। इस मॉडल में 35 जीवन कौशलों को सम्मिलित किया गया है। जीवन कौशल के विभिन्न मॉडलों के अध्ययन और उनके पुनार्वलोकन के पश्चात् इन 35 जीवन कौशलों की खोज की गई है, जो किसी व्यक्ति के जीवन में सफलता प्राप्ति के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

यह मॉडल योग्यता के 5 विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित है। ये निम्न है।

	योग्यता	4H केन्द्र
i.	ज्ञान, तर्क और सृजनात्मकता सिर	(Head)
ii.	व्यक्तिग / सामाजिक	हृदय (Heart)
iii.	व्यावसायिक / नागरिकता	हाथ (Hand)
iv.	शारीरिक	
v.	स्वास्थ्य	स्वास्थ्य(Health)

अन्तिम दो योग्यताओ शारीरिक और स्वास्थ्य को मिलाकर 4H उपागम के स्वास्थ्य वर्ग में रखा गया है। इस प्रकार 4H उपागम में चार वर्ग Head, Heart, Hand और Health हैं। इन चार वर्गो को 8 उपवर्गो में विभाजित किया गया है और प्रत्येक उपवर्ग में कुछ कौशलों को रखा गया है। इन्हीं कौशलों में युवाओं को दक्ष होना है या किया जाना है। 4H उपागम से सम्बन्धित चित्र नीचे दिया गया है।

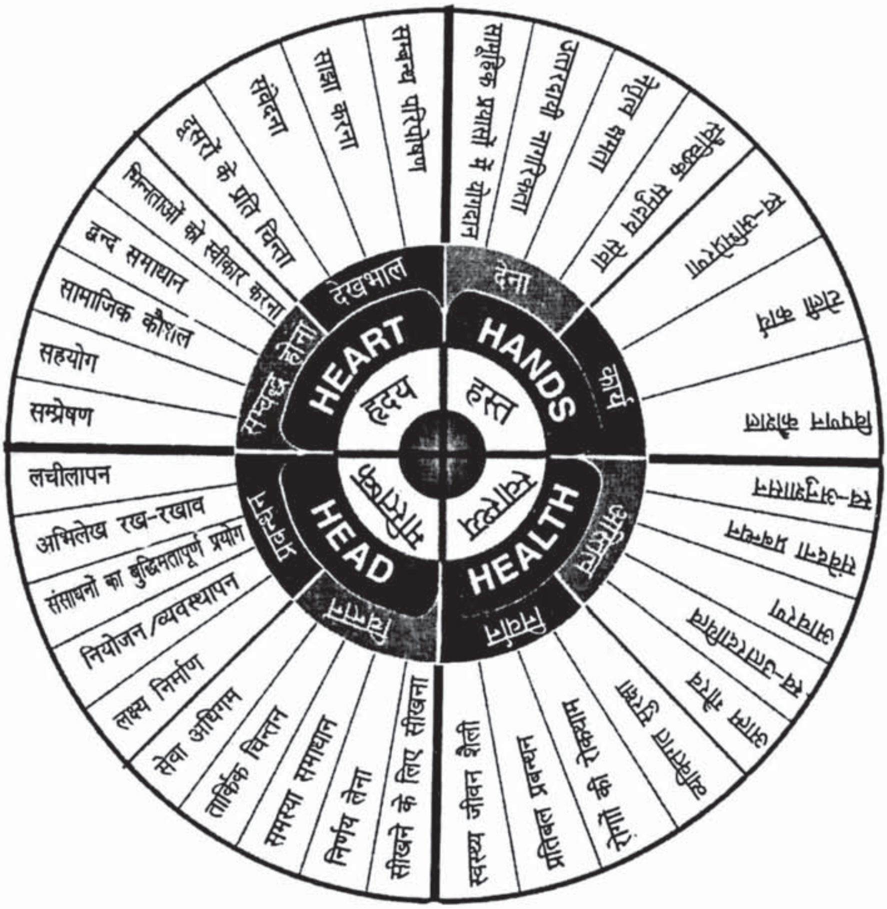

लक्ष्यित जीवन कौशल (4H) मॉडल (हेण्ड्रिक्स, पैट, 1998)

यह मॉडल जीवन कौशल को सीखने में सीखने के 5–चरण वाले अनुभव जनित अधिगम मॉडल (Experiential Learning Model) पर आश्रित है। जो निम्न है –

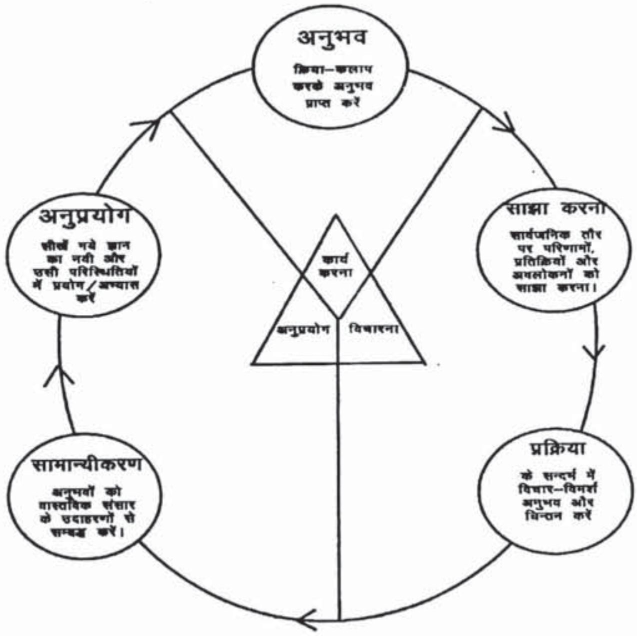

अनुभवजनित अधिगम मॉडल (काल्ब, 1984)

इस मॉडल के प्रयोग द्वारा युवा किसी भी क्रिया का अनुभव स्वयं करके प्राप्त करता है। वे, अनुभव से सम्बन्धित सोच और विचार द्वारा सीखते है। 4 उपागम में निम्नलिखित विधियाँ युवाओं में जीवन कौशल को विकसित करने हेतु प्रयोग में लाई जाती है।

- 4H प्रोजेक्ट
- एक्टिविटी मैनुवल
- प्रदर्शन और सार्वजनिक भाषण
- घटनाओं का मूल्यांकन
- परियोजना कार्यशाला
- शैक्षिक भ्रमण
- बायोडाटा निर्माण
- शिविर परामर्शदाता

- 4H संघ बैठक क्रियाएँ
- स्किल–ए–थॉन

15.3.5.2 जीवन कौशल शिक्षा (Life Skill Education) -

जीवन कौशल शिक्षा आवश्यकता और परिणामों पर आधारित सहभागिता अधिगम का एक संरचित कार्यक्रम है। जिसका उद्देश्य व्यक्तियों के सकारात्मक और अनुकूलित व्यवहार में वृद्धि है। इस हेतु यह ऐसे मनो–सामाजिक कौशलों के विकास और अभ्यास में सहायता प्रदान करते है जो खतरों को कम करके सुरक्षा को बढ़ावा देते है।

जीवन कौशल शिक्षा कार्यक्रम, सिद्धान्त और परिणाम आधारित, अधिगम केन्द्रित, योग्य सुगमकर्ता द्वारा सहायता के साथ परिणामों में लगातार सुधार से सम्बन्धित है।

जब जीवन कौशल शिक्षा किसी विशिष्ट क्षेत्र से जुड़े विषिष्ट लक्ष्यों को प्राप्त करने हेतु प्रयोग में लाई जाती है तो इसे जीवन कौशल आधारित शिक्षा (Life Skill Based Education) कहते है। जैसे–जीवन कौशल पर आधारित शान्ति शिक्षा, जीवन कौशल पर आधारित HIV/AIDS शिक्षा आदि। इस पद्धति का प्रयोग हम लोग विशिष्ट क्षेत्र में ज्ञान और व्यवहार दोनों में निपुण होने हेतु करते है।

बोध प्रश्न

टिप्पणी – क : नीचे दिये गये रिक्त स्थान में अपने उत्तर लिखिये–

ख : इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों में से अपने उत्तर का मिलान कीजिये–

1. जीवन के प्रमुख क्षेत्र बताइये ?

....

....

2. युवाओं में नवीन कौशल विकसित करने हेतु प्रमुख उपागम कौन से हैं?

....

....

3. 4 H उपागम के चार वर्ग बताइए।

....

....

15.4 वृत्ति चयन (Career Choice)

व्यक्ति के जीवन में उसका वृत्तिक विकास एक महत्वपूर्ण और जीवन पर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया हैं। जीविका प्राप्त करना, व्यवसाय का चयन और वृत्ति के विकास, युवा प्रौढ़ावस्था के महत्वपूर्ण प्रश्न है। सभ्यता के आरम्भ से ही वृत्ति के चयन के लिए तैयारी और उसमें प्रवेश चुनौती के रूप में रहा है। वृत्तिक विकास निर्णयन की एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसमें वृत्ति के विभिन्न विकल्पों में से एक सर्वाधिक उपयुक्त विकल्प का चुनाव करना पड़ता है। सर्वाधिक उपयुक्त विकल्प का वृत्ति के रूप में चयन, वृत्ति चयन कहलाता है।

आप स्वयं भी वृत्ति के चयन में दुविधा महसूस करते रहें होंगे या कर रहे होंगे। वास्तव में यह एक बहुत कठिन और चुनौतीपूर्ण कार्य हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि आधुनिक युग में वृत्ति के बहुत सारे विकल्प हमारे सामने उपलब्ध है और इसके साथ ही साथ पुनः रोजगार के अवसरों में भी भिन्नता व्यापक स्तर पर विद्यमान है। प्रारम्भिक वृत्ति का चयन महत्वपूर्ण होता है क्योंकि व्यक्ति हर समय एक वृत्ति को चुनता है तो दूसरे को बन्द करता है अर्थात् एक वृत्ति का चयन करते ही हम दूसरे विकल्पों को छोड देते है।

15.4.1 वृत्ति चयन को प्रभावित करने वाले कारक (Factors Affecting Career Choice) -

लोग वृत्ति का चयन कैसे करते है? किसी व्यक्ति को कौन सा व्यवसाय पसन्द आयेगा, यह भी एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। किसी भी व्यक्ति के वृत्ति चयन को बहुत सारे कारक प्रभावित करते है। इन कारकों में व्यक्ति का पर्यावरण, उसका व्यक्तित्व और अवसरों की उपलब्धता महत्वपूर्ण है।

वृत्ति चयन को प्रभावित करने वाले कारकों के बारे में कुछ प्रमुख निष्कर्ष निम्नलिखित है–

i. वृत्ति चयन का प्रमुख आधार व्यक्ति का पर्यावरण है। उदाहरण के तौर पर एक द्वीप पर रहने वाला व्यक्ति सम्भवतः पानी से जुड़े व्यवसाय का ही चयन करेगा।

ii. किसी भी व्यक्ति का व्यक्तित्व उसके उचित वृत्ति चयन में प्रमुख भूमिका अदा करता है (Splaver, 1977) । जैसे– बहिर्मुखी व्यक्तित्व वाला व्यक्ति ही बिक्री और विपणन व्यवसाय में सफल रहेगा।

iii. अवसरों की उपलब्धता भी वृत्ति चयन को प्रभावित करती है। आने वाले समय में किस प्रकार के व्यवसाय प्रचलन में होगे, इसकी समझ उचित वृत्ति चयन में सहायक होती है।

iv. किसी भी व्यक्ति की रूचि, अभिवृत्ति, शौक, अभिक्षमता, बुद्धि, योग्यता और कार्यानुभव उसके वृत्ति चयन को प्रभावित करते हैं (Lave and Abrahams, 1971)।

v. वृत्ति चयन को व्यक्ति की आर्थिक स्थिति भी प्रभावित करती है। व्यक्ति अगर उच्च आर्थिक स्थिति वाले परिवेश से सम्बन्ध रखता है तो वह सफेदपोश व्यवसाय का वृत्ति के रूप में चयन करेगा।

vi. वृत्ति चयन को व्यक्ति का परिवार, अभिभावक, शिक्षक, विद्यालय, समुदाय आदि भी प्रभावित करते है।

vii. वृत्ति चयन को सांस्कृतिक कारक भी प्रभावित करते है। इसमें व्यक्ति की नैतिकता, मूल्य, विश्वास आदि आते है।

viii. किसी के लिए उसका व्यवसाय प्रतिष्ठा का कार्य करता है तो किसी के लिए वह जीवन यापन का साधन होता है। (Friedman and Havighurst, 1954)

ix. युवा प्रौढ़ावस्था के व्यकित वृत्ति में विकास को अधिक महत्व देते है, जिसके कारण वे जल्दी–जल्दी वृत्ति में परिवर्तन करते है।

x. मध्य प्रौढ़ावस्था के व्यक्तियों की व्यावसायिक रुचि में स्थिरता आ जाती है।

xi. पुरूषों की अपेक्षा महिलाएँ व्यावसायिक परिवर्तन अधिक करती है। इसके प्रमुख कारणों में पारिवारिक एवं पति का व्यावसायिक स्थानान्तरण है (Wagman, 1966 Shinan, 1975)।

xii. पुराने कर्मचारी नवीन कौशल न सीखना पड़े इसलिए व्यवसाय परिवर्तन नहीं करते है। (Taylor, 1964)।

क्रमबोट्ज (Krumboltz, 1989) के अनुसार व्यवसाय चयन का निर्णय निम्न तत्वों द्वारा प्रभावित होता है–

- **पर्यावरणीय परिस्थितियाँ एवं महत्वपूर्ण घटनाएँ**– व्यावसाय की प्रकृति, नौकरी की संख्या और उपलब्धता, प्रशिक्षण के अवसर, प्रशिक्षणार्थियों तथा कार्यकर्ताओं के चयन की विधि, प्रौद्योगिकी विकास, सामाजिक संस्थाओं में परिवर्तन आदि।

- **आनुवंशिक सम्पन्नता** – अभिकुल, लिंग, शारीरिक बनावट, व्यक्ति के गुण, बुद्धि, संख्यात्मक योग्यता, कलात्मक योग्यता आदि।

- **सीखने के अनुभव** – विभिन्न प्रकार के उद्‌दीपकों की उपलब्धता और उनसे उत्पन्न व्यवहार की अनुक्रिया तथा परिणाम।

- **कार्य आधारित कौशल** – ज्ञान, रूचि, अभिक्षमता, कौशल, कार्य सम्पन्न करने का स्तर, जीवन मूल्य, काम करने की आदत, मानसिक स्थिरता, संवेगात्मक अनुक्रिया, ज्ञानार्जन स्तर आदि।

15.4.2 युवाओं की उपयुक्त वृत्ति चयन सम्बन्धित कठिनाईयाँ (Problems Related to Appropriate Career Choices of Youth)–

युवाओं के समक्ष यह एक प्रश्न है कि वे भविष्य में किस वृत्ति का चयन करेंगे? इसका प्रमुख कारण यह है कि आधुनिक युग में व्यवसाय के बहुत सारे विकल्प मौजूद या उपलब्ध है और इन विकल्पों में भी उत्तरोत्तर परिवर्तन हो रहे है। व्यवसाय में परिवर्तन नयी योग्यता या कौशल की मांग करते है। तीव्र गति से होता तकनीकी परिवर्तन आज के समय का सत्य है। इन सब कारणों के फलस्वरूप वृत्ति सम्बन्धी निर्णय युवाओं के लिए कठिन चुनौती बन जाता है। उनका व्यावसायिक समायोजन निम्न कारणों से कठिन हो जाता है–

- उच्च्य स्तर के व्यवसाय की इच्छा।
- अल्प समय और कम परिश्रम में अधिक धन और प्रतिष्ठा की इच्छा।
- अपनी योग्यता की सही पहचान न कर पाना अर्थात् अवास्तविक अवधारणा।
- व्यक्तित्व और रूचि के अनुरूप व्यवसासय का न होना।
- वृत्ति परामर्श की कमी का होना।

- अनुभव की कमी।
- सही मार्ग दर्शन की कमी।
- अभिभावक की अपेक्षा के अनुरूप व्यवसाय का चयन।
- अपेक्षित कौशल या योग्यता की कमी।
- स्वयं को कार्य–योग्य बनाने में धन और समय की समस्या।

15.4.3 उचित वृत्ति चयन कैसे करें (How to Make Right Career Choice)–

आज हमारे समक्ष हजारों वृत्ति विकल्प है। हम लोग उनमें से उचित वृत्ति चयन कैसे करें, यह चिन्तन और मनन का प्रश्न है। इस हेतु यहाँ एक योजना दी जा रही है। इसके प्रमुख चरण निम्न है–

- **सर्वप्रथम अपना मूल्यांकन करें–** इस हेतु अपनी प्राथमिकताएँ, मूल्य, रूचि, कौशल, योग्यता, व्यक्तित्व आदि को जाने। इसके लिए वृत्ति परीक्षण की मदद भी ले सकते है।
- अपने सकारात्मक पहलुओं को जानकर उससे सम्बन्धित विभिन्न व्यवसायों को खोजे और उसकी एक सूची बनायें। इस हेतु व्यावसायिक उपबोधन, रोजगार समाचार पत्र, वृत्ति से जुड़ी विभिन्न पत्र–पत्रिकायें, समाचार पत्रों के विशिष्ट अंक (जैसे, जोश– दैनिक जागरण, कॅरियर प्लस– हिन्दुस्तान, एसेन्ट–टाइम्स ऑफ इण्डिया आदि), इण्टरनेट, सेवा योजन कार्यालय, पुस्तकालयों आदि की सहायता लें।
- सूची में सम्मिलित विभिन्न व्यवसायों के सम्बन्ध में सूचनायें एकत्रित करें जैसे, व्यवसाय विवरण, जॉब आउट लुक, आवश्यक शैक्षिक योग्यता और कौशल, भविष्य में आगे बढ़ने के अवसर आदि।
- इन सूचनाओं के आधार पर सूची में ऐसे विकल्पों को हटा दें, जिनमें अब आप की रुचि समाप्त हो गई हो।
- इस सूची को अपने पुनः अध्ययन और शोध परिणामों के आधार पर पुनः छाँटे और संकुचित करें।

- अब आपकी सूची में कुछ ही विकल्प (3 या 4) रह जायेंगे। अब आप इन विकल्पों पर और गहन सूचनाएँ एकत्रित करें। आप के इस कार्य के लिए इन व्यवसाय विकल्पो से जुड़े व्यक्ति गहन सूचना के स्रोत होंगे। उनकी पहचान करें और उनके साथ सूचना साक्षात्कार स्थापित करें। इस हेतु आप वास्तविक वृत्ति कहानियों की भी सहायता ले सकते है।

- सूचना साक्षात्कार से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर अब आप अपना विकल्प चुनिये या लक्ष्य बनाइये जिसे आप भविष्य में वृत्ति के रूप में चयन करेंगे।

- लक्ष्य मिलने के पश्चात् एक क्रियात्मक वृत्ति योजना बनाइयें, जिसकी सहायता से आप उस क्षेत्र में एक जॉब पा सके। यह वृत्ति योजना आपको उस क्षेत्र के दीर्घकालिक और लघुकालिक उद्देश्यों को प्राप्त करने में सहायता करेगी।

- यदि आप को इस हेतु किसी प्रशिक्षण की आवश्यकता है तो आप किसी संस्था से उपाधि प्राप्त करें, इन्टर्नशिप करें या कोई कोर्स करे। जिसके माध्यम से आप में अपेक्षित दक्षता आ सकें।

15.4.4 वृत्ति नियोजन में शिक्षक की भूमिका (Role of Teacher in Career Planning) -

वृत्ति नियोजन में हम अपनी रूचि और योग्यता के अनुरूप व्यवसाय का चयन और उसको पाने के मार्ग की योजना बनाते है। वृत्ति चयन के लिए सहायक पाठ्यक्रम का चुनाव एक कठिन कार्य है। किसी वृत्ति के चयन के पूर्व, व्यवसाय और पर्यावरणीय परिस्थितियों के साथ–साथ विभिन्न पहलुओं पर गहन चिन्तन और मनन अत्यन्त आवश्यक है। सहायक पाठ्यक्रम का चुनाव और व्यवसाय विकल्प के बारे में सही ज्ञान आदि कुछ ऐसे पहलू हैं जिसकी किशोरावस्था या युवा प्रौढ़ावस्था के युवाओं को कम समझ होती है। ऐसे में अध्यापक और अभिभावक की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण हो जाती है। इसके लिए यह आवश्यक नहीं कि अध्यापक इस क्षेत्र में कोई उपाधि या प्रशिक्षण रखता हो। आवश्यकता इस बात की है कि उन्हें इस क्षेत्र में रूचि लेनी पड़ेगी। इस हेतु शिक्षकों की भूमिका एवं उत्तरदायित्व निम्नलिखित है–

- छात्रों के वृत्ति नियोजन में सहयोग करें।

- छात्रों को उनकी योग्यता, रूचि, आवश्यकता, बुद्धिलब्धि, जीवन मूल्यों और उनके सकारात्मक एवं नकारात्मक पहलुओं से उन्हें अवगत करायें।
- छात्रों की सृजनात्मक क्षमता का विकास करें।
- व्यवसाय के सम्बन्ध में भावी सम्भावनाओं, विभिन्न वृत्ति विकल्प, कार्य संसार के क्षेत्र का गठन, व्यसवसाय के प्रति कर्तव्यों से विद्यार्थियों को परिचित कराना।
- रोजगार प्राप्त करने के कौशल का विकास करना।
- वृत्ति गवेषण हेतु प्रोत्साहित करना (समूह में व्यवसाय/वृत्ति सम्बन्धी विभिन्न पहलुओं पर चर्चा करना)।
- **वृत्ति सम्बन्धी सूचनाएँ उपलब्ध कराना** – इसकी जानकारी उन्हें प्राथमिक स्तर से देना प्रारम्भ कर देना चाहिए। विभिन्न विषयों से सम्बन्धित विभिन्न व्यवसायों की प्रारम्भिक जानकारी छात्रों को दें। व्यवसायों से जुड़ी अपेक्षित योग्यताओं से भी उन्हें परिचित कराना चाहिए।
- उच्च प्राथमिक स्तर पर अध्यापक विद्यार्थियों को इस बात से अवगत कराये कि भविष्य में वे किस प्रकार के पाठ्यक्रमों या प्रशिक्षणों का चुनाव करें।
- पाठ्यक्रम अध्ययन या प्रशिक्षण हेतु आर्थिक सहायता उन्हें कहाँ– कहाँ से मिल सकती है, उन स्रोतों के विषय में भी जानकारी उपलब्ध करायें।
- प्रचलित व्यवसायों या भावी व्यवसायों से भी विद्यार्थियों को अवगत करायें।
- **वृत्ति सम्बन्धी साहित्य उपलब्ध कराना** – जैसे, रोजगार समाचार पत्र, प्रवेश सूचना, सूचना विवरणिका, समाचार पत्रों में प्रकाशित किसी एक व्यवसाय के विषय में सम्पूर्ण जानकारी आदि।
- पुस्तकालय में एक सूचना पट्ट ऐसी सूचनाओं हेतु उपलब्ध करायें।
- विभिन्न व्यवसायों के सफल व्यक्तियों को अपनी संस्था में आमंत्रित करें और छात्रों से उन्हें रूबरू करायें।
- विभिन्न व्यवसायों में सफल आदर्श व्यक्तियों के जीवन से उन्हें अवगत करायें।

- संस्था के पूर्व सफल विद्यार्थियों की उपलब्धिओं को छात्रों के सामने प्रस्तुत करें।
- इसके अतिरिक्त छात्रों को व्यक्तिगत सहयोग भी दे सकते है।

वृत्ति विकास में अध्यापक के अतिरिक्त अभिभावक की भी भूमिका महत्वपूर्ण होती है। अभिभावक अपने पाल्य को घर में ऐसा वातावरण और सुविधाएँ प्रदान करें जो उनके वृत्तिक विकास में सहायक हो। अभिभावक अपनी इच्छाओं को वृत्ति चयन के समय पाल्यों पर ना थोपें। लैगिंक पूर्वाग्रहें से बचे।

15.4.5 युवा–प्रौढ़ साझेदारी (Youth-Adult Partnership) -

जब कोई युवा किसी व्यवसाय का चयन कर उससे सम्बन्धित कोई नौकरी करता है तो वहां पर उसका सामना प्रौढो (अधिकारी और अन्य वरिष्ठ सहयोगीयों) से होता है। युवा–प्रौढ़ साझेदारी, युवा और प्रौढ़ को एक साथ कार्य करने का अवसर प्रदान करती है। ये दोनों समूहों के लिए सीखने का एक अच्छा अवसर है। प्रौढ़ों को चाहिए कि वो युवाओं के साथ मिलकर साझेदारी में कार्य करें न कि युवाओं को अनुभवहीन समझकर उनके लिए कार्य करें। किसी भी व्यवसाय/नौकरी/संस्था से युवा के जुड़ने के निम्न लाभ है–

- नये रोल मॉडल निर्मित होते है।
- युवाओं की नकारात्मक क्रियाओं में कमी आ जाती है।
- प्रौढ़ों में भी नयी ऊर्जा का संचार हो जाता है।
- प्रौढ़ यह सीख जाते हे कि उन्हें हर चीज के प्रति उत्तरदायी होने की आवश्यकता नहीं है।
- युवा, प्रौढ़ों को और अपनी भूमिका को अच्छी तरह समझते है।

बोध प्रश्न

टिप्पणी – क : नीचे दिये गये रिक्त स्थान में अपने उत्तर लिखिये–

ख : इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों में से अपने उत्तर का मिलान कीजिये–

4. वृत्तिक विकास से आप क्या समझते हैं ?

....

....

5. क्रमबोट्ज के अनुसार व्यवसाय चयन के निर्णय को प्रभावित करने वाले तत्व कौन से हैं?

....

....

6. वृत्ति चयन में अभिभावकों को क्या सावधानी रखनी चाहिए।

....

....

15.5 अभ्यास प्रश्न

i. जीवन कौशल की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए उसके विभिन्न क्षेत्रों की विवेचना कीजिए।

ii. 21वीं सदी में युवाओं के लिए आवश्यक विभिन्न कौशलों की एक सूची बनाइये।

iii. युवाओं में जीवन कौशल विकास के प्रमुख उपागम कौन–कौन से है? 4H उपागम की विस्तृत विवेचना कीजिए।

iv. जीवन कौशल शिक्षा से आप क्या समझते है? जीवन कौशल आधारित शिक्षा और जीवन कौशल शिक्षा में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

v. वृत्ति चयन क्या है? वृत्ति चयन को प्रभावित करने वाले विभिन्न कारक कौन–कौन से है? सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।

vi. युवाओं की उपयुक्त वृत्ति चयन सम्बन्धी कठिनाईयों की विवेचना कीजिए।

vii. आप उचित वृत्ति चयन कैसे करेंगे?

viii. वृत्ति नियोजन में शिक्षक की भूमिका की विवेचना कीजिए।

15.6 सारांश

आरम्भिक प्रौढ़ावस्था के विकासात्मक कार्य है– वृत्ति का चयन, विवाह, सन्तानोत्पत्ति, अभिभावकत्व और परिवार का भरण–पोषण। इन विकासात्मक कार्यो को करने के लिए व्यक्ति को विभिन्न प्रकार के कौशलों की आवश्यकता होती है। वह क्षमतायें या योग्यता जो व्यक्ति को उसके पर्यावरण में अच्छी तरह से कार्य करने में

सहायता देती है, जीवन कौशल कहलाती है। यह एक सतत प्रक्रिया है और क्रमागत चरणों में सीखी जाती है। जीवन कौशल के तीन प्रमुख क्षेत्र है– संज्ञानात्मक कौशल, सांवेगिक समायोजन कौशल और अन्तर्वैयक्तिक/सामाजिक कौशल। इन कौशलों में युवाओं को प्रशिक्षित करना आवश्यक है। इस कार्य हेतु हम लोग अधिकांशतः **4H** उपागम या जीवन कौशल शिक्षा उपागम का प्रयोग करते है। ये उपागम अनुभव आधारित अधिगम को अपना आधार बनाते है।

भारत में भी वृत्ति प्रतिरूप का स्वरूप बदल रहा है। उपभोक्तावाद संस्कृति के कारण रोज नए–नए वृत्ति उभर कर सामने आ रहे है। ऐसे में युवाओं के सामने वृत्ति चयन एक कठिन चुनौती बन जाता है। वृत्ति चयन को बहुत सारे कारक प्रभावित करते है जैसे, पर्यावरणीय कारक, सांस्कृतिक कारक, व्यक्तित्व, अवसरों की उपलब्धता आदि। वृत्ति चयन करने और उसके पश्चात् नौकरी करने में युवाओं को अनेक विषम परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है जिससे उनका व्यवसायिक समायोजन प्रभावित होता है। वृत्तिक विकास छात्रों के प्रारम्भिक जीवन से ही प्रारम्भ हो जाता है, यही कारण है कि इसके विकास में अध्यापक और अभिभावक की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है। अध्यापकों को अपने इस उत्तरदायित्व को समझना चाहिए और इसे निभाने का प्रयास भी करना चाहिए।

15.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. जीवन कौशल के तीन प्रमुख क्षेत्र हैं – (i) संज्ञानात्मक कौशल (ii) सांवेगिक समायोजन कौशल (iii) सामाजिक कौशल

2. युवाओं में जीवन कौशल विकसित करने के प्रमुख उपागम हैं – (i) 4 H उपागम (ii) जीवन कौशल शिक्षा

3. 4H उपागम में Head, Heart, Hand और Health चार वर्ग हैं ।

4. वृत्तिक विकास निर्णयन की एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसमें वृत्ति के विभिन्न विकल्पों में से एक सर्वाधिक उपयुक्त विकल्प का चयन करना है।

5. क्मवोट्ज ने व्यवसाय चयन के निर्णय को प्रभावित करने वाले निम्नलिखित तत्वों को बताया है– (i) पर्यावरणीय परिस्थितियॉं एव महत्वपूर्ण घटनाएं (ii) आनुवंशिक सम्पन्नता (iii) सीखने के अनुभव (iv) कार्य आधारित कौशल

6. वृत्ति चयन में अभिभावकों को अपनी इच्छाएं पाल्यों पर नहीं थोपनी चाहिए तथा लैंगिक पक्षपात से बचना चाहिए।

15.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. Berk, E.L. (2007). Development Through Life Span. New Delhi : Pearson Education Inc. and Dorling Kindersley India Pvt. Ltd.
2. Baron, Robert A. and Byrne D. (1998). Social Psychology. New Delhi : Prentice Hall of India Pvt. Ltd.
3. Baumgardner, S.R. and Crothers, M.K. (2009). Positive Psychology. New Delhi : Pearson Education Inc. and Dorling Kindersley India Pvt. Ltd.
4. Brown, D. and Brooks L. (1990). Career Choices and Development. San Francisco : Jossey Bass.
5. Joneyja, G.K. (1997). Occupational Information in Guidance. New Delhi :NCERT.
6. Livinson, D.J. & Others. (1978). The Season of a Man's Life. New York : Knop g.
7. Papalia, Diane E. & Others. (2004). Human Development. New Delhi : Tata McGraw Hill Publishing Co. Ltd.
8. Ryff, Carol D. (1989). Happiness is Everything or is it. Journal of Personality and Social Psychology. Vol.57, No.6, 1069-1081.
9. UPRTOU. (2002). Guidance & Counselling, B.Ed. 23. Allahabad : UPRTOU.
10. Woolfolk, Anita (2005). Educatioanl Psychology. New Delhi : Perason Education (Singapur) Pvt. Ltd.
11. Erikson, E. (1968). Identity : Youth and Crisis. New York : Norton.
12. मिश्र, गिरीश्वर और अन्य (2003). मनोविज्ञान का परिचय । और ।।, नई दिल्ली: राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्।
13. सिंह, आर0एन0 (2014–15). आधुनिक विकासात्मक मनोविज्ञान. आगरा : अग्रवाल पब्लिकेशन्स।

उपयोगी वेबसाइट्स -

http://www.four-hpardue.edu/volunteer/index.html.

http://www.extension.iastate.edu/4h/lifeskills/previewwheel.html.

http://www.4-h.uiuc.edu/opps/articles003.html.

http://www.wikipedia.org/wiki/emergingadulthoodandearlyadulthood.

http://www.jefferyarnett.com/articles.html